आद्य निवेदन

पाठकों को यह तो ज्ञात ही होगा कि सोनगढ (काठियावाड) में परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का निवास है। आप अध्यात्मज्ञान के महान् रसिक विद्वान है और मुमुक्षु भाई बहिनों को जैनधर्म का सच्चा उपदेश देते रहते है। यहां पर बाहर (अनेक नगरों) के अनेक भाई बहिन आकर स्थाई रूपसे रहते हैं और गुरुदेव से अध्यात्मज्ञानका उपदेशामृत पान करते रहते है। आत्मधर्म या अध्यात्मज्ञान के प्रचारार्थ गत २ वर्ष से यहां से 'आत्मधर्म' नामक मासिक पत्र गुजराती भाषामें प्रगट होता है। इस पत्र में परम पूज्य कानजीस्वामी के सदुपदेश, आध्यात्सिक प्रवचन और तत्त्वज्ञान पूर्ण शास्त्रोक्त लेख प्रगट होते हैं। यह पत्र अल्प समय में ही इतना लोकप्रिय बन गया है कि इसके करीब १५०० ग्राहक हो गये हैं।

इस पत्र के द्वारा गुजरात और काठियावाड में सनातन जैनधर्मका बहुत प्रचार हुआ है और सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के निमित्त से परमागम श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री धवला-जयधवला, श्री पद्मनन्दि, श्री पंचाध्यायी, श्री पाहुड, श्री तत्त्वार्थसूत्र, श्री द्रव्य संग्रह, श्री छह ढाला, तथा श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि शास्त्रों का बहुत प्रचार हुआ है, और काफी जन समाज अध्यात्म ज्ञान की प्रेमी बन गई हैं।

किन्तु अभी तक इस प्रचार का माध्यम प्रायः गुजराती भाषा रही हैं, इस लिये इसका लाभ गुजराती भाई बहिन ही ले पाते हैं। इसलिये कई मुमुक्षु भाई बहिनों का यह विचार हुआ कि यदि 'आत्मधर्म' हिन्दी भाषा में भी प्रगट होने लगे तो भारतवर्ष की तमाम हिन्दी जानकार अध्यात्म रसिक जनता इस तत्त्वज्ञान का रसास्वाद कर सकेगी। इसी व्यापक भावना को लेकर 'आत्मधर्म' की हिन्दी आवृत्ति प्रगट करने का निश्चय हुआ है।

इस पत्र में अध्यात्म ज्ञान संबंधी लेख प्रगट होंगे, जिससे जिज्ञासुओं को तत्त्वज्ञान की पुष्टी हो। इस में परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद प्रगट होगा, जिससे वाचक उनकी वाणी और तत्त्वज्ञान का भी लाभ ले सके। इस में और भी जो लेख छपेंगे वे सभी वीतराग विज्ञानता के लिये हुये होंगे।

इस पत्र की सारी व्यवस्था और सम्पूर्ण आर्थिक उत्तरदायित्व श्री. भाई जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़ (काठियावाड़) ने केवल ज्ञान प्रभावना के हेतु अपने ऊपर ले ली है। इसलिये इस पत्र के संबंध में तमाम पत्र व्यवहार उन्हीं के साथ करना चाहिये।

महावीर जन्म कल्याणक	: निवेदक :
महोत्सव दिन	रामजी माणेकचंद दोशी
सुवर्णपुरी	: प्रमुख :
चैत्र सुदी १३ : २००२ बुधवार	जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

मुद्रक—प्रकाशकः—जमनादास माणेकचंद रवाणी; शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड.
प्रथम संस्करण १००० ता. ७-५-४५ पुनर्मुद्रण १००० ता. १५-९-४५

शाश्वत सुख का मार्ग
दर्शानेवाला मासिक

आत्मधर्म

अंक १ : वर्ष १
वैशाख : २००२

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामीने
प्रश्नकार के दिये हुए उत्तर

★

प्रश्न—आत्मा क्या कर सकता है ?

उत्तर—आत्मा चैतन्यस्वरूप है। वह चैतन्य के उपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

प्रश्न—यदि आत्मा उपयोग के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता है तो फिर संसार और मोक्ष की व्यवस्था का क्या मतलब है।

उत्तर—उपयोग के सिवाय आत्मा और कुछ नहीं कर सकता। चैतन्य के उपयोग को जब 'पर' पदार्थ की तरफ लक्ष्य रखकर परभाव में दृढ कर लेता है, तब यही संसार कहलाता है और जब "स्व" की तरफ लक्ष्य करके उपयोग को स्व में दृढ करता है तब यही मोक्ष कहलाता है। "स्व" की तरफ लक्ष्य रख कर "स्व" में दृढता तथा "पर" की तरफ लक्ष्य रख कर "पर" में दृढता, इसके सिवाय अनादिकाल से और कुछ कोई जीव कर ही नहीं सका है और न अनन्त काल तक और कुछ कर ही सकेगा।

प्रश्न—यदि आत्मा उपयोग के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर समस्त शास्त्रोंसे क्या लाभ है ?

उत्तर—बारह अंग और चौदह पूर्व इन सबका उपदेश मात्र एक ही है, और वह यह कि चैतन्य का उपयोग जो पर की तरफ ढला हुआ है, उसे स्व की तरफ मोड़ कर स्व में दृढ करना। इस प्रकार उपयोग को मोड़ करने की बात है। इसी बात को शास्त्रों में अनेक प्रकार (नय) से समझाया गया है।

प्रश्न—संसारी और मुक्त जीवों की क्रिया में क्या भेद है ?

उत्तर—चैतन्य का उपयोग, यही आत्मा की क्रिया है। निगोद से लेकर सिद्धभगवान तक के सभी जीव उपयोग ही कर सकते हैं, उपयोग के सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकते। भेद मात्र इतना ही है कि निगोद वगैरह संसारी जीव अपने उपयोग को पर की तरफ लगाकर पर भाव में अेकाग्र रहते हैं किन्तु सिद्ध भगवान वगैरह उपयोग को अपने शुद्ध स्वभाव में ढाल कर स्वभाव में अेकाग्र रहते हैं। परन्तु सिद्ध या निगोद आदि कोई भी जीव उपयोग के सिवाय पर पदार्थ में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकते। स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी अथवा देव, गुरु, शास्त्र आदि भी सभी पर हैं। आत्मा उनका कुछ नहीं कर सकता। आत्मा तो मात्र उसकी तरफ शुभ या अशुभ उपयोग कर सकता है। परन्तु ये शुभ और अशुभ दोनों उपयोग पर तरफ का होने से 'अशुद्ध उपयोग' कहा जाता है और स्व तरफका उपयोग को "शुद्ध उपयोग" कहलाता है। इस सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि "पर लक्ष्य से बन्धन तथा स्व लक्ष्य से मुक्ति" होती है। "पर लक्ष्य होने पर शुभभाव हो तो भी वह अशुद्ध उपयोग ही है तथैव संसार का कारण है। जहां स्वलक्ष्य है वहां शुद्धोपयोग ही है और वह मुक्तिका हेतु है। (ता. २५-१२-४४ की चर्चा)

★

आत्मा की क्रिया

प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक रजकण बिलकुल भिन्न भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हैं। अतः आत्माकी अवस्था आत्मा से तथा जड की अवस्था जड से होती है, यही मानना प्रथम धर्म है।

परंतु

प्रत्येक वस्तु का कार्य अन्तरंग कारण से ही होता है। बाह्य कारण से कोई भी कार्य नहीं होता है। यदि बाह्य कारण से ही कार्य हो जाता हो तो चावल (धान) में से गेहूं और गेहूं के बीज में से चावल पैदा होने का प्रसंग आजावेगा। ऐसा होने पर तो वस्तु की व्यवस्था ही कायम नहीं रह सकती। इसीलिए कहा है कि "कहीं परभी अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती हैं"।

सार यही कि सर्व वस्तुओं के कार्य की उत्पत्ति के अन्तरंग कारण [वस्तुकी अपनी शक्ति] से ही होती हैं, यह नियम है। इसमें अनेक प्रश्नों का समाधान समावेशित है।

अन्तरंग कारण—द्रव्यकी शक्ति, उपादान कारण.

बहिरंग कारण—पर द्रव्य की वर्तमानता, निमित्त कारण.

कोई भी कार्य बाह्य पदार्थों के कारण से उत्पन्न नही होता, यह निश्चित सिद्धान्त है। यदि बाह्य कारण से कार्य की उत्पत्ति होती हो तो चावलसे गेहूं तथा गेहूं से चावल उत्पन्न होने लगें–परंतु ऐसा कहीं होता तो नहीं है। इसलिये स्पष्ट है कि किसी भी द्रव्यका कार्य किसी दूसरे द्रव्य के कारण से उत्पन्न नहीं होता बल्कि द्रव्य की अपनी ही शक्ति से होता है।

तीन काल और तीन लोक में ऐसा कोइ द्रव्य नहीं, जिस द्रव्य का कार्य अन्य द्रव्यसे उत्पन्न होता हो। यदि अन्य द्रव्यसे से भी कार्य की उत्पत्ति होने लगे तो जीव में से जड तथा जड में से जीव की उत्पत्ति का प्रसंग आजावेगा। परन्तु कार्य और कारण एकही द्रव्य में से होते हैं, इस सिध्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्रव्य का कार्य स्वतंत्र रूपसे अपने द्रव्य के कारण से ही होता है, इसीलिए उपर्युक्त सिद्धान्त में कार्योत्पत्ति के प्रत्येक उपादान निमित्त कारणका खुलासा आ जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से वस्तुका स्वरूप होने से आत्मद्रव्य का कार्य (अवस्था) तो आत्मा के ही अन्तरंग कारण से उत्पन्न होता है। और आत्मद्रव्य में तो वीतराग भाव ही प्रगट करने की शक्ति है। वीतरागता–शुध्धता–रूपी कार्य उत्पन्न हो, ऐसी ही आत्मद्रव्य की अन्तरंग शक्ति है।

प्रश्न–यदि आत्मद्रव्य की अंतरंग शक्ति वीतरागता और शुद्धता ही प्रगट करने की है तो फिर पर्यायरूपी कार्य में अशुद्धता क्यों होती है?

उत्तर—पर्याय में जो अशुध्धता है, वह पर्याय की वर्तमान योग्यता है। ज्ञानघन स्वभावी, अरूपी आत्मा, जो अन्तरंग कारण है, उसमें से तो–चाहे कैसा भी बाह्य निमित्त हो, चाहे कैसा भी संयोग हो–तो भी ज्ञान और वीतरागता का ही प्रादुर्भाव होता है। इतना होने पर भी पर्याय में जो विकार या अशुध्धता है वह पर्याय के अन्तरंग कारण से है। विकार का अन्तरंग कारण एक समय मात्र पर्याय है इसलिए विकार रूपी कार्य भी एक समय मात्र अवस्थिति का है। पहले समय का विकार दूसरे समय में निवृत हो जाता है। रागादि विकाररूप अशुध्ध अवस्था पर्याय के अन्तरंग कारण से है। रागादिक का अन्तरंग कारण द्रव्य नहीं बल्कि अवस्था (पर्याय) है। अर्थात् द्रव्य के मूल स्वभाव में रागादि नहीं, इसलिए आत्मद्रव्य रागादि का कारण नहीं है।

जिस प्रकार चेतनद्रव्य की अवस्था चेतन के अन्तरंग कारण से ही होती है उसी प्रकार जड–द्रव्य की अवस्था जड द्रव्य के अन्तरंग कारण से ही होती है। जो शरीर के परमाणु एकत्रित हुए हैं वे आत्मा के कारण से नहीं आए हैं, परन्तु जिन जिन परमाणुओं की अन्तरंग शक्ति थी, वे ही परमाणु एकत्रित हुए हैं। अन्य सर्व परमाणु मल, मूत्रादि के द्वारा पृथक् होगए। परमाणुओं में क्रोध-कर्म रूप जो अवस्था होती है, वह परमाणु की उस समयकी योग्यता है, जीव ने वह अवस्था पैदा नहीं की। जीव की क्रोधादि भावरूप जो अवस्था होती है, उसमें जीव की उस समयकी अवस्था की योग्यता ही कारण है। जीव की अवस्था में विकार भाव और पुद्‌गल की अवस्था में कर्मरूप परिणमन ये दोनों अपने अपने अन्तरंग स्वतंत्र कारणों से होते हैं। परस्पर एक दूसरे के अन्तरंग कारण नहीं हैं।

प्रति समय अवस्था [पर्याय] परिवर्तन वस्तु का स्वभाव है। वस्तु की अवस्था वस्तु के कारण से ही उत्पन्न होती है। बाह्य साधन के कारण से किसी द्रव्य की अवस्था

आत्मा क्या और शरीर क्या है इसके पृथक्त्व के ज्ञान बिना आत्मा क्या करता है इस बात का

अज्ञानी को क्या पता चल सकता है?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, यह बात श्री समयसारजी के कर्ताकर्म अधिकार में अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझाई है। इसलिए उस अधिकार की ९९ वीं गाथा और उस पर परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री का व्याख्यान यहां दिया जाता है।

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक रजकण (परमाणु) भिन्न भिन्न स्वतंत्र पदार्थ है। आत्मा की अवस्था आत्मा से ही होती है और जडकी अवस्था जडसे ही होती है। इसतरह विश्वास करना यह प्रथम धर्म है।

आत्मा किसी पर वस्तु में प्रविष्ट नहीं हो सकता। शरीर में भी आत्मा प्रविष्ट नहीं हुआ है। शरीर जड है और आत्मा चेतन है। शरीर और आत्मा ये त्रिकाल भिन्न पदार्थ हैं। शरीर की अवस्था रूप, रस, गन्ध स्पर्श सहित जड रूप होती हैं और आत्मा की अवस्था ज्ञान रूप होती है। इस तरह दोनों द्रव्य तथा उन दोनोंकी अवस्थाएं बिलकुल पृथक् पृथक् रहती हैं।

प्रश्न–आत्मा पर का कर्ता हैं, अैसा मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर–एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता मानलिया जाय तो द्रव्य के नाश का प्रसंग आ जावे अर्थात् महान् दोष आ जावे। जगत में अनन्त पदार्थ हैं। जिस प्रकार आत्मा एक वस्तु है, उसी प्रकार दूसरा द्रव्य भी एक वस्तु है। जो वस्तु होती है वह प्रतिक्षण स्वयोग्य क्रिया को करनेवाली होती है। अब यदि यह माना जाए कि आत्मा ने अमुक द्रव्य का अमुक समय में कुछ किया तो फिर उस समय उस दूसरी वस्तु ने क्या किया? क्यों कि परद्रव्य भी तो सामान्य रूप है। उसकी विशेष रूप क्रिया भी

उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था का स्वयं ही बिगाड या सुधार कर सकता हैं। चैतन्य की पर्याय चैतन्यरूप परिणमन होती है, और जड की पर्याय जडरूप परिणमन होती है। द्रव्य की अवस्था का कर्ता कोई अन्य नहीं है।

(श्री धवलाशास्त्र वोल्यम ६ ठा, पृ. १६४)

पूज्य सद्गुरुदेव के वांचन में से

राजकोट

पर द्रव्यों को आत्मा करता है। अैसी सामान्य मनुष्यों की मान्यता सत्य नहीं है। इसी बात को बताते हैं–

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज,
णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण
तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

अन्वयार्थः–यदि आत्मा परद्रव्यों का कर्ता होता तो नियम पूर्वक वह उनमें तन्मय होता अर्थात् पर द्रव्यमय होजाता; परन्तु वह तन्मय नहीं होता इसलिए उनका कर्ता भी नहीं हैं।

टीकाः–जो निश्चय से यह आत्मा परद्रव्य स्वरूप कर्म को करे तो वह आत्मा नियम से परद्रव्यमें तन्मय (पररूप) हो जाय; क्यों कि परिणाम तथा परिणामीपना अन्य किसी प्रकार घटित ही नहीं हो सकता। परन्तु वह तन्मय नहीं होता। क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाय तो द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आजाएगी। अतः आत्मा व्याप्य व्यापक भाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं हैं।

भावार्थ–एक द्रव्य का कर्ता अन्य द्रव्य होजाय तो दोनों द्रव्य एक हो जायें। क्योंकि कर्ता कर्मपना तथा परिणाम परिणामीपना एक ही द्रव्य में हो सकता हैं। इस प्रकार यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप होजाए तो उस द्रव्य का नाश हो जाए और महान् दोष का प्रसंग आजावे। इस वास्ते एक द्रव्य को अन्य द्रव्य का कर्ता कहना उचित नहीं।

आत्मा परद्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता। यदि आत्मा परद्रव्य का कुछ कर सके तो दोनों द्रव्य नियम से एक हो जावे। परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछभी नहीं कर सकता, क्यों कि प्रत्येक द्रव्य त्रिकालमें एक दूसरे से भिन्न हैं।

आत्मा परद्रव्य का यदि कुछ कर सके तो आत्मा और परद्रव्य एक हो जाय। क्यों कि जिस समय आत्मा परद्रव्य का कुछ कर सकेगा उसी समय दूसरे द्रव्यकी स्वतंत्र दशा रहेगी नहीं और इस प्रकार उसकी स्वतंत्रता नष्ट होनेपर द्रव्यका लोप हुआ क्योंकि बिना अपनी स्वतंत्र अवस्था कोई पदार्थ होता ही नहीं। इस प्रकार यदि जीव परद्रव्य की अवस्था का कर्ता हो जाय तो परद्रव्य के साथ एकमेक हो जाय और द्रव्यनाशका प्रसंग आजावे। परन्तु अैसा कभी होता तो नहीं हैं।

प्रतिक्षण होनी ही चाहिए। अब यदि उस द्रव्य का आत्मा कुछ करता है तो उस द्रव्य की उस समय स्वयं क्या अवस्था हुई? विना अवस्था [पर्याय या क्रियाकारित्व] के तो कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता है। इसलिए स्पष्ट है कि उस समय उस दूसरे द्रव्य ने कुछ किया ही नहीं। जब कि प्रत्येक द्रव्य प्रति समय अपने स्वरूप में अवस्थित रह कर- अपनी पर्याय [अवस्था] को, स्वयं ही परिवर्तित करता रहता है। उस की क्रियाकारिता में दूसरे द्रव्य का किंचित् मात्र कार्य नहीं। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की अवस्था को करने लगे तो दूसरे द्रव्य की विशेष अवस्था रहती नहीं है। और विना विशेष अवस्था के द्रव्य की सत्ता का ही अभाव हो जाता है। इस तरह महान् दोष का प्रसंग आता है। इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है—ऐसा मानना उस द्रव्य की त्रिकाली हिंसा है। इससे बढकर और बडा पाप दुनियां में नहीं। परद्रव्य का मैं कुछ कर सकता हुँ—यही मानना महान् हिंसा है। वही महान पाप है। बाह्यरूप में पर प्राणी मरता हैं या दुखी होता हैं, इसी में हिंसा नहीं हैं। परन्तु मैं उस प्राणी को दुखी या सुखी कर सकता हुँ ऐसी मान्यता ही अपने ज्ञानस्वरूप की हिंसा है। उसमें मिथ्यात्व भाव का अनन्त पाप है। और "पर का कुछ कर सकता हुँ" ऐसी विपरीत मान्यता को छोड कर "मैं आत्मा ज्ञान स्वरूप हुँ, पर द्रव्य में मेरा किंचित् मात्र कार्य नहीं, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, सभी द्रव्य अपने अपने कर्ता हैं," ऐसा मानना, यही अहिंसा है और यही प्रथम धर्म है।

आत्मधर्म की प्रभावना करना

शरीर आत्मा का चलाया हुआ चलता है और मनुष्य बडे बडे पहाडों को तोड डालते है, यह सब हम आंखों से देखते हैं न? फिर भी आत्मा परका कुछ नहीं कर सकता ऐसा क्यों कह रहे हैं? क्या हमने जो कुछ नजरों से देखा है, वह सब गलत है?

उत्तर—आत्मा क्या है और शरीर क्या है? इसके पृथक्त्व के ज्ञान के विना आत्माने क्या किया, इस बात का अज्ञानी को कया पता चल सकता है? आत्मा को तो वह देखता नहीं, मात्र बाह्य जडकी स्थूल क्रिया को देखता है। "आत्मा जडकी क्रिया करता है" ऐसा दृष्टि से भी तो दिखाइ नहीं देता। परन्तु अज्ञानी व्यर्थ ही यह मान लेता है कि आत्मा कर रहा है और कहता हैं कि मैंने आंखों से देखा है। परन्तु यह नहीं विचारता कि नजर से कया देखा? नजर से तो यही देखा जाता है कि जड़ वस्तु की क्रिया अपने आप ही हो रही है। परन्तु "वछेरे के अण्डे" की तरह "आत्माने किया" ऐसा मानता है। वछेरे के अण्डे का द्रष्टान्त निम्न प्रकार से है।

एक वार एक दरबार एक सुन्दर घोडे के बछेरे को खरीदने के लिए बाहर निकला। दरबार पहले कभी महलसे बाहर नहीं निकला था, इसलिए उसे दुनियां का कोई अनुभव न था। वह बछेरा खरीदने एक गांव से दूसरे गांव जा रहा था। बीच में उसे कुछ ठग मिले। बातचीत में उन ठगों ने जान लिया कि यह दरबार बिलकुल अनुभव हीन है और बछेरा खरीदने बाहर निकला है। उन ठगोंने दरबार को ठगने का निश्चय किया और दो बडे काशीफल लेकर एक पेड़पर टांग दिए। उसी पेड़ के पासवाली झाडी में दो खरगोश के बच्चे छिपे बैठे थे। उन ठगोंने दरबार से कहा कि हमारे पास बछेरों के दो सुन्दर अण्डे हैं, इनमें से दो सुन्दर बछेरा निकलेंगे। दरबार से सौदा तय करके १०००) रुपए उन्होंने लेलिए। फिर उन पेड़ पर छिपाकर रखे हुए दोनों काशीफलों को नीचे गिरादिया। नीचे गिरते ही वे फट गए और एक जोरका धडाका हुआ। उस धडाके की आवाजको सुनकर वे खरगोश के बच्चे झाडी में से निकलकर भागे। तब वे ठग ताली बजाकर हंसे और बोले महाराज! महाराज! अण्डे तो फूट गए। ये तुम्हारे दोनों बछेरे भागे जा रहे हैं। पकडो, पकडो। दरबार उन्हें सचमुच बछेरे जानकर उन्हें पकडने दौडा। परन्तु वे खरगोश किसी झाडीमें छिप गए। हाथ न आए, दरबार मन मारकर घर आगया। घर आकर अन्तःपुर के लोगोंने पूछा कि महाराज! बछेरों का क्या हुआ? तब दरबार ने अण्डे खरीदने की समस्त वार्ता कह सुनाई और कहने लगा कि इतने सुन्दर बछेरे निकले कि निकलते ही दौड पडे। अन्तःपुर के लोगों ने कहा कि महाराज! आप मूर्ख हो गये हैं। कहीं बछेरों के भी अण्डे होते हैं। परन्तु दरबार ने कहा अरे! मैंने अपनी आँखों देखे है न? परन्तु कोइ पूछे, अरे! जब बछेरे के अण्डे होते ही नहीं तो तुमने देखे कहाँ से? इसी तरह अज्ञानी जीव कहता है कि "आत्मा पर द्रव्य के कार्य को

करता देखा जाता है न" ? अरे भाई! जब आत्मा पर द्रव्य का कुछ करही नहीं सकता तो तूने देखा कहाँ से? दृष्टि से तो जड़की क्रिया देखी जाती है। आत्मा ने यह क्रिया की, यह तो नजर नहीं आता। यह, देखो! हाथ में लकड़ी है। अब यह ऊंची हो गई है। इसमें आत्मा ने क्या किया? आत्माने यह जाना तो सही कि लकडी पहले नीचे थी और अब उपर हो गई है। परन्तु लकड़ी को ऊंचा करने में आत्मा समर्थ नहीं है। अज्ञानी जीव भी यह जानता है कि लकडी ऊंची हुई"। परन्तु "इसे ऊंचा मैंने किया है," ऐसा मान कर वह जो कुछ दिख रहा है उससे भी विपरीत मान लेता है।

प्रश्न—हाथ तो आत्मा ने हिलाया तभी हिला न?

उत्तर—हाथ तो जड है—चमडा है। वह आत्मा नहीं है। आत्मा और हाथ दोनें भिन्न पदार्थ है! आत्मा, हाथ का कुछ कर नहीं सकता। "आत्मा हाथ का कुछ कर सकता है" ऐसा मानना तो चमडे को "स्व" रूप मान लेना है। पर रूप को स्व रूप मानना तो चोरी है—हिंसा है—महान् पाप है।

(१) एक आत्मा दूसरे आत्मा का कुछ कर सकता है। अथवा—

(२) एक आत्मा जड [पुद्गल] का कुछ कर सकता है। अथवा—

(३) एक पुद्गल दूसरे पुद्गल का कुछ कर सकता है। अथवा—

(४) एक पुद्गल आत्मा का कुछ कर सकता है।

ऐसा मानना महान् हिंसा है। इससे अधिक महान पाप जगत में

आत्मधर्म प्रांच का पढ़ाना

दूसरा नहीं और इस हिंसा का फल जन्म मरण की जेल है।

जो जीव यह मानता है कि किसी भी परद्रव्य का आत्मा कुछ कर सकता है तो फिर उसे यह भी मानना पडेगा कि इस जगत के अनन्त परद्रव्यों का भी आत्मा कुछ कर सकता है। इस प्रकार अनन्त परद्रव्यों के कर्तृत्व की महा अंधकार रूप विपरीत मान्यता को माननेवाला हुआ और जिस प्रकार आत्मा परद्रव्य का कुछ कर सकता है उसी प्रकार परद्रव्य भी आत्मा का कुछ कर सकता है। ऐसी उल्टी मान्यता भी फलित हुई। इस प्रकार अपने को निर्बल तथा पराधीन माना। तथा इस प्रकार दोनों तत्त्वों को ही पराधीन माना। यही तत्त्वकी हिंसा है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्वका कुछ कर सकता है, यही मान्यता अपने स्वयं के स्वाधीन स्वरूप की हिंसा है। और ऐसी एक क्षण की भी पराधीनतारूपी मान्यता में त्रिकालका पाप समाया हुआ है। इसी प्रकार "परद्रव्यका मैं कुछ नहीं कर सकता, परद्रव्य मेरा कुछ नहीं कर सकता, हरेक तत्त्व स्वतंत्र, स्वाधीन, परिपूर्ण है, सत् रूप है, कोइ तत्त्व किसीका आधार नहीं। इस तरह प्रत्येक पदार्थ की स्वतंत्रता- को मानना त्रिकाली सत् का स्वीकार करना है। स्वतंत्र सत् रूप का आदर है। यही धर्म है।

प्रश्न—आत्मा तो अनन्त शक्तिवाला है। वह परका कुछ न कर सके, ऐसा निर्बल तो नहीं है। यदि वह परका कुछ कर न सके तो आत्माको अनन्त शक्तिवाला क्यों कहा है?

उत्तर—अनन्त शक्तिवाला है, यह बात सत्य है। परन्तु यह आत्मा की अनन्त शक्ति आत्मा में है। आत्मा की शक्ति परमें नहीं है। आत्मा चेतन पदार्थ है और ज्ञान, दर्शन, आनन्द, पुरुषार्थ वगैरह अनन्त चैतन्य शक्ति उसमें है। परन्तु उस शक्ति से आत्मा परका कुछ नहीं कर सकता। परका कुछ करने में आत्मा सर्वथा निःशक्त है। अर्थात् आत्मा की पर- द्रव्यरूप से तो नास्ति है। इसलिए वह परमें कुछ कर सकता नहीं है। परद्रव्य स्वतंत्र है। उसमें आत्मा की शक्ति कुछ नहीं कर सकती है। आत्मा की अनन्त शक्ति आत्मा में ही कार्यकारी है। स्वयं के लिए तो आत्माकी ऐसी अनन्त शक्ति है कि उसके बल से वह एक क्षणमें केवल- ज्ञान प्राप्त कर सकती है और उसी बल के विपरीत प्रयोग से क्षणमें सातवें नरकमें जा सकता है। ऐसी आत्मा की अनंत शक्ति आत्मा में ही कार्य कर सकती है। परद्रव्य में किंचित् भी कार्य नहीं कर सकती।

हरेक तत्त्व अपने अपने परिणाम का धारक है। अर्थात् हरेक वस्तु स्वयं ही अपनी अवस्था को धारण करता है। वस्तु परिणामी है और अवस्था उसका परिणाम है। परिणामी या परिणाम अथवा वस्तु और वस्तु की अवस्था ये दोनों भिन्न नहीं हो सकते। यही यथार्थ वस्तु स्वरूप है। ऐसा होने पर भी जो जीव "परद्रव्य में परिणाम मैं कर सकता हूं"। ऐसा मानता है, वह वस्तु स्वरूप का विश्वधर्म का खून करता है। वस्तु स्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है, वस्तु स्वरूप अन्यथा नहीं हो सकता।

(शेष पृष्ठ १० पर)

"ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः।"
(भाग १)

१:-यद्यपि यह सूत्र बहुत छोटा हैं। किंतु अपने को धर्मी होने का दावा करने वाले-सामान्य आदमी अधिकांश इसके अर्थ-रहस्य को नहीं समझते। इस लिये यहां उसकी कुछ व्याख्या की जाती है।

२:-क्रिया शब्द के अर्थ निम्नप्रकार हैः-

(अ) आत्मा या पुद्गल के एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में गमन होने को क्रिया कहते हैं। राजवार्तिक में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है।

"उभय निमित्तापेक्षः पर्याय विशेषो द्रव्यस्य देशान्तर प्राप्ति हेतुः क्रिया"॥ १ ॥

अर्थः-उभय निमित्त अर्थात् अभ्यन्तर और बाह्य कारणों के द्वारा द्रव्यकी एक से दूसरे देश को जो प्राप्ति होती है ऐसी विशेष पर्याय (अवस्था) का नाम क्रिया है। [देखिये राजवार्तिक अध्याय ५, सूत्र ७, नीचे पहली कारिका पृष्ठ ८४] (इस क्रियाका मोक्ष के साथ संबंध नहीं हैं)

(ब) क्रियाका दूसरा अर्थ परिणति है। समयसार के कलश ५१ में क्रियाका अर्थ इस प्रकार दिया है-

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥

अर्थः-जो परिणमता हैं वह [परिणमन होने वाले का] कर्ता है, और जो परिणाम है वह कर्म है, तथा जो परिणति है वह क्रिया है। यह तीनो वस्तुतः भिन्न नहीं हैं ॥५१॥

(क) आत्मा को तथाविध परिणाम जीव की क्रिया है क्योंकि सर्व द्रव्यों का परिणामलक्षण क्रिया है। चूंकि आत्मा का परिणाम आत्मा की क्रिया है इस लिये वह जीवमयी क्रिया कही जाती है। जिस द्रव्यकी जिस परिणाम रूप क्रिया है उससे वह द्रव्य तन्मय है। और चूंकि जीव भी तन्मय है, इसलिये जो जीवमयी क्रिया है वह जीव-(आत्मा) की क्रिया है। [देखिये प्रवचनसार पृष्ठ १७१-१७२] आत्मा और जीव एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है इस लिये यह पर्यायवाचक शब्द है।

श्रीमद् राजचंद्रजीने भी इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दो में कहा है-"सभी पदार्थ अर्थ-क्रिया सम्पन्न हैं। सभी पदार्थ किसी न किसी परिणाम-क्रिया युक्त देखे जाते हैं। आत्मा भी क्रिया सम्पन्न है।" [देखिये श्री सर्वसामान्य प्रतिक्रमण आवश्यक पृष्ठ ९.]

३:-उपर्युक्त क्रिया शब्द के अर्थो से निम्नलिखित सिद्धांत निश्चित होते हैं:—

(१) प्रत्येक द्रव्य का परिणाम क्रिया है, और द्रव्य छः प्रकार के हैं इसलिये क्रियायें भी छः प्रकार की हुई।

(क) जीव की क्रिया चैतन्य क्रिया है [शुद्ध, शुभ, अशुभ]
(ख) पुद्गल की क्रिया अर्थात् एक पुद्गल से लेकर अनंतानंत पुद्गलो की होने वाली क्रिया, "पौद्गलिक क्रिया है शरीर पुद्गल है इस लिये उसकी क्रिया जड क्रिया है।
(ग) धर्मास्तिकाय का परिणमन, धर्मास्तिकाय की क्रिया हैं।
(घ) अधर्मास्तिकाय का परिणमन, अधर्मास्तिकायकी क्रिया है।
(ङ) आकाशका परिणमन, आकाश की क्रिया हैं।
(च) कालद्रव्यका परिणमन कालकी क्रिया है।

(२) जीव और पुद्गलका आकाशके एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन होना गमन क्रिया है।

४:-मोक्ष जीवका होता है, इसलिये जीवकी क्रिया के द्वारा मोक्ष होता हैं। जीवकी क्रिया शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की है। इसमें से जीवकी शुद्ध क्रिया के द्वारा मोक्ष होता है, और अशुद्ध क्रिया के द्वारा संसार होता हैं; इसलिये यहां पर जीवकी शुद्ध क्रिया से मतलब हैं।

५:-ज्ञानका अर्थ 'सम्यग्ज्ञान' है। और क्रिया का अर्थ 'शुद्ध आत्मानुभव' क्रिया है। इस विषय में समयसारनाटक में इस प्रकार कहा हैः—

शुद्धातम अनुभौ क्रिया, शुद्ध ज्ञान दिग दौर।
मुक्तिपंथ साधन यहै, वाग्जाल सब और ॥१२६॥
[सर्व विशुद्धि द्वार]

अर्थः-सम्यग्दर्शन, शुध्धज्ञान और शुद्धानुभव क्रिया मोक्ष का मार्ग और साधन है; दूसरा सब वाग्जाल है ॥१२६॥ इससे सिध्ध हो गया कि इस स्थानपर क्रिया का अर्थ ज्ञानमें स्थिरता अर्थात् शुध्धात्मानुभव क्रिया है, शुभाशुभ भाव क्रिया या शरीरकी क्रिया नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र

और ज्ञानकी स्थिरता रूप क्रिया के द्वारा मोक्ष होता है।

: : : : : : : : रा. मा. दोशी :

के मोक्षमार्ग अध्याय की गाथा २५ में भी यही कहा है। कि:—

दंसण णाण चरित्ते, तव विणह सच्च समिई गुत्तीसु।
जो किरिया भाव रुई, सो खलु किरिया रुई नाम॥

(नोंध—'सच्च' शब्द 'सत्' 'च' से बना है। 'सत' का अर्थ भूतार्थ, परमार्थ, यथार्थ, सत्य, सम्यक्, निश्चय आदि होता है; इस लिये गाथाका अर्थ निम्नप्रकार हुआ।)

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप, सम्यक्विनय, सम्यक्समिति, और सम्यक्गुप्तिमें जो जीव भाव क्रिया की रुचिवाला है वह वास्तविक 'क्रियारुचिवान्' कहा जाता है।

" ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः। "

(भाग २)

१:—पहले भाग में आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध यों दो क्रियायें कही गई। यहां पर इस विषयको विशेष स्पष्ट किया जाता है।

२:—आत्माकी शुद्ध क्रियाको ज्ञानादि क्रिया और आत्माकी अशुद्ध क्रियाको क्रोधादि क्रिया कहा जाता है। पहली ज्ञान क्रिया का कोई भी ज्ञानी निषेध नहीं करता जब कि दुसरी क्रोधादि क्रिया का निषेध अनन्त ज्ञानियों ने किया है। क्रोधादि शब्दका अर्थ है जीवके मिथ्यात्व और राग-द्वेष रुप-भाव। इस विषय में भी समयसार की ६९-७० वीं गाथा की टीकामें श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने इस प्रकार कहा है:—

जैसे यह आत्मा जिन्हें तादात्म्य सिद्ध संबंध है ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष अनन्तर या भिन्न लक्षण नहीं होने से उनमें भेद नहीं देखता हुआ निःशंकरूपसे ज्ञानमें अपने रूप में प्रवृत्ति करता है, और उस ज्ञान में अपने रूप में प्रवृत्ति करता है इसलिये वह ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होने से निषेधी नहीं गई है, इसलिये जानता है तद्रूप परिणमता है; उसी तरह जबतक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध संबंध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी अपने अज्ञान भाव के कारण विशेष नहीं जानता हुआ उनका भेद नहीं देखता तबतक निःशंकतया क्रोधादिमें अपने रूपमें प्रवृत्ति करता है। और वहां [क्रोधादिमें अपने रूप में] प्रवृत्ति करता हुआ वह क्रोधरूप परिणमन करता है, रागरूप परिणमन करता है, मोहरूप परिणमन करता है। यद्यपि क्रोधादि क्रिया का परभावभूत होनेसे निषेध किया गया है फिर भी क्यों कि उसे स्वभावभूत होने का अभ्यास है इसलिये क्रोधादिरूप परिणमन करता है।

३:—ज्ञान क्रिया को 'ज्ञप्ति क्रिया' भी कहा जाता है, और क्रोधादि क्रिया को 'करोति क्रिया' भी कहा जाता है। उस अशुद्ध क्रिया के और भी अनेक नाम है। उनके विषयमें बादमें कहा जायगा।

४:—करने रूप क्रिया में जानने रूप क्रिया प्रतिभासित नहीं होती, और जानने रूप क्रिया में करने रूप क्रिया प्रतिभासित नहीं होती। इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न हैं।

'मैं परद्रव्य को करता हूं,' इस भावसे जब आत्मा परिणमन करता है तब वह कर्ता भावरूप परिणमन क्रिया करने से अर्थात् करोति क्रिया करने से कर्ता ही है। और जब 'मैं पर द्रव्यको जानता हूं' इस प्रकार परिणमन करता है तब वह ज्ञाता भाव से परिणमन करता है अर्थात् ज्ञप्ति क्रिया करता है इस लिये ज्ञाता ही है।

(समयसार कलश ९७)

ऊपरके नियमसे सिध्ध हुआ कि आत्मा का ज्ञान और जडकी क्रिया इन दोनों के एकत्र होने से मोक्ष होता है ऐसा किसी ज्ञानी ज्ञानीने स्वीकार नहीं किया है। प्रत्युत अनंत ज्ञानीयोंने यह स्वीकार किया है कि आत्मा के सम्यग्ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरतारूप क्रिया अर्थात् शुध्ध ज्ञानकी क्रिया के द्वारा मोक्ष होता है। ज्ञप्ति क्रिया को सम्यग्दर्शन—ज्ञानपूर्वक का सम्यक्चारित्र भी कहा जाता है।

६:—जगत में जो क्रिया है वह सब परिणाम (अवस्था, हालत, दशा) स्वरूप होने के कारण वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं है (परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी (द्रव्य) से भिन्न नहीं है, क्यों कि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं। (प्रथक् प्रथक् दो वस्तुयें नहीं हैं)। इसलिये यह सिध्ध हुआ कि जो क्रिया है वह सब क्रियावान (द्रव्य) से भिन्न नहीं है। इस प्रकार वस्तु

स्थिति अर्थात वस्तुकी ऐसी ही मर्यादा होने के कारण क्रिया और कर्ता का अभिन्नपना सदा ही प्रदीप्त होने से जैसे जीव व्याप्य व्यापक भाव से अपने परिणाम करता है और भाव्य भावक भाव से उसी का अनुभव करता है उसी प्रकार यदि व्याप्य व्यापक भाव से पुद्गल कर्म को भी करे और भाव्य भावक भावसे उसी को भोगे तो वह जीव अपनी और दूसरे की एकत्र मिली हुई दो क्रियायें से अभिन्नपने का प्रसंग आने पर स्वपर का परस्पर विभाग अस्त हो जाने से [नष्ट हो जाने से] अनेक द्रव्य स्वरूप एक आत्माका अनुभव करता हुआ मिथ्या-दृष्टि होनेके कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है। दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जडकी क्रिया चेतन नही करता और न चेतन की क्रिया जड ही करता है। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियायें करता हुआ मानता है वह मिथ्या-दृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया को एक द्रव्य करता है, ऐसी जिनमतकी मान्यता नही है। [समय-सार गाथा ८५]

इस प्रकार क्रिया का अर्थ परिणाम, पर्याय, हालत, दशा, या वर्तमान अवस्था होता है। इसलिये "ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः" इस सूत्र में ज्ञान माने सम्यग्ज्ञान है और क्रिया का अर्थ है उस ज्ञान की ज्ञान में स्थिरतारूप वर्तमान में होने वाली अवस्था। और इसी तरहसे सर्व विकार का नाश होता है। उस पवित्रता का नाम है मोक्ष, अर्थात विकार (अपवित्रता) से मुक्ति।

नोंधः—व्यापक—फैलानेवाला; व्याप्य—फैली हुई दशा; भावक—भोगनेवाला; भाव्य—भोगने लायक दशा। व्यापक द्रव्य है, व्याप्य उसकी पर्याय है; भावक द्रव्य है, भाव्य उसकी (भोगनेलायक) पर्याय (अवस्था) है।

★

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

(शेष पृष्ट ७ से आगे)

मात्र अज्ञानी अपने भाव में विपरीत मानता है। यह विपरीत मान्यता ही संसारका कारण है।

"परिणामी और परिणाम अभेद होता है। परिणमन एक द्रव्य में हो और परिणमन करनेवाला अन्य द्रव्य हो, यह कभी नहीं हो सकता। एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के परिणमन में कोई असर या मदद नहीं कर सकता। जीवको दानादिक शुभभाव होते हैं तो उन भावों के कारण दूसरों का हित हो जाता है, और हिंसादिक अशुभ भावों के कारण दूसरे का अहित हो जाता है, सो बात नहीं है। क्योंकि जीव के परिणाम का फल जीव में ही है, पर में नहीं। इसी तरह परद्रव्य की अवस्था उसमें ही है, मुझ में नहीं। इसलिए अपनी अवस्था मैं करूं, पर की अवस्था पर द्रव्य करे, मैं पर की न करूं, पर मेरी न करे, ऐसी मान्यता प्रथम माने तो जीव की अनन्त शान्ति प्रगट हो और अनन्त रागद्वेष टल जायें। यह मान्यता ही परम धर्म है। इस मान्यता करने में अनन्त पर पदार्थों का अहंकार दूर करने का अनन्त पुरुपार्थ है "मैं शुद्ध ज्ञायक स्वरूप आत्मा हुँ, ज्ञान के सिवाय, परद्रव्य का मैं कुछ नहीं कर सकता"। इस प्रकार जब तक सम्यक् मान्यता न होगी तब तक आत्मा की सम्यग्ज्ञानरूपी कला उघडेगी नहीं। सम्यग्ज्ञान कला यही धर्म है। "मैं परद्रव्य के कर्तृत्व से रहित, पर से भिन्न, ज्ञानस्वरूप, स्वतंत्र द्रव्य हूं"। इस प्रकार से जिसे अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं होता, वह परद्रव्यों को भी स्वतंत्र मानता नहीं, उन्हें स्वतंत्र न मान कर; पर द्रव्य का कर्ता मैं हूं और परद्रव्य भी मेरा कुछ कर सकते है। इस प्रकार वह समस्त द्रव्यों को पराधीन मानता है। जो जीव अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान प्राप्त कर चुका है, वह अन्यद्रव्यों को भी स्वतंत्र मानता है। इसीलिए वह अपने को पर का कर्ता नहीं मानता। इस प्रकार अनन्त परपदार्थों का अहंकार टल जाने से अपने स्वभाव की अनन्त दृढता प्राप्त हो जाती है। यही धर्म है और यही स्वाधीनता का मार्ग है।

★ ★ ★

॥ सहजानंदी शुद्ध स्वरूपी अविनाशी म आत्म स्वरुप ॥

सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश श्रवण, ग्रहण, धारण तथा ★ आगम का अभ्यास है ★

लेखक : [रा. मा. दोशी

धर्म क्रिया करने की बात सब लोग किया करते हैं, परन्तु क्रिया का स्वरूप कैसा है, इसबात से बहुत से मनुष्य बिलकुल अपरिचित हैं। समाज के जन साधारण की बहु संख्या तो कुल क्रमागत चली आई हुई प्रथा को ही क्रिया (चारित्र) कहता है। "पुण्य से धर्म होता है" कई इसी मान्यता के अनुगामी हैं, कई असा मानते हैं कि "भगवान की पूजा भक्तिसे, भगवान के दर्शन से और व्रत, तप से ही धर्म होता है"। परन्तु इन सभी मान्यताओ में कुछ न कुछ त्रुटि है। इसलिए धर्म क्रिया का स्वरूप समझने की बडी आवश्यकता है। इस विषय में एक सूत्र प्रचलित है कि "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"। लेकिन इसका तात्पर्य समझने का मनुष्य प्रयत्न नहीं करते हैं। कितने ही मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान तथा शरीर की क्रिया, इनसे मोक्ष होता हैं। लेकिन यह जानना भ्रमात्मक है। इस सूत्र का सत्य अर्थ इस प्रकार है—

ज्ञानका अर्थ सम्यग्ज्ञान है। और क्रिया का अर्थ है आत्मा की स्थिरता। इन दोनों के एकीकरण से राग द्वेष का नाश होकर वीतरागता प्रगट होती है। और उसका फल मोक्ष है। मोक्ष आत्मा का होता है, शरीर का नहीं। इसलिए आत्मा का सम्यग्ज्ञान और उसमें सम्यग्स्थिरता, से ही मोक्ष होता है।

मिथ्यादर्शन महापाप है। मिथ्यादर्शन का नाश पुण्य से नहीं हो सकता, क्यों कि पुण्य भी कषायभाव है। उसके नाश करने का उपाय तो मात्र सम्यग्दर्शन ही है। जबतक राग विद्यमान है, तब तक कोई भी व्यक्ति वीतराग नहीं हो सकता। और वीतरागता के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिए सत्य आत्मिकज्ञान तथा स्थिरता से ही मोक्ष होता है, यह बात ध्यान में रखने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान प्रगट नहीं होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सम्यग्चारित्र नहीं होता। इसलिए मोक्षाभिलाषी को सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश श्रवण, ग्रहण और धारण तथा आगम का अभ्यास है। किन्तु मात्र कुलधर्म की मान्यता या क्रिया से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। सम्यग्दर्शन तो आत्मा की सच्ची पिछान है और इसका लाभ अज्ञानी पुरुषों के उपदेश से नहीं होता है। इसलिए मुमुक्षु को आत्मज्ञानी पुरुष की खोज करनी चाहिए, उनका उपदेश सुनना चाहिए। इसलिए सत्समागम की बडी आवश्यकता है।

आत्मा एक चैतन्य स्वरूप वस्तु है। अज्ञानदशा में उसकी शुभ और अशुभ ये दो क्रियाएँ होती हैं। इस क्रिया को परिणाम या भाव कहते हैं। अनादिकाल से यह जीव असी क्रियाएँ करता आया है परन्तु अभी तक अपने शुद्ध स्वरूप को यह समझ नहीं सका। सम्यग्ज्ञान के अभाव में आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं कर सका।

सबसे प्रथम धर्म क्रिया सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही है। इस परिणाम को सम्यग्दर्शन की क्रिया भी कहते हैं। जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब उस जीव का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होजाता है।

जीव अनादिकाल से यह मिथ्या मान रहा है कि मैं शरीरादि पर द्रव्यों का कार्य कर सकता हुं। परन्तु शरीर तो अनन्त जड रजकणों का एक पिण्ड है। इसके विपरीत आत्मा तो एक चैतन्य स्वरूप वस्तु है। आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा में ही है और हरेक रजकण का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हरेक रजकण में ही है। आत्मा स्वक्षेत्रादि को छोडकर कभी भी रजकणादि पर क्षेत्रादि में व्याप्त नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा शरीर की क्रिया कभी नहीं कर सकता।

शरीर अनेक रजकणों का पिण्ड है और उसका प्रत्येक रजकण स्वतंत्र द्रव्य है। हरेक द्रव्य की अवस्था-पर्याय स्वतः होती है। क्योंकि हरेक द्रव्य सत् होने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है। ध्रुवता के कारण वह द्रव्य (कायमी) त्रिकाली है, उत्पाद के कारण उसमें नवीन पर्यायकी उत्पत्ति है तथा व्यय के कारण पूर्व पर्यायका त्याग है।

इसलिए मुमुक्षु जीवों को सर्व प्रथम यह निर्णय करने की जरुरत है कि जीव शरीरादि किसी भी परद्रव्य की क्रिया किसी भी काल में नहीं कर सकता। इस निर्णय के बिना कभी किसी जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्धर्म (सम्यग्चारित्र) तो हो ही कहां से सकता है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलं ॥

भगवान महावीर

लेखक : रामजीभाई

प्रति चैत्र-शुदि १३ के रोज शासननायक श्री महावीर भगवान् के जन्म कल्याणक का मांगलिक दिन आता है। भगवान् का जन्म कल्याणक वास्तविक रीति से वे ही मना सकते हैं जो यह जानते हों कि महावीर स्वामी कौन थे ? वे क्यों पूजनीक है ? और उनके उपदेश का क्या रहस्य है ? जो इन बातो को न जानते हों वे वास्तविक रीति से उनकी जन्मजयन्ति नहीं मना सकते। भगवान् का पूज्यपना मात्र बाह्य संयोगों पर निर्भर नहीं, परन्तु अन्तरंग गुणों की परिपूर्णता के कारण ही भगवान् पूज्य हैं। श्री समन्तभद्राचार्य देवागमस्तोत्र में कहते हैं—

देवागम नभोयान चामरादि विभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसिनो महान्.

श्री समन्तभद्रसूरि को वीतरागदेव मानो कह रहे हों कि हे समन्तभद्र ! इन हमारे अष्ट प्रातिहार्यों आदि विभुति को तू देख और हमारी महात्म्य देख! तब गुफा में से निकलता हुआ सिंह ही मानो गर्ज रहा हो, इस तरह श्री समन्तभद्राचार्य कह रहे है कि " देवताओं का आना, आकाश में चलना, चामरादि विभूति से सुशोभित होना, ये सब बाते तो मायावी या इन्द्रजालिक आदि में भी पाई जाती हैं। इसलिए मात्र इन बातों से ही नाथ ! तुम महान्—परम पूज्य नहीं हो ! मात्र इन्हीं बातों से तुम्हारा महत्व नहीं है। तो फिर सद्देव की महत्ता क्या है, यह जानना आवश्यक है। तत्त्वार्थ सूत्र की मंगलटीका (मंगलाचरण) में इस तरह कहा है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां;
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये.

मोक्षमार्ग के नेता कर्मरूपी पर्वत भेदने—(तोडने) वाले, विश्वतत्त्व के ज्ञाता, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान को मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना करता हूं।

सारभूत अर्थ—"मोक्षमार्गस्य नेतारं"! अर्थात् मोक्ष-मार्ग की तरफ लेजानेवाले नेता, इस पद के कहने से तीनबातें सिद्ध हुई—मोक्ष (मोक्ष का अस्तित्व), मोक्ष का मार्ग (मोक्ष प्राप्ति की विधि), तथा उस मार्ग की तरफ ले जाने वाले नेता—श्री वीतराग भगवान ! यदि मोक्ष है तो उस का मार्ग (प्राप्ति उपाय) भी होना ही चाहिए, मार्ग है तो उसका दृष्टा ज्ञाता भी कोई होना ही चाहिए, क्योंकि जो दृष्टा होगा वही उस मार्ग की तरफ लेजा सकता है। मार्ग तरफ ले जाने का कार्य निराकार नहीं कर सकता, साकार ही कर सकता है। अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश साकार उपदेष्टा ही, जिसने कि देह स्थिति धारण करते हुए भी मोक्षसुख का पर्याप्त अनुभव किया हो, कर सकता है।

"भेत्तारं कर्मभूभृतां" कर्मरूपी पर्वत को भेदनेवाले, अर्थात् कर्मरूपी पर्वत को तोडने से ही मोक्ष हो सकता है। जिसने साकार होकर, देह स्थिति धारक होकर कर्म-रूपी पर्वत को तोडा है, ऐसा कौन ? जो देहस्थिति होने पर भी जीवन्मुक्त हैं, वही मोक्षमार्ग का उपदेष्टा हो सकता है। "ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां" अर्थात् समस्त विश्व का ज्ञाता। जो सर्वज्ञ न होगा, वह सर्व संसार को मार्ग कैसे बता सकेगा ? "वन्दे तद्गुणलब्धये" उन इष्टोपदेष्टा के गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उन्हें वन्दना करता हूं। अर्थात् ऐसे गुणोंवाला व्यक्ति ही आप्त है, और वही वन्दना योग्य है।

आचार्यदेव ने इस स्तोत्र में किसी खास व्यक्ति का नाम लेकर वन्दन नहीं किया है। परन्तु स्तोत्रकार ने वन्दनीक के गुणों की पहिचान करके, तत्सदृश गुणों की प्राप्ति के लिए ही उस आप्त की वन्दना की है।

जैनधर्म वीतराग प्रणीत है। उसका रहस्य एक शब्द में प्रगट करें तो वह शब्द है "वीतरागता"। इसलिये इन गुणों को जिसने प्रगट किया हो, वही सुदेव है। इन गुणों को प्रगटाने में प्रयत्नशील ही सुगुरु है, ये दोनों आप्त हैं। आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत शास्त्र ही सुशास्त्र है। ऐसा सुदेव, गुरू कोइ खास व्यक्ति नहीं, अपितु गुण प्राप्ति ही वहाँ कसौटी है। इससे स्पष्ट है कि जैन-धर्म गुण पूजा को स्वीकारता है; व्यक्ति पूजा को नहीं। गुण, गुणी के बिना नहीं रहता, इसलिए गुण की पूजा ही जैनशास्त्र को मान्य है।

... और वस्तु स्वरूप

अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

माणेकचंद दोशी

जैनधर्म का मुख्य रहस्य है 'वीतरागता'। वीतरागता को "ख" की अहिंसा कहते हैं। क्योंकि कोई जीव वास्तव में पर की हिंसा या अहिंसा कर ही नहीं सकता। अपने भावों से अपनी ही हिंसा या अहिंसा कर सकता है। इस अहिंसा का स्वरुप भगवान ने नीचे प्रमाण कहा है—

भगवान ने प्ररुपी सच्ची अहिंसा

"अहिंसा" यह चारित्र का अंग है। और सम्यग्चारित्र सम्यग्दर्शन के विना नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यादृष्टि में सच्ची अहिंसा नहीं होती है। लौकिक मान्यता ऐसी है कि—परजीव की हिंसा न करनी, ऐसा उपदेश भगवान ने दिया है। परन्तु यह मान्यता भूलभरी है। "किसी जीव को मारो मत, किसी को दुख न दो" यह साधारण उपदेश तो प्रत्येक घर में सर्वदा साधारण संसारी जीव भी दिया करते हैं। छोटी छोटी पाठशालाओं में भी थोडे बहुत अंशमें यह उपदेश दिया ही जाता है। अगर भगवान ने भी यही उपदेश दिया हो तो फिर भगवान साधारण लौकिक पुरुष ही सिद्ध होंगे, लोकोत्तर नहीं। अनन्तवीर्य गुण प्रगट होने के बाद भगवान की जो दिव्य ध्वनि प्रगट होती है उसमें तो ऐसा उपदेश होता है कि उक्त लौकिक मान्यता गलत है। कोई जीव किसी जीव की हिंसा नहीं कर सकता, परन्तु हिंसा के विकारी भावों से वह स्वयं की ही हिंसा कर सकता है"। भगवान् ने अहिंसा का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि "जीव में मिथ्यात्व और रागद्वेष का उत्पन्न होना ही हिंसा है। और उन्हें उत्पन्न न होने देकर आत्मस्वरूप में स्थित रहना, यही अहिंसा तथा सत्य धर्म है। और द्रव्य प्राणों का घात भी भाव हिंसा के विना नहीं होसकता। जो जीव उक्त अहिंसा का सर्वांशमें पालन नहीं कर सकते, वे जितने अंशमें सत्य अहिंसा पाल सकते हैं उतने अंशमें अहिंसक हैं और शेष अंशमें हिंसा के भागी हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि जितने अंशमें वीतराग भाव है, उतने ही अंशमें अहिंसा है। ख्याल रहे कि शुभराग भी हिंसा है। यही अहिंसा श्री महावीर भगवान ने प्ररुपा है।

भगवान एक अलौकिक आत्मा थे, इसलिए उनकी बताई हुई अहिंसा भी अलौकिक है यह न्याय सिद्ध है। अपने स्वरूप को यथार्थरूप से जाने विना तथा मिथ्यादर्शन को दूर किए विना कोइ भी जीव पूर्ण रुप से या अंशरूप से अहिंसक सत्यरुप, अचौर्यरुप, ब्रह्मचर्यरुप और अपरिग्रहरुप नहीं हो सकता। यही सन्देश दिव्यध्वनि द्वारा जब प्रगटीत होता था तभी शासनभक्त देव दुन्दुभि के दिव्यनाद से उसे वधा लेते थे।

भगवान् के इस उपदेश को सुनकर कितने ही भव्य जीवों को धर्म की प्राप्ति हुई अर्थात् वे सम्यग्दृष्टि हुए। सम्यग्दृष्टि होकर सम्यग्चारित्री हुए। वे शुद्ध भाव में रमण करते थे। जब शुध्ध भाव में स्थिर न रह सकते थे तब अशुभ भाव को टाल कर शुभ भाव में प्रवर्तते थे। जीव की हिंसा करने का भाव पाप भाव है, अतः वे उससे अलग रहते थे। जिन्होंने इस धर्म के स्वरुप को समझा नहीं, परन्तु समजने की रुचिवाले हुए, उन्होंने भी हिंसा के तीव्र अशुभ भावों को टाला। जिन लोगों की रुचि भी जाग्रत न हुई, वे भी मंद कषायी हुए। इस तरह पर जीवों की हिंसा अटकी। इसी लिए व्यवहार भाषा में कहा जाता है कि "भगवान के उपदेश से जीवों की हिंसा अटकी"। परन्तु यह लौकिक व्यवहार कथन है। शब्दों के अर्थ पर विचार करें तो भगवान पर के कर्ता ठहरेंगे, जो असत्य है।

भगवान महावीर विश्वोपकारक हैं और महान तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थंकर महापुरुष थे। इसलिए भगवान की जन्मजयंति का मांगलिक दिन जन समूह मनावे वह स्वभाविक है। परन्तु जयन्ति का मनानेवाले भगवान का पूर्ण गुणों को पहिचान कर, वास्तव में मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, यह जानकर, पूर्ण रुप से या अंश रुप से उन गुणों को आत्मा में प्रगटावे तो सत्य रुप में जयन्ति मनाई जा सकती है। इसलिए जिसे सच्चे सुख की अभिलाषा हो, वह पहले सच्ची श्रध्धा और ज्ञान प्राप्त करे। यही जयन्ति मनाने की सार्थकता है।

जो कोई जीव एक बार भी द्रव्यद्रष्टि धारण कर लेता है

(१) द्रव्यद्रष्टि में भव नहीं—

आत्मा वस्तु है। वस्तु का सत-त्व है—सामर्थ्य से परिपूर्ण, त्रिकाल में एकरूप में अवस्थित रहनेवाला द्रव्य। इस द्रव्य का वर्तमान तो सर्वदा उपस्थित है ही। अब यदि वह वर्तमान किसी निमित्ताधीन है तो समझ लो कि विकार है अर्थात् संसार है। और यदि वह वर्तमान स्वाश्रयस्थित है, तो द्रव्य में विकार न होने से पर्याय में भी विकार नहीं है अर्थात् वही मोक्ष है। दृष्टि ने जिस द्रव्य को लक्ष्य किया है उस द्रव्य में भव या भव का भाव नहीं है। इसलिए उस द्रव्य को लक्षित करनेवाली अवस्था में भी भव या भव का भाव नहीं है। सारांश यह कि द्रव्यदृष्टि में तो त्रिकाल मुक्ति है, उसमें भव नहीं है।

यदि आत्मा अपनी वर्तमान अवस्था को "स्व लक्ष्य" से रहित धारण कर रहा है तो वह विकारी है। लेकिन फिर भी वह विकार मात्र एक समय (क्षण) पर्यन्त ही रहने वाला है, नित्य द्रव्य में वह विकार नहीं है। इस वास्ते नित्य–त्रिकाल वर्ती द्रव्य के लक्ष्य करके जो वर्त-मान अवस्था होती है उस में कमी-पना या विकार नहीं है। और जहां कमीपना या विकार नहीं है वहां भव का भाव नहीं है। और भव का भाव नहीं, इसलिए भव भी नहीं है। इसलिए द्रव्य स्वभाव में भव न होने से द्रव्य स्वभाव की दृष्टि में भव का अभाव ही है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि भव को स्वीकारती नहीं है।

आत्मा का स्वभाव निःसंदेह है, इसलिए उसमें १. सन्देह, २. राग-द्वेष या ३. भव नहीं है। अतः सम्यग्दृष्टि को निज स्वरूप का १. सन्देह नहीं; २. रागद्वेष का आदर नहीं, ३. भव की शंका नहीं। द्रृष्टि मात्र स्वभाव को ही देखती है। द्रष्टि पर वस्तु या पर निमित्त की अपेक्षा से होने वाले विभाव भावों को भी स्वीकारती नहीं है। इसलिए विभाव भाव के निमित्त से होनेवाले भव भी द्रष्टि के लक्ष्य में नहीं होते। दृष्टि तो मात्र स्व-वस्तु को ही देखती है, इसलिए उसमें पर द्रव्य सम्बन्धी निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के सिवायका अकेला स्वभाव भाव ही दृष्टिका विषय है। स्वभाव भावमें यानी द्रव्यदृष्टि में भव नहीं। इस तरह स्वदृष्टि का जोर नये भव के बन्धन को उपस्थित नहीं होने देता। जहाँ द्रव्यदृष्टि नहीं होती वहां भव का बन्धन उपस्थित हुवे विना नहीं रह सकता। क्योंकि उसकी दृष्टि द्रव्यपर नहीं, पर्याय पर है तथा राग युक्त है। ऐसी दृष्टि तो बन्धन का ही कारण होती है।

(२) द्रव्यद्रष्टि भव को विगडने नहि देती—

द्रव्यद्रष्टि होने के बाद कुछ अस्थिरता रह भी जाय और एक दो भव हो भी जाय तो भी वे भव विग-डते नहीं हैं। द्रव्यद्रष्टि के बाद जीव कदाचित् वैरियों के संहारार्थ युद्ध में तत्पर हो रहा हो, बाण के उपर बाण छोड रहा हो, नील, कापोत लेश्या के अशुभभाव कभी कभी आते भी हों तो भी उस वख्त नये भव की आयु का बन्ध नहीं होता। क्योंकि अन्तरंग में द्रव्यदृष्टि का जोर वेहद बढा हुआ रहता है। और वह जोर भव को विगडने देता नहीं है। तथैव भव-अवस्था को बढने देता नहीं है। जहां द्रव्य स्वभाव पर द्रष्टि पडी कि स्वभाव अपना कार्य विना किए न रहेगा, इसलिए द्रव्यदृष्टि होने के बाद नीचगति का बन्ध या संसार वृद्धि नहीं हो सकती। ऐसा यह द्रव्य स्वभाव का वर्णन है। (२१-६-४४ की चर्चा के आधार से)

(३) द्रव्यद्रष्टि को क्या मान्य है—

द्रव्यदृष्टि कहती है कि मैं मात्र आत्मा को ही स्वीकार करती हूं"। आत्मा में 'पर का सम्बन्ध नहीं हो सकता अतः पर सम्बन्धी भावों को यह दृष्टि स्वीकारती नहीं है। अरे! चौदह गुणस्थान के भेदों को भी पर संयोग से होने के कारण यह द्रष्टि स्वीकारती नहीं है। इस दृष्टि को तो मात्र आत्म स्वभाव ही मान्य है। जो जिसका स्वभाव है, उसमें उसका कभी भी किंचित् भी अभाव नहीं हो सकता। और जो किंचित् भी अभाव या हीनाधिक हो सके, वह वस्तु का स्वभाव नहीं है। अर्थात् जो त्रिकाल में एक रूप रहे वही वस्तु का स्वभाव है। यह दृष्टि इसी स्वभाव को ही स्वीकारती है। द्रव्यदृष्टि कहती है कि "मैं जीव को मानती हूं"। परन्तु जीव उतना ही, जितना कि परसंयोग रहित हो अर्थात् पर पदार्थों के सम्बन्ध से नितान्त रहित जो अकेला स्वतत्त्व

उसे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रहे, उसे ही यह दृष्टि ग्रहण करती है। अपने लक्ष्य की–चैतन्य भगवान की, पहिचान पर के निमित्त से कराऊं तो चैतन्य स्वभाव की हीनता प्रदर्शित होती है। मेरे चैतन्य स्वभाव को परकी अपेक्षा नहीं। एक समय में परिपूर्ण द्रव्य ही मुझे मान्य है। (१८–१–४५ के दिन दिये हुए व्याख्यान में से–समयसार गाथा ६८)

(४) मोक्ष भी द्रव्यद्रष्टि के आधीन है

जो कोई जीव एक वार भी द्रव्यद्रष्टि को धारण करलेता है वह जीव अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। द्रव्यद्रष्टि के विना जीव अनन्तानन्त उपाय करे तो भी मोक्ष नहीं पा सकता। श्रीमद् राजचंद्र जी "सम्यक्त्व की प्रतिज्ञा" के विवरण में कहते हैं कि सम्यक्त्व को ग्रहण करने से ग्रहणकर्ता की इच्छा न हो तो भी ग्रहणकर्ता को सम्यक्त्व की अतुलशक्ति की प्रेरणा से मोक्ष जवर्दस्ती प्राप्त करना ही पडता है। तथा वे आगे कहते है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति विना जन्ममरण के दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसलिए जो मोक्ष का अभिलाषी हो, उसे अवश्य द्रव्यद्रष्टि धारण करनी चाहिए। जिस जीव को द्रव्यद्रष्टि प्राप्त होगई, उसकी मुक्ति होगी ही, और जिसे यह दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति द्रष्टि के आधीन है।

(५) ज्ञान भी द्रष्टि के आधीन है--

जिस जीव को द्रव्यदृष्टि नहीं, उसका ज्ञान सच्चा नहीं। भले ही जीव ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त करले, परंतु यदि द्रव्यदृष्टि प्राप्त नहीं तो वह सर्व ज्ञान मिथ्या है। और भले ही नौ तत्त्वों के नाम भी न जानता हो, परन्तु यदि उसे द्रव्यदृष्टि प्राप्त हैं तो उसका ज्ञान सच्चा है। सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि "अनन्त काल से जो ज्ञान भव का कारण होता था, उस ज्ञान को एक क्षणमें जात्यंतर करके जिसने भव निवृत्ति रूप परिणत कर दिया, उस कल्याण मूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार हो"। द्रव्यदृष्टि रहित ज्ञान मिथ्याज्ञान है और वह संसार का कारण है। द्रव्यदृष्टि प्राप्त करते ही वह ज्ञान सम्यक्‌पना प्राप्त करता है। इसलिए ज्ञान भी दृष्टि के आधीन है।

(नोट–द्रव्यदृष्टि कहो या आत्म स्वरूप की पहिचान कहो, एक ही वात है। इसी तरह सम्यग्द्रष्टि, परमार्थ दृष्टि, वस्तु दृष्टि, स्वभाव दृष्टि, यथार्थ दृष्टि, भूतार्थ द्रष्टि ये सब एकार्थवाचक हैं।)

(६) विपरीत द्रष्टि की विपरीतता का माहात्म्य

जिन जीवों को उपर्युक्त द्रव्यदृष्टि नहीं होती उन्हें विपरीत दृष्टि होती है। (विपरीत दृष्टि के अन्य अनेक नाम हैं–जैसे कि मिथ्यादृष्टि, व्यवहार दृष्टि, अयथार्थ द्रष्टि, झूठी द्रष्टि, पर्याय द्रष्टि, विकार द्रष्टि, अभूतार्थ द्रष्टि ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं) यह विपरीत द्रष्टि एक समय में अखण्ड परिपूर्ण स्वभाव को नहीं मानती हैं। अर्थात् इस द्रष्टि में अखण्ड परिपूर्ण वस्तु को न मानने की अनन्त विपरीत सामर्थ्य भरी हुई है। पूर्ण स्वभाव का निरादर करने वाली द्रष्टि अनन्त संसारका कारण है। और ऐसी द्रष्टि एक समय में महा पाप का कारण है। हिंसा, चोरी, झूठ, शिकार आदि सात व्यसनो के पापों से भी वढकर अनन्त गुना महा पाप यह द्रष्टि है।

(७) द्रव्यद्रष्टि ही परम कर्तव्य है

अनादि काल से चले आये इन महान दुःखों का नाश करने के लिए उसके मूल भूत वीज को यानी मिथ्यात्व को आत्मस्वरूप की पहिचानरूप सम्यक्त्व के द्वारा नाश करना, यही जीव (आत्मा) का परम कर्तव्य है। अनादि संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि सर्व शुभकृत्य अपनी मान्यता के अनुसार अनन्तवार किए हैं और पुण्य करके अनन्तवार स्वर्ग का देव हुआ है, तो भी संसार परिभ्रमण टला नहीं, इसका मात्र कारण यही है कि जीव ने अपने आत्मस्वरुप को जाना नहीं, सची द्रष्टि प्राप्त की नहीं। और सची द्रष्टि किए विना भव का अन्त नहीं आसकता। इसलिए आत्मकल्याणार्थ द्रव्यदृष्टि प्राप्त कर सम्यग्दर्शन प्रगटाना यही सब जीवों का कर्तव्य है। और इस कर्तव्य को स्वलक्षी पुरुषार्थ द्वारा प्रत्येक जीव कर सकता है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीव का अवश्य मोक्ष होता है।

★

तत्त्व स्वरूप समझाने वाली चौभंगी

हेय क्या और उपादेय क्या ? इसके निम्न प्रकार चार भंग हैं–

१. पर वस्तु को हेय उपादेय मानें वह अज्ञानी–मिथ्याद्रष्टि है। क्यों कि कोई भी पर पदार्थ इष्ट या अनिष्ट है ही नहीं। जो पर को ठीक या अठीक मानता है वह उस पर वस्तु को जिसे ठीक मानता है, ग्रहण करना चाहता है और जिस परवस्तु को वह अठीक मानता है, उसे त्यागना चाहता है। परन्तु पर पदार्थ की क्रिया तो स्वतंत्र है। आत्मा उसका ग्रहण या त्याग करही नहीं सकता। जिस पदार्थ की क्रिया अपने आधीन नहीं, उसमें ठीक या अठीक पना मानना या उसे ग्रहण करने या त्याग करने की इच्छा करना, यह मिथ्या-द्दष्टिपना है। कोई भी पर पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं।

२. मैं आत्मा ठीक हु तथा पर पदार्थ अठीक हैं, अैसा मानना यह भी अज्ञान है। क्योंकि अैसा मानने वाला जीव परको अठीक मानता हुआ उसे त्यागना चाहता है। परन्तु आत्मा तो परका ग्रहण या त्याग करही नहीं सकता। ग्रहण या त्याग का स्थान तो अपना आत्मिक भाव ही है, पर द्रव्य नहीं। जो परको अठीक मानता है और मैं परको छोड सकता हु या ग्रहण कर सकता हु, अैसा मानता है वह मिथ्याद्रष्टि है।

ऊपर के दो भेद विपरीत मान्यता के हैं। अब शुद्ध मान्यता के भी दो भेद हैं–जो निम्न प्रकार हैं—

३. मेरा पूर्णानन्द स्वभाव तो ठीक और यह विकारीभाव अठीक है, जो अैसा मानता है–उसकी द्रष्टि तो सच्ची है, परन्तु चारित्र की अस्थिरता है। विकारी भाव को हेय मान रहा है, वह विकारी भाव को छोड सकता है और शुद्धता तथा पुर्णानन्द प्रगटा सकता है इसलिए उसकी द्रष्टि सच्ची है। जिसे हेय, उपादेय मानता है, उसमें से उपादेय का ग्रहण तथा हेय का त्याग कर सकता है। इसलिए द्रष्टि तो सच्ची है, परन्तु फिर भी हेय का त्याग तथा उपादेय का ग्रहण करनेका विकल्प विद्यमान होने से रागद्वेष का अंश है। अतः चारित्र की अस्थिरता है। परन्तु मान्यता का दोष नहीं है।

४. मेरा स्वभाव उपादेय तथा विकारी भाव हेय है, अैसा विकल्प भी छुट जाए और ज्ञायक स्वभाव में स्थिर हो जाए–वीतराग हो जाए, वहीं द्रष्टि और चारित्र दोनों पूर्ण है। त्याग और ग्रहणका सर्व विकल्प छूट कर पूर्णानन्द स्वभाव प्रगट हो जाय वही उत्तम है।

ऊपर की ही चौभंगी पू. गुरुदेव श्री ने ता. १६–२–४५ के दिन पुनः समझाई वह निम्न प्रकार हैं—

१. परवस्तु जीव को इष्ट या अनिष्ट है, अैसा मानना मिथ्याभाव है, महा भूल है; महापाप है। इसका खुलासा इस प्रकार है। परवस्तु इस जीव के आधीन नहीं है, जीव उसे प्राप्त नहीं कर सकता। वह उनका कुछ नहीं कर सकता, और पर वस्तु जीव का कुछ नहीं करता। फिर अैसे पर पदार्थ में इष्ट, अनिष्टपना मानना अनन्त दुःखका कारण है, मिथ्याभाव है, क्यों कि उसमें इष्ट अनिष्टपना मानने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अर्थात् परवस्तु जिसको जीव इष्ट मानते है उसका ग्रहण और परवस्तु जिसको जीव अनिष्ट मानते हैं उसका त्याग जीव नहीं कर सकते है।

२. जीव स्वयं इष्ट है और पर वस्तु अनिष्ट है, अैसा मानना भी मिथ्याभाव, महाभूल–महा पाप है। इसका खुलासा यह है–पर वस्तु जीव का कुछ बिगाड नहीं सकती, फिर भी अनिष्ट मानना अनन्त दुःख का कारण है। क्योंकि पर वस्तु को अनिष्ट मानने से कोई प्रयोजन सिध्ध नहीं होता अर्थात् जीव पर वस्तु का त्याग नहीं कर सकता।

ये दोनों ही मान्यताए मिथ्या हैं। हिंसादि पापों की अपेक्षा भी यह पाप अनन्त गुना है। इसीलिए इसे महा पाप कहा है। अज्ञानी जीव को होने वाले सर्व विकार भावों का मूल यह विपरीत मान्यता ही है। ज्ञानी की मान्यता सम्बन्धी दो भंग इस प्रकार हैं—

३. अपना शुद्ध स्वभाव इष्ट और विकारी अवस्था अनिष्ट, यह मानना या जानना, यह साधक दशा हैं। इसका खुलासा यह है–

अपने में होने वाले विकारी भाव अनिष्ट और त्रिकाल शुद्ध चैतन्य स्वभाव तथा उसके आश्रय से प्रगट होने वाली शुद्ध दशा ही इष्ट है; अैसा मानना या जानना यथार्थ है। जीव अपने यथार्थ स्वरूप को जानें और ग्रहण त्याग किसका कर सकें वह भी जाने तभी दोषों की निवृत्ति हो सकती है। इस वास्ते यह तीसरी भंग सत्य मान्यता है, परन्तु इस में ग्रहण त्याग का विकल्प होने से राग हैं, अस्थिरता है।

४. अपना शुद्ध स्वभाव इष्ट तथा विकारी अवस्था अनिष्ट अैसे विकल्पों को दूर कर स्वरूप में स्थिर होना यही वीतरागभाव है। इसका खुलासा–तीसरी भंग में कही हुई सच्ची मान्यता किया बाद विकल्प को दूर कर स्वरूप में स्थिर होना वह वीतराग दशा है, उत्तम हैं। उपर्युक्त ग्रहण त्याग के स्वरूप को समझाने वाला यह चौभंगी का स्वरूप विशेष मनन करने योग्य है। (रात्रि चर्चा)

॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

★ शाश्वत सुखका मार्गदर्शक मासिक पत्र ★

वर्ष : १
अंक : २

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

ज्येष्ठ
२००२

★ सम्यग्दृष्टिका अंतर परिणमन ★

चिन्मूरत द्रग्धारीकी मोहि, रीति लगत है अटापटी ..चिन्मू.
बाहिर नारकिकृत दुःख भोगे, अंतर सुखरस गटागटी
रमत अनेक सुरनि संगपै तिस, परनतितै नित हटाहटी...चिन्मू. १
ज्ञान विराग शक्ति तै विधिफल, भोगतपै विधि घटाघटी
सदन निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी...चिन्मू. २
जे भवहेतु अबुधके ते तस, करत बन्धकी झटाझटी
नारक पशु तिय पंड विकलत्रय, प्रकृतिनकी ह्वै कटाकटी...चिन्मू. ३
संयम धर न सकै पै संयम,–धारनकी उर चटाचटी
तासु सुयश गुनकी दौलत को, लगो रहे नित रटारटी...चिन्मू. ४

[यह स्तवन श्रीमंत शेठ सर हुकमीचंदजीने श्री जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ में ता. चौथी व पांचवीं जून के दिन सुनाया था]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

एक अंक
पांच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ काठियावाड ★

सम्यग्दर्शन की अपार महिमा
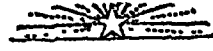
आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने में है। आकुलता (चिन्ता, संक्लेश या झंझटों) का मिट जाना ही सच्चा सुख है। वह सुख मोक्ष में ही प्राप्त होता है, इसलिये प्रत्येक 'आत्महितैषी' को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहिये।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता 'मोक्षमार्ग' कहलाता है। वह निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो निश्चय मोक्षमार्ग कहलाता है और व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग कहलाता है।

आत्मा का पर द्रव्यो से भिन्न यथार्थ श्रद्धान 'निश्चयसम्यग्दर्शन' कहलाता है। आत्मा का पर द्रव्यों से भिन्न यथार्थ ज्ञान 'निश्चय-सम्यग्ज्ञान' कहलाता है। तथा परद्रव्यों से सम्बन्ध छोड़ कर आत्मस्वरूप में लीन होना 'निश्चय-सम्यक्चारित्र' कहलाता है। सातों तत्वों का ज्यों का त्यों अटल श्रद्धान होना व्यवहार (सम्यग्दर्शन) कहलाता है।

८ मद, ३ मूढता, ६ अनायतन, ८ शंकादिक ये २५ सम्यक्त्व के दोष हैं। तथा निःशंकित आदि ८ अंग (गुण) हैं। इनको भली प्रकार जान कर दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करना चाहिये।

जो विवेकी प्राणी निर्दोष और गुणसहित सम्यक्त्व को धारण करता है; उसके अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से यद्यपि संयम लेशमात्र भी नहीं होता, तो भी वह इन्द्रादिक द्वारा पूजा जाता है। वह गृहस्थ है, तो भी गृहस्थी के दोष से दूषित नहीं होता। तीनों लोकों और तीनों कालों में इस सम्यक्त्व के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। यही सब धर्मों का मूल (सार) और मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। इस के बिना ज्ञान और चारित्र परमार्थता (सत्यता) नहीं पाते, मिथ्या कहलाते हैं।

आयुबंध के पूर्व—सम्यक्त्व का धारक प्राणी मरण होने पर अगले भव में नारकी, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, कर्मभूमि का पशु, हीनांग, नीचकुली, अल्पायु और दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और वैमानिक देव ही होता है। नरकायु और तिर्यंगायु का बंध पीछे सम्यक्त्व हो जाय और नरक भी जाय तो प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता, तिर्यंच भी हो तो भोगभूमि मात्र का तिर्यंच होता है। इस प्रकार इस सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है।

इसलिये प्रत्येक आत्महितैषी को शास्त्रस्वाध्याय, तत्त्वचर्चा और सत्संगति आदि के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर अपना मनुष्य-जीवन सफल बनाना चाहिये। क्योंकि यदि इस पर्याय में भी सम्यक्त्व न पाया तो फिर मनुष्य-पर्याय आदि का सुयोग मिलना कठिन होगा। [छह ढाला]

★

सारे भारत वर्ष के प्रत्येक आत्महितैषी सज्जन की पास 'आत्मधर्म' भेजने में आपसे सहयोग चाहता हूँ कृपया आप उन महानुभावों का पूरा पत्ता भेज दीजिये जो इस पत्र को यथार्थरूपसे पढ़ सके।

जमु रवाणी

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

: आत्मधर्म :

वर्ष : १
अंक : २

ज्येष्ठ
२००२

न धर्मो धार्मिकैर्विना

[परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री के व्याख्यान में से १२-४-४५]

धर्मात्माओं के विना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मरुचि होती है उसे धर्मात्मा के प्रति रुचि होती है। जिसे धर्मात्माओं के प्रति रुचि नहीं होती उसे धर्मरुचि नहीं होती। जिसे धर्मात्मा के प्रति रुचि और प्रेम नहीं है उसे धर्मरुचि और प्रेम नहीं है। और जिसे धर्मरुचि नहीं है उसे धर्मी (आपका) आत्मा के प्रति ही रुचि नहीं है। धर्मी के प्रति रुचि न हो और धर्म के प्रति रुचि हो, यह हो ही नहीं सकता। क्यों कि धर्म तो स्वभाव है, वह धर्मी के विना नहीं होता। जिसे धर्म के प्रति रुचि होती है उसे किसी धर्मात्मा पर अरुचि, अप्रेम या क्रोध नहीं हो सकता। जिसे धर्मात्मा प्यारा नहीं उसे धर्म भी प्यारा नहीं हो सकता। और जिसे धर्म प्यारा नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। जो धर्मात्मा का तिरस्कार करता है वह धर्म का ही तिरस्कार करता है। क्यों कि धर्म और धर्मी पृथक् नहीं है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २६ वें श्लोक में कहा है कि:-
"न धर्मो धार्मिकैर्विना।" इसमें दुतरफा बात कही गई है; एक तो यह कि-जिसे अपने निर्मल शुद्ध स्वरूप कि अरुचि है वह मिथ्यादृष्टि है और दूसरा यह कि-जिसे धर्मस्थानों या धर्मीजीवों के प्रति अरुचि है वह मिथ्यादृष्टि है।

न धर्मो धार्मिकैर्विना

यदि इसी बात को दूसरे रूप में विचार करें तो यों कहा जा सकता है कि जिसे धर्म रुचि है उसे आत्मरुचि है; और वह अन्यत्र जहां जहां दूसरे में धर्म देखता है वहां वहां उसे प्रमोद उत्पन्न होता है। जिसे धर्मरुचि हो गई उसे धर्म स्वभावी आत्मा की और धर्मात्माओं की रुचि होती ही है। जिसे अंतरंग में धर्मी जीवों के प्रति किंचित् मात्र भी अरुचि हुई उसे धर्मकी भी अरुचि होगी ही। उसे आत्म-रुचि नहीं हो सकती।

जिसे आत्माका धर्म रुच गया उसे, जहां जहां वह धर्म देखता है वहां वहां प्रमोद और आदरभाव उत्पन्न हुये विना नहीं रहता। धर्मस्वरुप का भान होने के बाद भी वह स्वयं वीतराग नहीं होता, इसलिये स्वयं स्वधर्म की पूर्णता की भावना का विकल्प उठता है, और विकल्प पर निमित्त की अपेक्षा रखता है, इसलिये अपने धर्म की प्रभावना का विकल्प उठने पर वह जहां जहां धर्मी जीवों को देखता है वहां वहां उसे रुचि, प्रमोद और उत्साह उत्पन्न होता है। वास्तवमें तो उसे अपने अन्तरंग धर्म की पूर्णता की रुचि है। धर्मनायक देवाधिदेव तीर्थंकर और मुनिवर्मात्मा, सद्गुरु, सत्शास्त्र, सम्यग्दृष्टी एवं सम्यग्ज्ञानी, यह सब धर्मात्मा धर्म के स्थान है। उनके प्रति धर्मात्मा को आदर-प्रमोदभाव उमडे विना नहीं रहता। जिसे धर्मात्माओं के प्रति अरुचि है उसे अपने धर्म के ही प्रति अरुचि है, अपने आत्मा पर क्रोध है।

जिसका उपयोग धर्मी जीवों को हीन बताकर अपनी बडाई लेने के लिये होता है—जो धर्मीका विरोध करके स्वयं बडा बनना चाहता है वह निजात्म-कल्याण का शत्रु है—मिथ्यादृष्टि है। धर्म यानी स्वभाव; और उसे धारण करनेवाला धर्मी यानी आत्मा। इसलिये जिसे धर्मात्मा के प्रति अरुचि है उसे धर्म के प्रति अरुचि है। जिसे धर्मकी अरुचि हुई उसे आत्मा की अरुचि हुई और आत्मा की अरुचि पूर्वक जो क्रोध, मान, माया, लोभ होता है वह अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया और अनंतानुबंधी लोभ होता है। इसलिये जो धर्मात्माका अनादर करता है वह अनन्तानुबंधी रागद्वेष वाला है, और उसका फल अनंत संसार है।

जिसे धर्मरुचि है उसे परिपूर्ण स्वभावकी रुचि है। उसे अन्य धर्मात्माओं के प्रति उपेक्षा अनादर या ईर्षा नहीं हो सकती। यदि अपने से पहले कोई दूसरा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाय तो उसे खेद नहीं होगा, किन्तु अन्तरसे प्रमोद जागृत होगा कि ओहो! धन्य है इस धर्मात्माको! जो मुझे इष्ट है वह इसने प्रगट किया है। मुझे इसीकी रुचि है, आदर है, भाव है, चाह है। इस प्रकार अन्य जीवों की धर्मवृद्धि देखकर धर्मात्मा अपने धर्मकी पूर्णता की भावना भाता है। इसलिये उसे अन्य धर्मात्माओं को देखकर हर्ष होता है, उल्लास होता है। और इस प्रकार धर्म के प्रति आदरभाव होने से वह अपने धर्मकी वृद्धि करके पूर्ण धर्म प्रगट करके सिद्ध हो जायगा।

★

ग्रंथाधिराज

इस समयसार का अध्ययन, मनन, स्वाध्याय जीवन के अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक करना योग्य है।

(४-८-४४)

समयसार में पद पद पर पूर्ण वस्तु बताई गई है। आचार्य को जो विकल्प उठा है वह पूर्ण का है। वाणी में पूर्णता है, शब्दोंमें पूर्णता उतरी है, आचार्य की भावना भी पूर्ण की ही है। सब तरहसे समयसारमें पूर्णता है, और वस्तु भी तो पूर्ण ही है न! स्वभाव परिपूर्ण है, पर्याय भी परिपूर्णता के लक्ष पर ही काम करती है इसलिये परिपूर्ण है, विकल्प में भी परिपूर्ण गुण आते हैं और आचार्यदेव के कथन में भी परिपूर्णता आई है। यह समयसार तो साक्षात् तीर्थंकर की वाणी में से आया है इसलिये सर्व प्रकार से पूर्ण ही है।

(८-८-४४)

यह तो दैवी वाणी है, भगवान के श्रीमुख से प्रसूत और संतों-मुनियों के द्वारा झीली गई दैवी वाणी है, अपूर्व वाणी है। ओहो! यह समयसार भरतक्षेत्र के भगवान हैं। यह समयसार दैवी वाणी और दैवी शास्त्र है। भरतक्षेत्र में अभी ऐसा शास्त्र अन्य दूसरा कोई भी नहीं है। यह अद्भुत दैवी शास्त्र है। समयसार में शब्द नहीं समझना वे दैवी मंत्र हैं।

(१०-८-४४)

अहो! समयसार तो दुधारू गाय है, कामधेनु गाय है। अहह! चैतन्य भाण्डारकी क्या बात कहनी!!! जिसके

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है

◆ ◆ अनन्त कालसे परिभ्रमण करते हुये जीवों को जो कुछ भी समझना शेष रह गया है वह इस परमागम में समझाया गया है ◆ ◆

अरे महान् चक्रवर्ती का भण्डार भी सडे हुये तिनके के समान हैं, ऐसा परिपूर्ण चैतन्य भण्डार एक एक आत्माके पास अनादि अनंत मौजूद है।

(१५-८-४४)

अहो! समयसार की रचना! एक अलौकिक रूप में इस महान् शास्त्रकी रचना हुई है। जिस प्रकार भगवानके श्रीमुख से निकली हुई एकाक्षरी दिव्यध्वनि में संपूर्ण कथन आ जाता है उसी प्रकार इस शास्त्रमें आचार्य कुन्दकुन्द भगवानने एक एक गाथा में-एक एक पदमें संपूर्ण आत्म-स्वरूप कहा है। भगवान एक अक्षर में पूर्ण कथन करते हैं, आचार्य देव एक पदमें पूरा कथन करते हैं।

(१८-८-४४)

तृतीय कलश में टीकाकार आचार्य-देवने स्वभावके जोरसे कहा है कि इस समयसारकी व्याख्या की सफलता में मेरी परिपूर्ण निर्मल दशा प्रगट हो। आचार्य देव को परिपूर्ण की ही धुन सुनाई देती है।

कोई कहे कि वर्तमान में तो टीका करनेका विकल्प हो रहा है तब परिपूर्णता की मांग क्यों की गई है? इसके समाधान में कहते हैं कि पहले तो परिपूर्ण ही चाहिये; विकल्प की बात बाद में। इसमें आचार्य-देवने अपूर्ण दशा के भेदका इंकार किया है। विकल्प होने पर भी उस और ध्यान ही किसका है? परि-पूर्ण स्वभाव की धुन में भला विकल्प को देखता कौन है? इस प्रकार पूर्ण स्वभावी अप्रतिहत भाव के बल पर आचार्य महाराज प्रयाण करते हैं।

समयसार जैसे महान् शास्त्र की टीका करते हुये आचार्य देव का हृदय हर्ष के मारे उछल रहा है, इसलिये वे कहते हैं-स्वरूपतः तो त्रिकाल शुद्ध हूँ, और जब तक केवलज्ञान प्रगट नहीं हो जाता तब तक निरंतर-प्रत्येक समय में अवस्था मलिन है। परन्तु अब! अब, इस समयसार की टीका करने से मेरी अवस्था भी वीत-राग-परम विशुद्ध हो जायगी। इस श्रध्धा के बल पर आचार्य देवने टीका का प्रारंभ किया हैं।

(८-४-४४, गाथा-१)

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रथम गाथा की संस्कृत टीका में सर्व प्रथम 'अथ' शब्द रखा है। उसका अर्थ होता है 'अब'! वह मांगलिक है। इसका यह अर्थ है कि अनादि काल से आत्मा को जाने बिना जो कुछ भी किया उसे छोड़कर 'अब' यह साधक दशा प्रारंभ होती है। अनादि से जो पर की-पुण्य, पापकी सगाई थी उसकी जगह पर 'अब' स्वभाव की बात करता हूँ। अनादि से जो परकी सगाई थी वह समाप्त हुई, अब उसे छोड दे, और मैं चिदानन्द ध्रुव स्वभावी हूँ इसको अपना ले। अनादि कालसे आत्माको पराश्रित मान बैठा है; मगर अब आत्मबल को सम्हाल!

(१०-८-४४)

समयसारका प्रारंभ करते हुये मूल गाथा में ही आचार्य देव कहते है कि मैं सिद्ध हूँ; तू सिद्ध है, पहले यह स्वीकार कर, उसके बाद हम तुझे समयसार सुनाते हैं। जो साक्षात् सिद्ध हो चुके हैं, और जो वर्तमान में साधक हैं तथा जो सिद्धत्व को स्वीकार करके सुनने आया है, इन तीनों को सामान्य रूपमें लेकर आचार्य देवने सिद्धत्व की स्थापना की है; उसमें उपादान-निमित्त का मेल रखा है।

(१०-८-४४ रात्रिचर्चा)

समयसार की पहली गाथा में आचार्य देवने कहा है कि हमने यह मोक्ष का मंडप बनाया है, उसमें एक नहीं किन्तु अनन्त सिद्धोंको उतार रहे हैं, लोक व्यवहार में भी लडके की बरातमें बडे बडे सेठ, साहूकारों को भी साथ में ले जाते हैं, जिससे यदि कोई कमी आ जाय या कन्या वापिस न होने पावे। इसी प्रकार यहां पर आचार्य देवने अनन्त सिद्धों को पहले आत्मा के आंगन में स्थापित किया है।

लग्न का अर्थ है जोड़ना। स्व स्व-रूप की भक्ति करते हुये या अन्तरंग में लगनी (एकाग्रता) करते हुये अनन्त सिद्धों को उतारा है, जिससे इस मंडप से मुक्ति रूपी कन्या वापिस न होने पावे-उससे लग्न होकर ही रहे। ('अनन्त सिद्धों को उतारा है'

इसका अर्थ यह नहीं है कि सिध्ध भगवान को ऊपरसे यहां बुला लिया है, क्यों सिद्ध भगवान ऊपरसे यहां नहीं आते; परन्तु आचार्य महाराज को सिद्धों की नगरी में पहुँचने की—सिद्ध बन जाने की उत्कट चाह है, वह बताया है)

मैं अपने आंगन मे—अपनी आत्मा में अनन्त सिद्धोंकी सर्व सिद्धोंकी स्थापना करता हूँ। अब यह मोक्ष का मेला लगा है; अब मुक्ति रूपी परिणति वापिस नहीं हो सकती; मेरी सिद्ध दशा अब मुझ से विलग नहीं हो सकेगी। इस प्रकार आचार्य देवने समयसार में अप्रतिहत साधक भावका वर्णन किया है। वे इतने जोरसे उडे हैं कि सिध्धत्व प्राप्त करके ही रहेंगे।

मुक्ति मण्डप के बीच में आकर यदि कर्म गडबड करे तो कहते हैं कि अबे, रहने भी दे; अनन्त सिद्धोंको अपनी आत्मा में स्थापित किया है, अब उसमें राग नहि समा सकता, अब इस रागका नाश अवश्य होगा ही। जैसे दश सेर के किसी वर्तन में दश सेर ही सोने का पिण्ड रख देने पर उसमें थोडासा भी पानी नहीं रह सकता, उसी प्रकार हमारी आत्मामें अनंत सिद्धोंका समावेश हुआ है, इसलिये अब इसमें किंचित् मात्र भी राग नहीं समा सकता। ओहो! आचार्य देवने अद्भुत मंगलाचरण किया है। पात्र बनकर जिज्ञासा-पूर्वक यदि इसे सुने तो चैतन्य भण्डार का द्वार खुल जाय; इस में ऐसा अपूर्व कथन है।

आचार्यदेव कहते हैं—मेरा मुक्ति दशा के साथ लग्नोत्सव हो रहा है। उसमें मैंने अनन्त सिद्धों को आमंत्रण दिया है, अनंत सिद्धों को अपनी आत्मा में स्थापित किया है। मैं अनंत सिद्धों का समावेश अपनी इस एक ही पर्याय में कर रहा हूँ, अर्थात् मेरी एक पूर्ण पर्याय में अनंत सिद्धों को जानने की शक्ति है उसे वर्तमान में जान रहा हूँ—इस पर्याय में, सिध्ध दशा प्रगट होने से पूर्व ही सिद्ध स्वरुप की प्रतीति करने की शक्ति है। मैं सिध्ध और तू भी सिद्ध...हां कह दे न! श्री कुन्दकुन्द भगवान के प्रथम पद 'वंदित्तु सव्व सिध्धे' की आचार्यदेवने यह अद्भुत टीका की है।

संसार इस जड शरीर के साथ शादी करता है, किन्तु समयसार में आचार्यदेवने आत्मा की शुद्ध परिणति के साथ विवाह रचाया है। शरीर तो मुर्दा है, तब फिर मुर्दे का शृंगार कैसा और विवाह कैसा? वाह! चैतन्य भन्डार तो भीतर भरा पडा है, और उसे भूल कर इस जड शरीर पर—मुर्दे पर मुग्ध हुआ है! अरे! ऐसा चैतन्य मूर्ति भगवान आत्मा अन्दर मौजूद है, उसे छोडकर यह चिन्ता करता है कि इस शरीर का क्या होगा? अरे भाई! तू भीतर आनंदकंद अनन्त–गुणों का भण्डार लेकर पडा है, उसको सम्हाल!

सिर के बालों को—जुल्फों को कैसा सम्हालता है??? तू इन जुल्फों में मुग्ध हुआ है, लेकिन भाइ मेरे! यह जुल्फें तो जलकर राख हो जायेगी और जो आनंदकंद चैतन्य है वह शाश्वत, ध्रुव अविनाशी वस्तु है। किन्तु उसे जाने विना पर फंद में यह आनंदकंद किंकर्तव्यविमूढ बना हुआ है।

(११–८–४४)

'वंदित्तु सव्व सिद्धे'

इसमें सर्व सिद्ध कह कर विशालता प्रगट की गइ है कि अनंत सिद्धों को अपनी एक अवस्था में समाविष्ट करने की (एक समय में जानने की) शक्ति तुझ में है। तूने अपनी आत्मा में अनन्त सिध्धों को स्थापित किया, तब क्या तुझे निज स्वरुप से बाहर जाना शोभा देता है? आचार्यदेव समयसार का महामंत्र प्रारंभ करते हुये कहते हैं कि अब मैं अनन्त सिद्धोंकी वस्ती में मिल जाना चाहता हूं, अर्थात् मैं सिद्ध होना चाहता हूं! मैं संयमी मुनि और समयसार सुनने को आने वाले जिज्ञासु (अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य) इन तीनों में आचार्यदेवने कोई भेद नहीं किया।

(२७–८–४४)

समयसार सुनने लायक शिष्य कैसा है? संसार से भयभीत है, मोक्ष की चाहवाला है, विनय से सद्गुरु को अर्पित और शुद्ध आत्म स्वरूप को जानने की भावना वाला है! आचार्यदेवने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि–इस परम सम-यसार को सुनने के लिये आनेवाला भव्य जीव (१) सच्चे देव शास्त्र गुरु को बाह्य लक्षणों द्वारा यथार्थ जानता है, (२) कुदेवादि को नहीं मानता, (३) सांसारिक अशुभ राग की अपेक्षा सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति शुभ-राग बढाता है; (४) शिष्य बिलकुल लायक है, स्वीकार ही करता है–अर्थात् जो कहने का आशय है उसे बिलकुल ठीक पकड लेता है। जिसमें ऐसी योग्यता है ऐसे शिष्य के लिये आचार्यदेव इस समयसार में उपदेश करते हैं।

गुजराती अनुवादक भाई श्री. हिंमतलाल जेठालाल शाहने समयसार के उपोद्‌घात में लिखा हैं—

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्यदेवने संसार के जीवों पर परम दया करके इस शास्त्र की रचना की है। इस में मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप-जैसा है वैसा ही कहा गया है। अनन्त काल से परिभ्रमण करते हुये जीवों को जो कुछ भी समझना शेष रह गया है वह इस परमागम में समझाया गया है। परम कृपालु-आचार्य भगवानने शास्त्रका प्रारंभ करते हुये स्वयं ही कहा है कि काम-भोगबंध की कथा सबने सुनी, परिचय प्राप्त किया और अनुभव किया है, परन्तु परसे भिन्न एकत्वकी प्राप्ति ही दुर्लभ है। वह एकत्वकी-परसे भिन्न आत्मा की बात मैं इस शास्त्रमें अपने समस्त विभव (आगम, युक्ति, परंपरा और अनुभव) से कहूंगा। इस प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्यदेव इस शास्त्रमें आत्मा को एकत्व-परद्रव्य से और परभावो से भिन्न समझाते हैं। × ×

प्रश्न यह होता है कि ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकारसे प्राप्त हो सकेगा, अर्थात् राग और आत्माकी भिन्नता अनुभवांश में कैसे मालूम होगी? आचार्य भगवान उत्तर देते हैं कि प्रज्ञारूपी छैनी से छेदने पर वे दोनों अलग हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञान से ही-वस्तु के यथार्थ स्वरूप की पहचान से ही-अनादि काल से रागद्वेष के साथ एकाकार रूप में परिणमन करने वाला आत्मा भिन्नपनें में परिणमन करने लगता है; उसके सिवाय और दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये प्रत्येक जीव को वस्तु के यथार्थ स्वरूप की पहचान करनेका प्रयत्न सदा ही करना चाहिये।

यथार्थ आत्म-स्वरूप की पहचान करना इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। × × × सचमुच ही इस काल में यह शास्त्र मुमुक्षु-भव्य जीवों का परम आधार है। इस दुषमा काल में भी ऐसा अद्‌भुत-अनन्य शरण-भूत शास्त्र-तीर्थंकरदेव के मुख में से निकला हुआ अमृत-विद्यमान है, यह हमारा महान् सौभाग्य है। निश्चय व्यवहार की संधि-पूर्वक यथार्थ मोक्ष-मार्ग की ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रंथमें नहीं है।

परम पूज्य सद्‌गुरुदेव के ही शब्दों में कहूँ तो-'यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है; इस में लाखों शास्त्रों का निचोड़ समाविष्ट है; यह जैनशासनका स्तंभ है; यह साधक की कामधेनु है; कल्पवृक्ष है। इस में चौदह पूर्वका रहस्य समाविष्ट है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुये महामुनि के आत्मानुभवमें से निकली है। इस शास्त्र के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विदेहक्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर स्वामी के समवसरण में गये थे, और वे वहां एक सप्ताह रहे थे; यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाण सिद्ध है, इसमें लेश मात्र भी शंका के लिये स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचित इस समयसार में तीर्थंकरदेव की निरक्षरी ॐकार ध्वनि में से निर्गत ही उपदेश है।

× × शासन मान्य भगवान कुंद-कुन्दाचार्यदेवने इस कलिकाल में जगद्‌ गुरु तीर्थंकरदेव की भांति ही काम किया है, और श्री अमृतचंद्राचार्यदेवने, मानो कुंदकुंद भगवान के हृदय में घुसकर ही, उसी प्रकार गंभीराशयों को यथार्थ रूप में व्यक्त करके उनके गणधरदेव की तरह काम किया है। इस टीका के काव्य (कलश) अध्यात्म रस से और आत्मानुभव की मस्ती से भरे हुये हैं।

यह (समयसार का गुजराती) अनुवाद करने का महा सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, यह मेरे लिये अत्यंत आनंद का विषय है। × × मेरी आन्तरिक भावना है कि यह अनुवाद भव्य जीवों को जिनदेव प्ररूपित आत्मशांति का यथार्थ मार्ग बतावे। श्री अमृतचंद्राचार्यदेव के शब्दो में-यह शास्त्र आनंदमय विज्ञानघन आत्मा को प्रत्यक्ष दिखानेवाला अद्वितीय जगतचक्षु है। जो भी इस के परम गंभीर और सूक्ष्म भावों को हृदयगत करेगा उसे यह जगत्‌चक्षु आत्मा की प्रत्यक्ष दर्शन करायगा। जब तक वे भाव यथार्थ रीत्या हृदयगत नहीं होते तब तक रातदिन यही मंथन और यही पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। (गुजराती अनुवाद के उपोद्‌घात से)

समयसारजी में हस्ताक्षर करते हुये पूज्य गुरुदेवश्री लिखते हैं कि:—

"समय प्राभृत अर्थात् समयसार रूपी नजराना-भेट। जैसे राजा से मिलने के लिये नजराना-भेट देते हैं उसी प्रकार अपनी परम उत्कृष्ट आत्मदशा स्वरूप परमात्मदशा प्रगट करने के लिये समयसार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मा है उसकी परिणति-रूप नजराना-भेट देने से परमात्मदशा-सिद्ध दशा प्रगट होती है।

यह शब्दब्रह्मस्वरूप परमागम से बताये गये एकत्व विभक्त आत्माको प्रमाण मानना, स्वीकार ही कर लेना,

[शेष पृष्ठ २७ पर]

:: निश्चय और व्यवहार ::

१–निश्चय कहता है:–मैं स्वद्रव्याश्रय हूँ, इसलिये मेरे शब्दों का जैसा का तैसा अर्थ करना ठीक है–सत्य है।

व्यवहार कहता है:–मैं पर्यायाश्रित हूँ, इसलिये मेरे कथन का शब्दार्थ करना ठीक नहीं है–असत्य है।

२– निश्चय—मैं जीवके स्वाभाविक भावका अवलंबन लेकर प्रवृत्ति करता हूँ।

व्यवहार–मैं तो जीवके औपाधिक भाव (अपूर्ण–हीन दशा वर्णादिक पर वस्तु अथवा निमित्त) का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता हूँ।

३–निश्चय कहता है:–व्यवहार जो कहता है उसका शब्दार्थ यथार्थ नहीं है, इसलिये उस शब्दार्थ का मैं निषेध करता हूँ। व्यवहार तो संक्षिप्त कथन शैली है।

जीव के दृष्टांत	व्यवहारका कथन	निश्चय का कथन और व्यवहार का निषेध	निश्चय व्यवहारकी संधि	व्यवहार के कथनका यथार्थ अर्थ
१	घी का घडा	घडा मिट्टीमय है घी मय नहीं है।	घी और घडा एक स्थान पर हैं, किन्तु स्वक्षेत्रमें दोनों भिन्न हैं।	घडा मिट्टी का है, घी का नहीं, किन्तु घडा और घी एक ही क्षेत्रमें रहते हैं इतने अंशमें अर्थ ठीक है परन्तु घडा घी का नहि है; इसलिये भाषाके कथनानुसार अर्थ यथार्थ नहीं है।
२	पानी का लोटा	लोटा धातुमय है पानीमय नहीं है	पानी और लोटा एक आकाशक्षेत्रावगाही है, किंतु स्वक्षेत्रमें दोनो भिन्न है।	लोटा धातुका बना है, पानी का नहीं। एक स्थान पर होनेसे वैसा कहा जाता है, किन्तु उसका भाषानुसार अर्थ ठीक नहीं है।
३	तलवारकी म्यान	म्यान लकडीमय है, तलवारमय नहीं	ऊपरकी ही भांति समझना चाहिये।	ऊपरकी ही भांति समझना चाहिये।
४	गद्दे का कपडा	कपडा अपने वस्त्रमय है गद्दामय नहीं	”	”
५	दवा की शीशी	शीशी काचमय है, दवामय नहीं	”	”
६	गहनोंकी तिजोरी	तिजोरी लोहमय है, गहनोंमय नहीं	”	”
७	रुपयों की संदूक	संदूक लकडीमय है, रुपयामय नहीं	”	”
८	पलंग की निवार	निवार सूतमय है, पलंगमय नहीं	”	”

व्यवहार कहता है:-मैं परद्रव्याश्रित वर्तता हूँ, इसलिये मैं जो कथन करता हूँ उसका शब्दार्थ ठीक नहीं है। इसलिये उस शब्दार्थका निश्चयनय निषेध करता हैं।

४-निश्चय-जो व्यवहार के शब्द हैं वे दूसरे (अ) के भावको दूसरे (ब) का भाव कहते हैं। इसलिये उस कहने वाले जो संक्षिप्त शब्द हैं उसी प्रकार यदि अर्थ किया जाय तो मैं उसका निषेध करता हूँ।

व्यवहार-मेरे जो शब्द हैं वे दूसरे (अ) के भाव को दूसरे (ब) का भाव कहते हैं; इसलिये मेरे संक्षेप में जो शब्द हैं उन्हीं के अनुसार उनका अर्थ करने का निश्चय निषेध करता है, यह ठीक ही है।

५ निश्चय-मैं दूसरे के भाव को दूसरे का नहीं कहता, इसलिये मेरे जो शब्द हैं, उन्हीं के अनुसार जो अर्थ किया जाता है वही वास्तविक अर्थ है।

व्यवहार—जो भाव जैसा है, मैं वैसा नहीं कहता, किन्तु जो भाव जैसा है वैसा निश्चय कहता है। इस लिये मेरे कथन में से भी निश्चयानुसार अर्थ निकालना चाहिये।

६ निश्चय—मेरे कथनका जैसा अर्थ है वैसा ही करना चाहिये, किन्तु व्यवहारके कथनका अर्थ करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि वह—एक समयकी अधूरी पर्याय, विकारी पर्याय, परद्रव्य अथवा निमित्त क्या हैं, मात्र इतना ही कहता है। इस लिये उसका उसीके अनुसार अर्थ करना ही सत्य है।

व्यवहार—मेरे कथनका अर्थ यों करना चाहिये कि-मैं एक समयकी अधूरी पर्याय, विकारी पर्याय, परद्रव्य

जीव अजीव के दृष्टांत	व्यवहार का कथन	निश्चयका कथन और व्यवहारका निषेध	निश्चय व्यवहारकी संधि	व्यवहारके कथनका यथार्थ अर्थ
१	सीताका घडा	घडा मिट्टीमय है सीतामय नहीं	घडे की मालिकी सीता मानती है. दोनों एक आकाश क्षेत्रमें नहीं हैं. स्व-पर दोनों प्रदेशमें भिन्न हैं, फिर भी लोक व्यवहार के लिये ऐसा कहा जाता है।	घडा मिटी का है, सीता का नहीं; सीता मालिकी मानती है, इस लिये ऐसा कहा जाता है। लौकिक मालिकी बताने के लिये यह कथन है, यदि ऐसा अर्थ किया जाय तो ठीक है; भाषा के कथनानुसार अर्थ करना ठीक नहीं है।
२	स्त्रीकी साडी	साडी वस्त्रमय है स्त्रीमय नहीं	ऊपर की ही भांति समझना चाहिये	ऊपर की ही भांति समझना चाहिये
३	भाईका चश्मा	चश्मा धातुमय है भाइमय नहीं	”	”
४	रामदासकी गली	गली आकाशमय है रामदासमय नहीं	रामदास उस गली में प्रतिष्ठित पुरुष है या थे; दोनों एक आकाश क्षेत्रमें नहीं है, स्व-पर क्षेत्रमें भिन्न हैं, फिरभी लोक व्यवहार के लिये यह कथन पद्धति है।	गली तो खुली जगह है, रामदास उस गलीके प्रतिष्ठित पुरुष हैं, इस लिये वह उनके नामसे पुकारी जाती है, यदि यों अर्थ किया जाय तो ठीक है और यदि यों अर्थ करें कि गली रामदासकी धनी है तो गलत है।

नोट:—इसी प्रकार 'मास्टरकी लकडी' 'साहबका दफ्तर' 'राजा का गांव' 'मेरा देश' इत्यादि कथनमें भी समझना चाहिए।

अथवा निमित्त क्या है, यह कहता हूं। इसलिये उतने मात्र के लिये उतना ही अर्थ करना ठीक है। यदि शब्दानुसार मेरा अर्थ किया गया तो गलत है।

(प्रमाण के लिये देखो समयसार गाथा ५६ से ६० तक तथा ६६ से ६८ तक)

निश्चय तथा व्यवहार के उपर्युक्त कथनसे सिद्ध होता है कि निश्चयनय व्यवहारका निषेधक है। इस लिये निश्चयके अर्थ को कैसे समझा जाय और व्यवहार कथनके अर्थ को किस प्रकार बदल देना चाहिये; यह कोठा नं. १, २, ३ में दिये हुये दृष्टांतों के द्वारा समझाया जाता है। -(रा. मा. दोशी)

एक आकाश क्षेत्रमें	व्यवहार का कथन	निश्चयका कथन और व्यवहारका निषेध	निश्चय व्यवहारकी संधि	व्यवहार के कथनका यथार्थ अर्थ
जीव अजीव के दृष्टांत				
१	जीव का शरीर	शरीर पुद्गल है, जीवमय नहीं	शरीर जड़ से बना है, भूल से जीव उसे अपना मानता है। दोनों आकाश के एक क्षेत्रमें अवगाह करते हैं। अपने अपने क्षेत्र अलग है, परंतु आकाशका एक क्षेत्र रोका है यह बताने के लिये वह व्यवहार सत्य है।	शरीर अजीव से बना है, जीव से निर्मित नहीं है; परंतु जीव भूल से उसे अपना मानता है, और आकाशके उसी क्षेत्रको रोकता है, ऐसा अर्थ किया जाय तो ठीक है, शब्दानुसार अर्थ किया जाय तो गलत है।
२	पंचेन्द्रिय जीव	जीव चेतनमय है पंचेन्द्रियमय नहीं	जीव चेतनमय है; पंचेन्द्रियां जीव नहीं हैं इंद्रियां जड हैं, इस प्रकार ऊपरकी तरह समझना चाहिये।	"
३	सचेतन शरीर	शरीर जडमय है सचेतन मय नहीं	शरीर जडमय है, सचेतनमय नहीं है। शेष ऊपरकी भांति समझना चाहिये।	शरीर वास्तवमें सचेतन हुआ है अथवा वह अनंतवें भाग भी सचेतन हुआ है, यह मानना भूल है। परन्तु ऊपरकी भांति समझना चाहिये।
४	जीव सफेद	सफेद शरीर का रंग है, इसलिये सफेद पुद्गल के रंगमय है, जीवमय नहीं।	जीव जिस आकाश क्षेत्रमें है उस आकाश क्षेत्रमें शरीरकी स्थिति है, इसलिये उसके रंगको उपचार से जीवका रंग कहा है। जीव सफेद नहीं होता। विशेष ऊपरकी तरह समझना।	जीव सफेद नहीं, सफेद तो वास्तवमें शरीर है, यह वास्तविक बात है। विशेष ऊपरकी तरह समझना चाहिये।

इस तरह से १-जीव पर्याप्त, २-जीव अपर्याप्त, ३-जीव सूक्ष्म, ४-जीव बादर और ५-जीव पंचेन्द्रिय, इत्यादि व्यवहार कथन ऊपरकी भांति समझना चाहिये। और १-जीव चेतनमय है, पर्याप्त नहीं, २-जीव चेतनमय है, अपर्याप्त नहीं, ३-जीव चेतनमय है, बादर नहीं ४-जीव चेतनमय है, सूक्ष्म नहीं, और ५-जीव चेतनमय है एकेन्द्रियादि नहीं—यों समझना चाहिये, तथा अन्य बातें भी ऊपरकी भांति समझना चाहिये।

इस तरह लोकमें व्यवहार कथन के जो अर्थ होते हैं वह सब 'घी का घडा' के दृष्टांत से लेकर अभी तक के दृष्टांतों में भेद बताकर समझाये हैं, और ऐसे ही अर्थ शास्त्रमें भी हैं, यह सब प्रारंभ से ही निश्चय व्यवहार के कथनमें छहढालों में बता दिया गया है।

इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि निश्चय क्या कहता है और व्यवहार क्या कहता है। तथा निश्चयनय व्यवहारनय का निषेध करता हुआ भी दोनों में संधि कैसे स्थापित करता है। इसलिये निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है यह सिद्धान्त उदाहरण देकर समझाया है।

[शेष पृष्ठ २३ से आगे]
कल्पना मत करना। इसका बहुमान करने वाला भी महा भाग्यशाली है।" (देखिये गुजराती समयसारमें हस्ताक्षर)

समयसार के २७८ वें कलश के भावार्थ में कहा गया है कि—"उसके पढ़ने और सुनने से पारमार्थिक आत्मस्वरूपकी प्रतीति होती है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्याज्ञान, श्रद्धान और आचरण दूर होता है, और परम्परासे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षुओ! इसका निरंतर अभ्यास करना चाहिये।"

ऐसा यह महान परमागम शास्त्र श्री समयसारजी भव्यजीवों के महा भाग्यसे प्रकाश में आया है। और इससेभी अधिक महा भाग्य की वात तो यह है कि इस परमागम शास्त्रके गहन से गहन रहस्य को परम कृपालु श्री सद्गुरुदेव विलकुल सरल भाषा में समझा रहे हैं। हजारों मुमुक्षु इस परमागम में वताये गये गूढ भावों को समझने से लिये सद्गुरुदेव की अमृतमय वाणी का लाभ ले रहे हैं। इससे शासनकी उन्नति सिद्ध होती है।

परमागम श्री समयसार तथा उसके रहस्य को वताने वाले श्री सद्गुरुदेव जयवंत हों।

अहह! समयसार की रचना की क्या वात कहें? प्रत्येक गाथा में अद्भुत प्रकारसे निश्चय और व्यवहार को संधिपूर्वक गूंथा है। एक एक गाथा में विविध प्रकार से व्यवहार वताकर फिर ऐसी कुलांट खाई है कि लाकर सीधा निश्चयमें रख दिया है, और कहा है कि यह जो व्यवहार वताया गया है वह तू नहीं, तू तो एक रूप ज्ञायक स्वरूप है। इस प्रकार सारे समयसार में निश्चय व्यवहारकी अलौकिक संधि पाई जाती है। अनेक भव्य जीवों पर इस परमागम समयसारका उपकार है। आत्म हितैषी मुमुक्षु जीवों को सत्समागम द्वारा इस परमागम शास्त्र का निरंतर अभ्यास करना चाहिये।

★

: आत्मस्वरूपकी आराधना करो :

प्रद्युम्न कुमार—श्री कृष्णवासुदेवके पुत्र थे; समस्त संसार के प्रति विरक्त होकर वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उस समय उनने माता पिता से दीक्षा के लिये आज्ञा मांगते हुये अत्यन्त विनयपूर्वक कहा था:—

पिताजी! मुझे आज्ञा दीजिये; मैं अव परम पवित्र भगवती जिन दीक्षा अँगीकार करूंगा। मैं अव स्वस्वरूप में रमण करके अपना केवलज्ञान प्रगटाऊंगा; इस असार क्षणभंगुर संसार में अनंतकाल व्यतीत किया; अव मुझे आत्म कल्याण करने दीजिये! मैं अव शुद्ध स्वरूप में रमण करता हुआ, समस्त विभावों का क्षय करके इसी भवमें जन्म-मरण को समाप्त करके मोक्ष दशाको प्रगट करूंगा। इस अनादि संसार में कोई शरणभूत नहीं हुआ। मैं इस अशरण संसारको छोड़कर, अपने आत्मा की शरण में जाकर शरीरका यह वाह्यावरण नष्ट कर दूंगा। जिन भावों से शरीर प्राप्त हुआ, उन भावों का अभाव कर दूंगा। इस अशरण संसारमें तो एक पर एक मरता ही चला जाता है। मैं तो अव अपने अविनाशी आत्म स्वरूपको शरण लेकर केवलज्ञान प्राप्त करूंगा।

हे जीव! सर्वज्ञ के धर्म के अतिरिक्त तीन लोकमें कोई शरणभूत नहीं है; इसलिये उसी धर्म को जान, उसी पर श्रद्धा कर, और आत्मस्वरूपकी आराधना कर!

परम पूज्य सद्गुरुदेव के प्रवचनमें से
चैत्र सुदी ७, ता. १८-४-४५

★

शरणभूत ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा आनन्द स्वरूप है। उसके सिवाय यह शरीरादि शरणभूत नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु—पुण्य पापका कोइ विकल्प भी शरणभूत नहीं है। सभी विकल्प क्षणिक हैं; अविनाशी भगवान् आत्मा को भला, क्षणिक की शरण हो सकती है? शरणभूत तो केवल श्री जिनेन्द्र देव द्वारा कथित आत्म स्वभाव ही हैं। श्रीमद् राजचंद्रजीने कहा है—

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी
आराध्य! आराध्य! प्रभाव आणी
अनाथ एकांत सनाथ थाशे
एना विना कोय न वांह्य स्हाशे
(अशरण भावना)

हे जीव! सर्वज्ञ के धर्म के सिवाय तीनों लोकमें कोई भी शरणभूत नहीं है। इसलिये उसी धर्म को जान, श्रद्धा कर, आत्म स्वरूपकी आराधना कर, सर्वज्ञ कथित धर्मकी आराधना कर। हजारों देवों के स्वामी—इन्द्र भी उस धर्मकी आराधना करते हैं। इन्द्रका

वैभव भी अशरण है। मरण के समय इन्द्र के पास ८४००० देव सेवा में खड़े रहते हैं, किन्तु इन्द्र को मरण से कोई नहीं बचा पाता।

इन्द्र स्वयं सम्यक्त्वी है, उसे आत्माका भान है कि मेरा सुख पर में नहीं है, मुझे कोई शरण नहीं है, जिनधर्म – आत्मस्वभाव ही मेरा शरणभूत है। यह इन्द्र भी जिनधर्म का आराधक है; उसमें स्वरूप की पूर्णता की भावना है; किन्तु हमें वह इन्द्र पद नहीं चाहिये; इन्द्र पदमें हमारी आत्मा की शांति कहाँ? हम तो मनुष्य होकर भगवान के पास चारित्र धारण करके केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। यही हमारा पद है।

इस प्रकार अनेक तरह से वैराग्य भावना को भाते हुये प्रद्युम्नकुमार माता पिता से आज्ञा लेकर, समस्त राज वैभव छोड़कर मुनि होकर परिपूर्ण पुरुषार्थ द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके उसी भवमें अशरीरी–सिद्ध हो गये।

मृगापुत्र के वैराग्य की कथा

कथा–मृगापुत्रको आत्मा का भान है अभी उनकी उम्र छोटी है, किन्तु जाति स्मरण होने से संसार के प्रति विरक्ति हो जाती है। मृगापुत्र राजकुमार है। हीरा माणिक रत्नजडित पलंग पर सोनेवाले वैभवशाली राजकुमार आत्म-स्वरूप की साधना करने के हेतु मुनि दीक्षा लेने के लिये अपने माता पिता से कहते हैं–

हे माता! हे जननी! यह शरीर अशुचि में से उत्पन्न हुआ है, और यह स्वयं अशुचिमय है। माता! मेरा सुख न तो इस शरीर में है और न राजवैभवमें। मेरा सुख आत्मा में है। हे माता! मुझे जिनदीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दे–आज्ञा दे। मैं अब अशरीरी-सिद्ध परमात्मा होऊंगा। अब मैं दूसरा शरीर धारण नहीं करूंगा। नया भव धारण नहीं करुंगा मैं अब पूर्णानन्दी स्वरूप की आराधना करके परमात्मदशा प्रगट करुंगा। माता मैं मानता हूं कि तुझे इससे दुःख होगा, मगर अब मेरी कोइ दूसरी माता नहीं होगी। मैं अब पुनर्जन्म धारण नहीं करुंगा।

माता! इस जन्म मरण में कहीं भी आत्म सुख नहीं है। यह मणि रत्नाभरणादि या शरीर मेरा नहीं है, मेरी आत्मा ही मेरी शरण है। अब मैं इस अशरण संसार में एक क्षण भी नहीं रहूंगा। विभाव भाव में मेरा कोई कहीं भी शरण नहीं है-मैं अपने स्व-भावकी शरण लूंगा। और इन विभावों का नाश कर दूंगा इस प्रकार स्वरूपज्ञता में निःशंक होकर, समस्त राज वैभव छोड़कर नग्न दिगम्बर मुनि दशा धारण कर स्वरूप रमण करके सिद्ध हो गये।

देखो! ज्ञानियोंने सत्स्वरूपमें शांति के दर्शन किये, उसी की शरण गृहण की। यह शरीर तो रजकणोंसे निर्मित्त जड़ है, इसका कणकण पृथक् हो जायगा, उसमें आत्म शांति कहां? इस मनुष्य भव में शीघ्र ही आत्मभान कर लेना योग्य है।

❀ ❀ ❀

दो ब्राह्मण पुत्रो की कथा

कथा–दो ब्राह्मण पुत्र थे, उन्हें जाति स्मरण हो गया था, वे जैनधर्मी थे, उन्हें आत्मा का भान था; वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। मुनि होने से पूर्व उनने अपने माता पिता से अनुमति मांगी और कहा कि हे माता! अजीव स्वभावी इस शरीर का राग छोड़कर हम इसी क्षण चिदानन्द स्वरूप आत्मधर्म को और स्वरूप के चारित्र को धारण करते हैं। हे जननी! अब हम चिदानन्द स्वरूप आत्माकी शरण लेते हैं। और अब सदा के लिये इस अजीव शरीर के त्यागका व्रत लेते हैं। हे माता! अब हम पुनर्जन्म गृहण नहीं करेंगे। अब तो इस भव का नाश करके स्वस्वरूप को प्राप्त करेंगे। इस संसार में परिभ्रमण करते हुये हमें तो अपने इस स्वतः प्राप्त आत्मा के सिवाय दूसरा कोई शरण दिखाई नहीं दिया। अनन्त बार स्वर्गों के वैभव और नर्कों के दुःख भोगे हैं; अब हम इस अजीव शरीर को कभी भी धारण नहीं करेंगे। हे माता! नरकों में हजारों वर्ष भूख प्यास के दुःख सहन किये, शरीर विदीर्ण हुये; पशुओं के दुःख भी अनन्तवार भोगे तथा देवों के वैभव भी अनन्तवार पाये; परन्तु आत्म साधना आज तक कभी नहीं की; अब तो हम आत्म साधना पूर्ण करेंगे। इस प्रकार सर्वस्व त्याग करके आत्म स्वरूप में रमण करनेके लिये घर छोड़कर चल देते हैं।

कैसे ही तुच्छ विषय में प्रवेश क्यों न हो, फिर भी उज्जवल आत्माओं की स्वतः प्रवृत्ति वैराग्य की ओर जाने में ही होती हैं। वैराग्यका निमित्त मिलते ही ज्ञानीजन संसारके तमाम विकल्प बंधनों को छोड़कर स्वात्मस्वरूप में प्रवृत्त हो जाते है, और केवलज्ञानको प्रगट करते हैं। क्षणभंगुर मरण देखकर ज्ञानियों को संसार के प्रति वैराग्य हो जाता है। वे सोचते है कि यह संसार क्षणिक है, मैं तो अविनाशी आत्मा हूं। यह देह संयोगी चीज है; यह वियोग होने को ही हैं, इसलिये इस शरीरका संयोग क्षणिक जानकर

उसके प्रति जो राग है उसे दूर करके चिदानंद वीतराग स्वरूप आत्मा की पहचान करके उसीकी शरण प्राप्त करके स्वभाव में स्थिर होजाना चाहिये। यही दूसरा कोइ शरण नहीं है। इसलिये संसार मुक्त होने का उपाय है। इस आत्मस्वरूपकी पहचान करके शीघ्र ही संसार में आत्मस्वरूप के सिवाय आत्म कल्याण कर लेना चाहिये। ★

◆ ◆ ◆ देवगुरु धर्मको किसीकी भक्तिकी आवश्यक्ता नहीं, किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधक दशामें अशुभ रागसे बचने के लिये— ◆ ◆ ◆

सत का बहुमान हुये बिना नहीं रहता।

आत्मा प्रिय हुआ कब कहा जाता है, अर्थात् यह कब कहा जाता है कि आत्मा की कीमत या प्रतिष्ठा हुई? पहली बात तो यह है कि जो वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्मा हो गये हैं ऐसे अरिहन्तदेव के प्रति सच्ची प्रीति होनी चाहिये। किन्तु विषय कषाय या कुदेवादि के प्रति जो तीव्र राग है उसे दूर करके सच्चे देव गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिये भी जो जीव मन्द राग नहीं कर सकते, वे जीव बिलकुल राग रहित आत्म स्वरूप की श्रद्धा कहां से पा सकेंगे?

जिस में परम उपकारी वीतरागी देव गुरु धर्म के लिये भी राग कम करने की भावना नहीं है वह अपने आत्मा के लिये रागका बिलकुल अभाव कैसे कर सकेगा? जिस में दो पाई देने की शक्ति नहीं है वह दो लाख रुपया क्यों कर दे सकेगा? उसी प्रकार जिसे देव-गुरुकी सची प्रीति नहीं है—व्यवहार में भी अभी जो राग कम नहीं कर सकता वह निश्चय में यह कैसे और कहां से ला सकेगा कि 'राग मेरा स्वरूप ही नहीं है।'

जिसे देव-गुरुकी सच्ची श्रद्धा-भक्ति नहीं है उसे तो निश्चय या व्यवहार में से कोइ भी सच्चा नहीं है, मात्र अकेले मूढ भाव की ही पुष्टि होती है-वह केवल तीव्र कषाय और शुष्कज्ञान को ही पुष्ट करता है।

प्राथमिक दशा में देवगुरु धर्म की भक्ति का शुभ राग जागृत होता है-और उसीके आवेश में भक्त सोचता है कि देवगुरु धर्म के लिये तृष्णा कम करके अर्पित होजाऊं, उनके लिये अपने शरीर की चमडी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूं तो भी उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। इस तरह की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने मन में आये बिना देवगुरु धर्म के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती। और देव-गुरु धर्म की प्रीति के बिना आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। देव गुरु शास्त्र की भक्ति और अर्पणता के बिना आये तीन लोक और त्रिकाल में भी आत्मा में प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मा में निज के लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

तू एक बार गुरुचरणों में अर्पित हो जा! पश्चात् गुरु ही तुझे अपने में समा जाने की आज्ञा देंगे। एकबार तो तू सत् की शरण में झुक जा, और यह स्वीकार कर की उसकी हाँ ही हाँ है और ना ही ना! तुझमें सत् की अर्पणता आने के बाद संत कहेंगे कि तू परिपूर्ण है, अब तुझे मेरी आवश्यका नहीं है, तू स्वयं ही अपनी ओर देख; यही आज्ञा है और यही धर्म है।

एकबार सत्-चरण में समर्पित हो जा। सच्चे देव गुरु के प्रति समर्पित हुये बिना आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता-किन्तु यदि उसी का आश्रय मानकर बैठ जाय तो भी पराश्रय होने के कारण आत्माका उद्धार नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थ स्वरूप में तो भगवान आत्मा अकेला ही है, परन्तु वह परमार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता तब तक पहले देव गुरु शास्त्र को स्वस्वरूपके आंगन में विराजमान करना, यह व्यवहार है। देव गुरु शास्त्र की भक्ति-पूजा के बिना केवल निश्चय की मात्र बातें करने वाला शुष्कज्ञानी है।

देव गुरु धर्म को तेरी भक्ति की आवश्यक्ता नहीं है, किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधक दशा में अशुभ राग से बचने के लिये सत् के प्रति बहुमान उत्पन्न हुये बिना नहीं रहता। श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि-" यदि ज्ञानी भक्ति नहीं चाहते, फिर भी वैसा किये बिना मुमुक्षु जीवों का कल्याण नहीं हो सकता। संतों के हृदयमें निवास करने वाला यह गुप्त रहस्य यहां खोल कर रख दिया गया है।" सत् के जिज्ञासु को सत् निमित्त रूप सत् पुरुष की भक्ति का उल्लास आये बिना रह नहीं सकता।

पहले तो उल्लास जागृत होता है कि अहो ! अभीतक तो असंग चैतन्य ज्योत आत्मा की वात ही नहीं वनी और सच्चे देव शास्त्र, गुरु की भक्ति से भी, अलग रहा। इतना समय वीत गया। इसप्रकार जिज्ञासुको पहलेकी भूलका पश्चात्ताप होता है और वर्तमान में उल्लास जागृत होता है। किन्तु यह देव, गुरु शास्त्र का राग आत्मस्वभावको प्रगट नहीं करता। पहले तो राग उत्पन्न होता है और फिर "यह रागभी मेरा स्वरूप नहीं है" इस प्रकार स्वभाव दृष्टि के बल से अपूर्व आत्मभान प्रगट होता है।

सच पूछा जाय तो देवगुरु शास्त्र के प्रति अनादि से सत्य समर्पण ही नहीं हुआ। और उनका कहा हुआ सुना तक नहीं। अन्यथा देवगुरु शास्त्र तो यह कहते हैं कि तुझे मेरा आश्रय नहीं है, तू स्वतंत्र है। यदि देव गुरु शास्त्र की सच्ची श्रद्धा की होती तो उसे अपनी स्वतंत्रता की श्रद्धा अवश्य हो जाती। देव गुरु शास्त्र के चरणो में तन मन धन समर्पण किये विना–जिस में सम्पूर्ण आत्मा का समर्पण समाविष्ट है–सम्यग्दर्शनज्ञान–चारित्र कहां से प्रगट होगा ?

अहो ! जगत को वस्त्र मकान धन आदि में बड़प्पन मालूम होता है परन्तु जो जगतका कल्याण कर रहे हैं ऐसे देव गुरु शास्त्र के प्रति भक्ति–समर्पण भाव उत्पन्न नहीं होता। उस के विना उद्धार की कल्पना भी कैसी ?

प्रश्न—आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है। फिर भी देव गुरु शास्त्र के प्रति शुभ राग करने के लिये क्यों कहते हैं ?

उत्तर—जैसे किसी म्लेच्छ को मांस छुड़ाने का उपदेश देने के लिए म्लेच्छ भाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है, किन्तु उससे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो जाता; उसी प्रकार सम्पूर्ण राग छुड़ाने के लिये उसे अशुभ राग से हटाकर देव गुरु धर्म के प्रति शुभराग करने को कहा जता है। (वहां, राग कराने का हेतु नहीं है, किन्तु राग छुड़ाने का हेतु है। जितना राग कम हुआ, उतना ही प्रयोजन है। राग रहे यह प्रयोजन नहीं है।)

उसके वाद "देव शास्त्र गुरु का शुभ राग भी मेरा स्वरूप नहीं है" इस प्रकार रागका निषेध करके वीतराग स्वरूप की श्रध्धा करने लगता है।

हे प्रभु ! पहले जिनने प्रभुता प्रगट की है, ऐसे देवगुरु की भक्ति, बड़प्पन न आवे और जगतका बड़प्पन दिखाई दे तबतक तेरी प्रभुता प्रगट नहीं होगी। देव गुरु शास्त्रकी व्यवहार श्रध्धा तो जीव अनन्तवार कर चुका परन्तु इस आत्माकी श्रध्धा अनन्तकाल से नहीं की है–परमार्थ को नहीं समझा है। शुभ रागमें अटक गया है।

★

★ सम्यग्ज्ञान की महिमा ★

सम्यग्दर्शन के न होने पर जो ज्ञान होता है वह कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहलाता है, वही ज्ञान सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है, इसीलिये यद्यपि ये दोनों साथ साथ होते हैं, फिर भी इनमें लक्षणों के भिन्न भिन्न होने का तथा कार्यकारण भावका अन्तर है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है।

अपना तथा पर वस्तुओंका जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसी से आत्मज्ञान तथा केवलज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक वस्तु और कोई नहीं है, तथा यही जन्म जरा और मृत्यु का नाश करता है। मिथ्यादृष्टि जीव के ज्ञान विना करोडो जन्म तक तप तपने से जितने कर्म नष्ट होते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के त्रिगुप्ति से क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। पहिले जो जीव मोक्षको जा चुके हैं, आगे जावेंगे और अभी विदेह क्षेत्रसे जा रहे हैं, यह सब सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव है। जैसे मूसलधार वृष्टि वनकी भीषण अग्नि को क्षणमात्र में नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान विषय वासनाओं को क्षण मात्र में नष्ट कर देता है।

पुण्य वा पाप तो पुद्गलकी पर्यायें हैं, रांहट की धरियों के समान उलटती पलटती रहती हैं। उनके फलों में हर्ष विषादि करना मूर्खता है। इसलिये सार वात तो यही है कि पुण्य पाप सहित संसारिक झंझटों से छूट कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

आत्मा और पर वस्तुओ का भेद विज्ञान उस सम्यग्ज्ञान का कारण है, इस लिये जैसे वने तैसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का त्याग कर तत्त्वाभ्यास द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि मनुष्यपर्याय, उत्तम श्रावककुल और जिनवाणी का श्रवण आदि सुयोग समुद्र में डूवे हुए रत्न के समान वार वार हाथ नहीं आते। इनको पाकर व्यर्थ ही गमा देना मूर्खता है।

[छह ढाला]

[शेष अगले पृष्ट से]

तरफसे) रु. १२५०१ इस संस्था को अर्पण करता हूं."

तदुपरांत उसी समय शेठानीजी प्यारकुंवरजीकी ओर से रु. १००१ की रकम शेठजीने जाहेर की किन्तु उसी रकम बढाकर शेठानीजीने अपनी ओर से रु. ५००१ जाहेर किया।

शेठजी बराबर ध्यान पूर्वक उत्साह से व्याख्यान सुन रहे थे। मोक्षमार्ग प्रकाशक का निश्चय-व्यवहार के संधि का व्याख्यान सुनकर वे व्याख्यान के बीच में जोर से बोल उठे थे कि—"महाराजजी! कोइ लोग तो कहते थे के आप व्यवहारका लोप करते हो, लेकिन मैं समझता हूं के आप तो निश्चय-व्यवहारका सच्चाज्ञान दीखलाते हो।"

"कर्म तो जड़ वस्तु है, वह आत्मा को कुछ भी नहीं कर सकता, आत्मा का पुरुपार्थ स्वतंत्र है, कर्म उसको रोक नहीं सकता; यह बात तो जिसको अनंत भव का नाश कर के एक ही भव में मुक्ति लेनी हो उसके लिये है।" इस तरह जब व्याख्यान में पू. गुरुदेव पुरुपार्थकी बात जोर पूर्वक कहते थे तब शेठजी बहुत उछल पड़ते थे और अेकबार तो सभामें बहुत जोर से बोल उठे कि—

'हमने जरुर मोक्ष लेना है—महाराजजी! पुरुपार्थसे ही मुक्ति होती हैं, हमारा महान पुण्यसे ही आपका जन्म हुआ है.'

और अेकबार परम पू. गुरुदेवकी समक्ष अत्यंत उल्लाससे एवं अंतरसे कहते थे कि—"जो जीव अत्यंत नीकट भव्य हो वही इधर आता हैं और जिनको अंतरमें आपकी यह बात बैठी वह एक दो पर्यायमें अवश्य मुक्त होता हैं।"

शेठजीकी खास इच्छा से वदी ७ के रोज रात को भक्ति रखने में आयी थी, और 'सीमंधर मुख थी फूलडां खरे, तेनी कुंदकुंद गूँथे माल रे...' यह स्तवन शेठजी के कहने से गाने में आया था कि जो सुनकर शेठजी अति प्रसन्न हुअे थे। तदुपरांत अन्य तीन स्तवन भी गाये गये थे।

तीसरी तारीख को सवेरे व्याख्यान के पहले आत्मधर्म मासिक के प्रचार के लिये रुपये १००१ की भेंट देते हुअे उन्होंने कहा कि—'महाराजजी का यह अद्भुत तत्त्वज्ञान तमाम दुनियामें सब भापामें प्रचार होवे ऐसी हमारी भावना है, और हिंदी भापा का बहोत प्रचार है इसलिये महाराजजी का वचन का गुजरातीमें जो पत्र नीकलता है और उनका जो हिंदीमें कोपी नीकलता है उनका प्रचार के लिये रु. १००१ मैं मदद करता हूं.'

व्याख्यान के बाद वे हमेशा अेक स्तवन बोलते थे। वैशाख वदी अष्टमी के दिन श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा का वार्पिक महोत्सव था। सवेरे श्री समयसारजी की रथ यात्रा निकली थी। शेठजी भी रथयात्रा में साथ साथ आये थे। पू. गुरुदेव जब आहार लेने पधारे थे, तब राणपुर के सेठ नारणदास करसनजी के घर शेठजीने आहार दान का लाभ उठाया था। दोपहोरको व्याख्यान के बाद सेठजी और सेठानीजीने साथ ही ज्ञानपूजा पढायी थी, पूजा करते समय उनके हृदय आनंद विभोर हो गये थे।

ता. चौथी की शामको और पांचवी की सुबह जो सम्यग्द्रष्टि जीव का परिणमन कैसा हो जाता है, उसके विपय में जो स्तवन बोले थे वह इसी अंकमें मुख पृष्ट पर दिया गया है।

हमेशा तात्त्विक चर्चा भी होती रहती, उस चर्चामें ता-४ को सेठजी एकदम उत्साह से बोल उठे थे— "मेरेमें तो आटला (इतना) ज्ञान नहीं हैं, शास्त्रका ऐसा रहस्य मैं नहीं जानता हूं, लेकिन अंतःकरणसे मैं कह देता हूं कि आपकी बात ही सच्ची है। मैं आपकी बात तो पहले आत्मधर्मसे सूनता था, किन्तु अब सभामें आया तब मुझे निश्चय हो गया है कि आप कहता है सोही सच्च है—और अपूर्व है।"

श्रीमंत शेठ सर हुकमीचंदजी का सुवर्णपुरीमें पूज्य सद्गुरुदेव के पास आगमन और परिचय वह सनातन जैनधर्म की महान प्रभावना का कारण हुआ है।

★

धर्म बंधुओ!

अध्यात्मज्ञान का यह पत्र 'आत्मधर्म' आपको भेट दिया जाता है, और ३ माह तक आपके पास भेट स्वरुप भेजा जाता रहेगा। यदि आपको यह पत्र पसंद आये तो आप इसकी वार्पिक मुल्य ३) तीन रुपया देकर ग्राहक हो जाइयेगा।

भवदीय,

जमनादास रवाणी

ATMADHARMA
Wth the permisson of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44
Regd. No. B.

सुवर्णपुरी में महामांगलिक महोत्सव

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी पीछले दस वर्षसे सनातन जैनधर्म की अद्भूत प्रभावना कर रहे हैं। उनके द्वारा अध्यात्म-ज्ञानका वहुत ही प्रचार हुआ है; इस अध्यात्मज्ञानके प्रचार से हिन्दुस्तान के कई भव्य जीवों को लाभ हुआ है! और इससे वहुत से मुमुक्षु उनके प्रत्यक्ष दर्शन और सत्संग का लाभ उठाते हैं। सनातन जैनधर्म के खास अनुयायी इंदोर के धर्मप्रेमी श्रीमंत शेठ सर हुकमीचंदजीने प. पू. गुरुदेव की तारीफ सुनी थी! और गुजराती 'आत्मधर्म' मासिक पत्र द्वारा उनके व्याख्यान आदि पढे थे। इससे उनको पू. गुरुदेव का प्रत्यक्ष परिचय करने की वहुत समय से भावना थी। पीछले चैत्र मास में वे आनेवाले थे। परन्तु संजोगवशात् वे आ न सके। अंतमें वैशाख वदी ६ (ता. १-६-४५) को प्रातःकाल में लगभग चार बजे वे मोटर द्वारा सोनगढ़ पधारे। वैशाख वदी ६ और ८ के दिनोंमें वार्षिक प्रतिष्ठा महोत्सव का प्रसंग होने से और शेठजी के आनेके समाचार सुनकर वाहरसे लगभग अेक हजार आदमी आये थे। शेठजी के साथ दानशीला शेठानीजी अ. सौ. कंचन बहेन, दानशीला शेठानीजी प्यार कुंवरजी [शेठजी के स्व. बंधु कल्याणमलजी की धर्मपत्नी] शेठ फत्तेचंदजी, मंत्री श्रीयुत गुलावचंदजी और हजारीमलजी मुनिम आदि थे।

वे आये उसी दिन सवेरे पहलीही वार पू. गुरुदेवका दर्शन करके उनको वहुत आनंद हुवा और पू. गुरुदेवका व्याख्यान सुनकर उनपर वहुत ही प्रभाव पडा। व्याख्यान में वे वोले-"कुंदकुंद भगवानने तो शास्त्र में सब कहा है किन्तु उसका रहस्य समझाने के लिये आपका जन्म है." जब व्याख्यान में सम्यग्दृष्टि का उल्लेख होता तब वे वहुत प्रसन्न होते और बार बार उत्साह से वोल उठते-'सम्यग्दृष्टि के विना कोई यह बात नहीं समज सकता, मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी जीव आपकी बात नहीं स्वीकार सकता, सम्यग्दृष्टि जैसे जीवो ही आपकी बात समज सकते है, हमको वहुत आनंद होता है" यह वाक्य को वे हमेशा व्याख्यान में अनेकबार उत्साहसे वोलते थे। सोनगढमें आये अभी उनको छ घंटे हुए थे और पू. गुरुदेव श्री का एक घंटेका परिचय हुआ था इतने थोडे समय में ता-१ को व्याख्यान के वाद उन्होंने अपनी ओर से स्वाध्याय मंदिर को ५००१ रुपये की सखावत जाहेर की और उनके साथी शेठजी फत्तेचंदजी ने भी ५०१ रुपये दिये।

व्याख्यान के वाद हमेशा वे कोई 'आध्यात्मिक पद गाते थे। ता-१ को व्याख्यान के वाद मंदिरजी, समोसरण मंदिर आदि देखा। समवसरण में श्री सीमंधर भगवान के सन्मुख श्री कुंदकुंद भगवान हाथ जोड़कर वंदन करते हुए खड़े हैं। यह द्रश्य देखकर आनंदित हुए थे और वैसा ही एक समवसरण इंदोर में वनानेका निश्चय किया है। इसलिये यहाँ के समवसरणका नाप व फोटो ले गये हैं।

वैशाख वदी ६ को श्री समवसरण मंदिरकी प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव था, प्रभुश्री की रथयात्रा निकली थी उसमें वे पधारे थे, वहां प्रभुश्री का पूजन आदि हुआ था।

ता. २ [वै.-वदी-७] सुवह तक पू. गुरुदेवश्री के तीन व्याख्यान सुनकर उनके हृदय में अपूर्व प्रभात पडा और अैसे अध्यात्म ज्ञानकी प्रभावना के लिये जितने भी प्रयत्न किये जाय उतने कम है, अैसा उन्हें अनुभव हुआ, उन्होंने जो कल ५००१ रूपये देना का निर्णय किया था, उस सखावत को बढ़ानेकी ईच्छा हुई; व्याख्यान के बाद उन्होंने कहा कि:-"अहो सभाजनो! आपका बडा भाग्य है कि आप सत्पुरुषके अध्यात्म उपदेशका बडी रुचिसे नित्य लाभ ले रहा हो। मैं तो तुच्छ आदमी हूं, आप तो वडे भाग्यवान हो। मैं तो अल्प लाभ ले सका हूं तो भी मेरा आनंदका क्या कहूं? यदि यह अध्यात्मज्ञान के लिये मेरा सब कुछ अर्पण किया जाय तो भी कम है। मैंने जो रकम कल कही है उनके लिये मैं फेर कहता हू कि यह संस्थाकी उन्नत्तिके लिये मेरे तरफसे रु. १२५०१ बारह हजार पांचसोएक और घरमेंसे (सेठाणीजी

[शेष पीछले पृष्ट पर]

मुद्रक—प्रकाशकः-जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड. पूनर्मुद्रण ता. ११-१०-४५

वर्ष १
अंक ३

संपादक:
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

श्रावण
२००२

महान सुभट !

अरेरे ! अनन्त काल में ऐसा अवतार मिला, और फिर भी चिदानन्द स्वरूप भगवान–आत्मा की पहचान न हुई ! अब कहाँ अवतार होगा ? कहाँ शरण मिलेगी ? आत्मा देह–मन–वाणी से पृथक् है इस का निर्णय नहीं करता और सत्समागम मिलने पर सुनने का अवकाश नहीं निकालता, वह दुष्ट है; अपने लिये स्वयं बे परवाह है। जो भगवान के मार्ग को नहीं समझते वे भव भय हीन 'सुभट' हैं ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान भी संसार से भयभीत हुये और स्व स्वरूप को पाकर संसार सागर से पार हो गये। जिस संसार से भगवान भी डरे उस संसार के भय से न डरने वाले सब उलटापन में महान सुभट है।

[परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के 'सत्तास्वरूप' पर व्याख्यान में से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक पांच आना

❀ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ काठियावाड ❀

आत्माकी अनादिकी सात भूलें

१. शरीर को अपना मानना। (यह जीव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

२. शरीर के उत्पन्न होने पर मैं उत्पन्न हुआ तथा शरीर के नाश होनेपर मैं नष्ट हुआ ऐसा मानना। (यह अजीव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

३. मिथ्यात्व रागादि प्रत्यक्षरूप से दुःखदायक हैं, फिर भी उनका सेवन कर सुख मानना। (यह आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

४. शुभ और अशुभ ये दो प्रकार के भावबन्ध हैं। स्वपद को विसार कर इनके फलमें रति या अरति करना। (यह बन्ध तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

५. वीतरागी विज्ञान आत्महित का कारण है, तथापि उसे कष्टदायक मानना। (यह संवर तत्त्व की विपरीत श्रध्धा है।)

६. शुभाशुभ भावकी इच्छा को न रोकना तथा आत्म शक्ति को व्यर्थ खोना। (यह निर्जरा तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

७. निराकुलता को मोक्ष का स्वरूप न मानना। (यह मोक्ष तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

(छहढाला की दूसरी ढाल की गाथा ३-५-६-७ के आधार से।)

भूल सुधार

[आत्मधर्म के दूसरे अंक के प्रथम संस्करण में १८ वें पृष्ठ पर सम्यग्दर्शन की अपार महिमा नामक लेखमें, छठा पेरेग्राफ निम्न प्रकार सुधार लेना.]

आयु बंधके पूर्व—सम्यक्त्वका धारक प्राणी मरण होने पर अगले भवमें नारकी, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, कर्म भूमिका पशु, हीनांग, नीचकुली, अल्पायु, और दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और वैमानिक देव ही होता है। नरकायु और तिर्यगायु का बंध पीछे सम्यक्त्व हो जाय और नरक भी जाय तो प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता, तिर्यंच भी हो तो भोग भूमि मात्रका तिर्यंच होता है। इस प्रकार इस सम्यग्दर्शनकी महिमा अपार है।

मुद्रक—प्रकाशक:—जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड. पुनर्मुद्रण ता. १९-१०-४५

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : ३

श्रावण
२००२

: आत्मधर्म :

अबुद्धस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्य भूतार्थम् ॥
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्य नवगीत सिंहस्य ॥
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

अर्थः-मुनिराज अज्ञ जीवों को समझाने के लिए असत्यार्थ व्यवहारनय का उपदेश करते हैं। परन्तु जो कोई मात्र व्यवहार नय को ही मानता एवं जानता है, उसे तो देशना देना ही व्यर्थ है। जैसे कि कोई सिंह को न जानता हो तो वह बिल्ली को ही सिंह मान बैठता है, इसी तरह जो निश्चय को न जानता हो तो वह व्यवहार को ही निश्चय समझ लेता है।

व्रतादि के छोड़ने से व्यवहार का हेयपना नहीं होता है-

प्रश्न-आप व्यवहारनय को असत्यार्थ और हेय कहते हैं तो फिर हम व्रत, शील, संयमादि व्यवहार कार्य किसलिए करते रहें? क्या इन सबका त्याग करदें?

उत्तर-व्रत, शील, संयमादि का नाम व्यवहार नहीं है, परंतु उसे मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है। ऐसी मान्यता तो त्यागने योग्य ही है। व्रत, शीलादि को बाह्य सहकारी होने से मोक्षमार्ग उपचारसे कहा है, परन्तु ये सब वस्तुएँ पर द्रव्याश्रित हैं। और सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है, जो स्वद्रव्याश्रित है। इसीलिए व्यवहार को असत्यार्थ एवं हेय समजना। इसलिए व्रतादि के छोड़ने से कोई व्यवहार का हेयपना नहीं हो सकता।

निचली दशा की प्रवृत्ति में शुभभाव को छोडने का फल

व्रतादि को छोडकर तू क्या करेगा? यदि हिंसादि रूप प्रवृत्ति करेगा तो महान् अनर्थ होगा। क्योंकि वहां तो उपचार रूप से मोक्षमार्ग की संभावना नहीं है। हिंसादि में प्रवृत्ति करने से तो उल्टा नरकादि पावेगा। इसलिए ऐसा करना अत्यन्त अयोग्य है। यदि व्रतादि परिणति को दूर करके वीतराग भाव परिणति को प्राप्त कर सके तो भले ही ऐसा कर। परन्तु निचली दशा में तो यह हो नही सकता। अतः व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्दी होना योग्य नहीं।

निश्चय व्यवहारनय का स्वरूप

सुख और उसका साधन

समयसारजी: कर्ता कर्म अधिकार

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामीका

तारीख १८-४-४५ व्याख्यान

प्रवचन

इस कर्ताकर्म अधिकार में आचार्यदेव ने कहा कि—हे भाई! तू चैतन्य स्वरूप आत्मा है। और यह कर्म तथा शरीरादि तो जड़ है, इस जड़का तू कर्ता नहीं है। तेरा स्वभाव जड़ कर्म से बिलकुल भिन्न है, किन्तु हमें तो तुझे यह बताना है कि जिस भाव से कर्म बंधते हैं उस भाव से भी तेरा स्वरूप भिन्न है। तू पहले अपने आत्मा को शरीरादि से और जड़ कर्मों से भिन्न मान। जड़ कर्म से पृथक् मानने पर यह धारणा दूर हो जायगी कि कर्म शुभाशुभ भाव कराते हैं। इस लिये तू कम से कम पहले अपने परिणामों का उत्तरदायित्व तो स्वीकार कर।

शुभाशुभ भाव जड़ कर्मों से नहीं होते, किन्तु तू अपने उल्टे भावों से उन्हें उत्पन्न करता है। इस प्रकार पहले तू अपने परिणाम को तो देख, फिर बाद में तुझे मालूम होगा कि तू शुभाशुभ परिणाम जितना भी नहीं है। तेरे त्रिकाली स्वरूप में क्षणिक शुभाशुभ भाव नहीं हैं; और जो क्षणिक शुभाशुभ भाव होते हैं वह परमार्थ से तेरा कर्तव्य नहीं है। उन शुभाशुभ परिणामोंमें तेरा आत्म सुख नहीं है। तू शुभाशुभ परिणाम रहित निराकुल आत्म स्वभाव को जान कर उसमें स्थिर हो जा तो तुझे आत्मसुखका अनुभव होगा। इसलिये पहले यह निश्चय करले कि मेरा सुख स्वभावभावमें है; जड़ में या विभाव भावमें मेरा सुख नहीं है।

मेरे भाई! तुझे सुखी होना है न! तू जिस सुख को चाहता है वह सुख तेरे ही आत्मा में होगा या शरीरादि पर पदार्थ में? आत्मा का सुख पर में नहीं हो सकता, किन्तु आत्मा में ही होता है। और इस सुखको प्रगट करने का उपाय भी आत्मा में ही होता है। जहां सुख होता है वहीं उसका उपाय होता है। यह तो हो नहीं सकता कि सुख आत्मा में हो और उपाय परमें हो! सुख और सुखका उपाय दोनों आत्मा में ही है। इसलिये शरीरादि की परवाह न करके भी आत्मा सुख प्राप्ति का उपाय करना चाहता है। वह सुखके लिये बिना द्वेष के शरीर त्याग के लिये भी तैयार होता है।

यदि यह श्रद्धा हो जाय कि आत्माका सुख और उसका उपाय आत्मा में ही है, तो आत्मा सुखके लिये पर को साधन ही क्यों माने? यह शरीर सुखका साधन नहि है, और रागद्वेष के भाव भी सुखके साधन नहि है, परवस्तु से तो आत्मा अलग ही है। इस लिये पैसा, शरीर आदि कोई भी परवस्तु आत्माके सुखका साधन नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु पुण्यपापका साधन भी पैसा आदि परवस्तु नहीं है। अपने परिणाम से ही पुण्यपाप होता है। इस लिये यदि सुख चाहिये तो पहले उस आत्म स्वभावको जानना चाहिये जिसमें सुख है। बाह्य वस्तुको सुखका साधन मत मान, इतना ही नहीं; किन्तु अन्तरमें जो दया या भक्ति के शुभरागरूप भाव हैं उन्हें भी आत्मसुख का साधन मत मान। आत्मा में सुख भरा हुआ है, और उस सुखस्वरूप आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान ही सुखप्राप्ति का उपाय है।

समाधि के समय यदि स्वरूपका लक्ष होगा तो शांति मिलेगी। आत्माकी शांति के लिये शरीर क्या काम करेगा, पुण्यका विकल्प भी आत्मशान्ति देने को समर्थ नही है। सुखके लिये शरीरको भी बिना किसी द्वेषके त्याग देना चाहिये। शरीर मेरे सुखका साधन नहीं है यह जानकर शरीर के प्रति जो राग है वह दूर हो जाना चाहिये। यदि शरीर त्याग के समय द्वेष हो आया तो मानना चाहिये कि शरीर में जो सुख बुद्धि है वह दूर नहीं हुई। इसी प्रकार शरीर त्याग के अवसर पर समाधि के समय यदि बाहर की ओर लक्ष पहूंचे कि अमुक भक्ति प्रभावना के कार्य बाकी रह गये हैं तो उसे भी अन्तरंग-आत्म शांति नहीं मिल सकती।

बाहर के कार्यों में निमित्त तो शरीर है, इस लिये जिसे बाह्य कार्यों का ध्यान है उसे अभी शरीर को टिका रखने के भाव हैं; अर्थात् उसने शरीर को अपने सुखका साधन मान रखा है। इस लिये उसे भी आत्माकी शांति नहीं मिल सकती।

शरीर के परमाणु छूट जाते हैं यह अपने ही कारण से वनता हैं, शरीर के परिणमन के साथ आत्मा के सुख का कोई संबंध नहीं है। शरीराश्रित कार्यों में अथवा उस के भावों में आत्मा का सुख नहीं है। शरीर के जाते हुये यदि अनुपयुक्त भाव उत्पन्न हो जाय तो वह आत्मा की शांति को रोकता हैं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि शरीर जिस क्षेत्रमें या जिस समय छूटना होगा वहीं और तभी छूटेगा ही किन्तु यह प्रसंग आने से पूर्व यह निश्चय करना चाहिये कि यह शरीर मुझ से भिन्न ही है, और शरीर की ओर जो द्वेष, भक्ति या प्रभावना के भाव उत्पन्न होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं हैं। शुभ विकल्पभी मेरे लिये लाभ दायक नहीं है। मेरा विकार रहित स्वरूप ही मुझे लाभदायक है, इसी में मेरा सुख है। इस प्रकारका ज्ञान-भान हुये विना स्व स्वरूप में से निराकुल शांति अंकुरित नहीं हो सकती।

भाई! तुझे तो सुख चाहिये है न? तो पहले यह निश्चय कर कि तेरा सुख तुझ में है या परमें? और उस सुख का साधन तुझ में है या परमें? पहली वात तो यह है कि आत्माका सुख आत्मासे अलग नहीं हो सकता, अर्थात् आत्माका सुख आत्मामें ही है, और उस सुखका उपाय भी आत्मा में ही है। क्यों कि जहां सुख होता है वहीं उसका उपाय भी होता है। अन्तर के सुखका साधन शरीरादि पर पदार्थ तो क्या होंगे; वाह्य निमित्त से उत्पन्न होनेवाले शुभभाव भी अन्तर के सुखका साधन नहीं है। इसलिये स्वाश्रय स्वभाव की ओर दृष्टि करके पराश्रय भाव का त्याग कर, उस ओर से दृष्टि को वदल दे। मेरा सुख और उसके साधन मुझमें है; किसी परमें मेरा सुख या उसके साधन नहीं है। परके लक्ष से जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह पराश्रय भाव है, उसमें मेरा स्वाश्रयी सुख नहीं है। इस प्रकार आन्तरिक निश्चय होने पर सर्व परका आश्रय दूर हो गया और दृष्टि से पराश्रय भाव छूट गया मानना चाहिये।

इस शरीर में शांति कहां से? शांति तो आत्मामें है। देखो न! यह शरीर तो क्षणमें छूट जाता है; प्रत्येक क्षणमें जगत के जीवोंका मरण हो ही रहा है। जगत के जीवोंका इसप्रकार मरण देखकर धर्मात्माओ को संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और स्वरूप की पूर्णता की भावना वढ़ती है। आचार्य भगवान कहते हैं कि— अहो! यह संसार (शुभाशुभवृत्तियां) क्षणिक है, इसमें आत्मशांति नहीं है। हम एक क्षण भी संसार भाव में नहीं रहना चाहते। हम तो इसी क्षण संसार के समस्त भावोंसे मुक्त होकर आत्म स्वरूप में लीन होना चाहते हैं।

[ज्ञानियों को समस्त संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, इस लिये वे संसार के किसी भी भावको नहीं चाहते। वे उस भाव को भी नहीं चाहते जिस भाव से स्वर्ग मिलता है और उधर अज्ञानी को नरकादि के दुःखों के भय से वैराग्य होता है, इस लिये उस के अंतरंग से स्वर्गादि गति की रुचि दूर नहीं होती; इस लिये उसका वैराग्य सच्चा नहीं होता। यदि वैराग्य सच्चा हो तो जिस भाव से संसार मिले और केवलज्ञान रुक जाय वह भावका आदर नही होता]

★

अन्तर स्वरूप के भान सहित ज्ञानी जव गृहस्थ दशा में होता है तव अस्थिरता के कारण शुभाशुभ वृत्तियां हो जाती है, ज्ञानी जन उसे इष्ट नहीं मानते, किन्तु उन्हें छोड़कर संपूर्णतया स्वरूप में स्थिर होने की ही भावना होती है। क्षणभर पहले

❀ पुरुषार्थ की स्वतंत्रता ❀

जीवन के क्षणों में मरण के क्षणों को एकमेक करके जो संधि करता है उसे मरण के समय समाधि ही होती है।

पूर्व में वहे हुये संस्कार यदि वर्तमान में उतर आये तभी व्यवहार में यह कहा जा सकता है। कि पूर्व संस्कार लाभकारी सिद्ध हुये। वास्तव में तो वर्तमान पुरुपार्थ पर ही आधार है। वर्तमान में स्वयं मंद या तीव्र पुरुपार्थरूप परिणमन करना अपनी वर्तमान रुचि के आश्रित हैं। वास्तव में वर्तमान पुरुपार्थ के लिये पूर्व संस्कार हानि या लाभ नहीं करते; क्योंकि वर्तमान पर्यायका उत्पाद पूर्व पर्यायके व्यय सहित होता है। इस न्याय में पुरुषार्थ की स्वतंत्रता वताई गई हैं।

धरती में शाक के वीज वो देने पर आदमी यों मान लेता है कि अव मुझे शाक की कमी नहीं रहेगी; उसी प्रकार आत्मा श्रद्धा-दर्शनादि रूप वीज वोये जाने पर यों निःशंक हो जाता है कि अव अल्पकालमें ही पूर्ण पर्याय प्रगट हो जयगी।

भक्ति, प्रभावना, और दान इत्यादि के भाव तथा उल्लास होता है और दूसरे क्षण में शरीर त्याग कर दूसरा भव धारण हो जाता है; इस प्रकार के वैराग्य के निमित्त देखकर धर्मात्मा के पूर्णता की भावना उछलने लगती है कि-अरेरे ! हमारे केवलज्ञान का वियोग है। हमारी परिपूर्ण सिद्ध दशा का भी विरह है। अब हम इस समस्त संसार को छोड़कर अपने पूर्णानन्दकी साधना करेंगे। हमारा परिपूर्ण साध्य और साधन दोनों अंतर में हैं; हमारी साधना अंतर में समाविष्ट है। हम अन्तर साधन के द्वारा अपने साध्य की सिद्धि करेंगे।

ओफ् ! यह संसार ! धिक्कार है इस संसार भाव को ! हमारा परम पवित्र परमात्मपद अन्तर में मौजूद है। उसकी रुचि और भान होने पर भी यह अस्थिरता कैसी ? अरे ! हमें अपने ही सिद्धपद का विरह कैसा ? इस प्रकार धर्मात्मा अपनी सिद्ध दशा के विरह से अन्तर में एकदम कलकली उठता है-अर्थात् परिपूर्ण पुरुषार्थ की भावना करता है।

अरे ! हमारे परिपूर्ण स्वरूप में यह विकल्प नहीं हो सकता। हमारे स्वरूप में कोई व्यवधान कैसा ? यह संसार तो क्षणभंगुर है। इसमें संयोग वियोग होता ही रहता है। इसलिये इस शरीर का वियोग होता तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। परन्तु अपने पूर्णानन्द स्वरूपका विरह हमसे नहीं सहा जा सकता। [धर्मात्मा को शरीर के वियोग का दुःख जरा भी नहीं है; किन्तु अपनी पूर्णानन्द सिद्धदशा का विरह का वेदन है]

हमारे सुखका साधन शरीर तो क्या पुण्य पाप उद्भूत विकल्प भी हमारे सुखके साधन नहीं हैं। हमारा पूर्णानन्दी साध्य और उसका साधन दोनों अन्तर में मौजूद है। यद्यपि हमारा साध्य और साधन दोनों अन्तर में हैं, फिर भी दोनों के बीच किसी भी प्रकार का अन्तर हमारे लिये असह्य हो जाता है। इस प्रकार धर्मात्मा को मोक्षदशा के लिये अन्तरंग में आकुलता रहती है। अज्ञानी जीव शरीर के वियोग में हायतोबा करता है और ज्ञानी जीव मोक्षदशा के वियोग में आकुलित होता है। आत्म स्वरूपका भान होने पर ज्ञानियोंको भी अस्थिरता के कारण कभी कभी अशुभ भाव हो जाते हैं और अशुभ भावसे बचने के लिये देव गुरू धर्मकी भक्ति प्रभावना की शुभवृत्ति भी जागृत हो उठती है; परन्तु उन अशुभ या शुभ दो में से एक में भी हमारी आत्मा के सुखका साधन नहीं है, प्रत्युत वे दोनों प्रकारकी वृत्तियां आत्मस्वरूप के सुखको रोकती हैं।

हमारे अन्तरंग स्वरूपका साधन बहिर्मुखी भाव में नहीं किन्तु हमारे अन्तरंग स्वभाव में ही हैं। इस स्वभावके बलपर पूर्ण साधनो को प्रगट करके अपना परिपूर्णसाध्य अशरीरी सिद्ध दशा को प्रगट कर लेंगे ! पुण्य और पाप दोनों में आकुलता है, परेशानी है; उसमें मेरा साधन नहीं है; मेरा साधन तो धर्मस्वरूपज्ञायक, निराकुल, एकमात्र भगवान आत्मा ही है। इस प्रकारकी श्रद्धा और ज्ञानके बिना आत्मसुखके लिये अन्य किसी भी वस्तुका अवलंबन सहायक नहीं है।

अरे ! अनन्तकालमें यह मनुष्य देह मिली, और यहां तक आया, सच्चे देवगुरु धर्म की प्राप्ति हुई; फिर भी यदि चिदानन्द ज्ञानमूर्ति आत्माका भान प्राप्त करके भव का अभाव नहीं हुआ—जन्म मरण का नाश नहीं हुआ तो मनुष्य अवतार पाकर तूने क्या किया ? हे भाई ! स्वाधीन आत्मस्वरूप की श्रद्धा अनुभव और अन्तरवेदन के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव या शरीर कुटुम्ब आदि कोई पर वस्तु शरणभूत नहीं हो सकती। शरीर तो अनन्त जड़ रजकणो का पिण्ड है। उसके प्रत्येक परमाणु का परिणमन स्वतंत्र है। ऐसी स्थिति में किसे तो कुटुम्ब कहा जाय और किसे शरीर ! जड़ के परिणमन में संयोग वियोग तो होता ही रहता है। यह तो उसका स्वभाव है। त्रिकाल में भी किसीकी परिणमन पराश्रित नहीं है।

जो शुभाशुभ भाव होता है वह कोई कर्म या शरीर नहीं करवाता किन्तु वह केवल अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होता है। आत्मा स्वयं ही ऐसा भाव पर लक्ष से बना लिया करता है। तू अपने परिणाम की ओर देख तो मालूम होगा कि कोई भी शुभाशुभ भाव एक से स्थिर नहीं रहते। चाहे जैसा भाव हो; वह क्षण भर में बदल जाता है, और नया भाव उत्पन्न हो जाता है। अन्तरंग में जो शुभ या अशुभ भाव पैदा होता है, वह कम बढ होता ही रहता है, किन्तु उन भावों को जानने वाला आत्माका ज्ञान तो निरंतर एक सा ही बना रहता है। ज्ञान सदा आत्मा के साथ रहता है और पुण्य पाप के भाव प्रति क्षण बदलते रहते हैं, इसलिये ज्ञानी जानता है कि—

ज्ञान-मेरा स्वरूप है, और उसी में मेरा सुख है। परन्तु जो शुभाशुभ भाव होते हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है, और न उसमें मेरा सुख ही निहित है। पुण्य पाप के भाव विकारी और खण्डखण्ड है जब कि मेरा ज्ञान स्वभाव निरंतर निर्विकार अखण्ड है; और यही मेरा सुखका साधन है। मेरे सुख का साधन के लिये मुझे शरीरकी या किसी भी शुभाशुभ वृत्ति की सहायता ही नहीं है; मैं ही अपने सुखका साधन हूं और मुझमें ही मेरा सुख निहित है। ★

स्व भा व की दृ ढ ता

" मेरा सुख मुझ में ही है; मुझे अपने सुखके लिये किसी परवस्तु की आवश्यक्ता नहीं है " इसप्रकार आन्तरिक दृढता होनेपर परकी ममता छूट जाती है। जो परको अपना मानता है वह चौरासी में भटकने रूप दुःख को आमंत्रण देता है।

स्वभावकी रुचि, श्रद्धा या दृढता के विना त्रिकालमें भी धर्म नहीं होगा। यदि तुझे धर्म करना हो तो यह दृढ विश्वास कर कि कोई भी परवस्तु तेरी नहीं है। इस प्रकार 'स्व' की दृढता होने पर 'पर'की दृढता हट जाती है।

अभी तक के अनन्तकाल में जीव किसी का भला-बुरा नहीं कर सका है, हां अपने द्वारा अपनी ही हानि करता रहा है। यदि अपनी हानि नहीं की होती तो जन्म मरण नहीं होता। सत् की रुचि के विना स्वभाव की रुचि नहीं आ सकती; और न परकी रुचि दूर ही हो सकती है और जिसे स्वभावकी रुचि नहीं है उसे परकी भावना हुये विना नहीं रह सकती। ★

अस्ति नास्ति का सुदर्शनचक्र धारण करने वाले ★ जैन क्या मानता है? ★

जैन कर्मवादी नहीं है :

कर्म तो जड़ है, जैन जड़वादी नहीं, किन्तु आत्मस्वभावके माननेवाले हैं। आत्माका चैतन्य स्वभाव है, उस स्वभाव में जड़कर्म तो क्या रागद्वेष भी नहीं है। इस लिये इतना तो निश्चित हुआ कि जैन लोग जड़ कर्मवादी नहीं हैं। और जो पुण्यपापका विकार भाव होता है उसे भी जैन आत्माका स्वभाव नहीं मानते। इस प्रकार जैन विकारवादी भी नहीं हैं। जैन तो परिपूर्ण पवित्र चैतन्य आत्मस्वभावको माननेवाले हैं। और उस आत्मस्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान तथा स्थिरता ही धर्म है। जो शुभाशुभ विकल्प उठते हैं वह धर्म नहीं है। पुण्यपाप पराश्रय हैं, और धर्म स्वाश्रय स्वभावी है। पराश्रय भाव में धर्म मानलेना जिनेश्वर देवने मिथ्यात्व कहा है।

(१६-४-४५ की चर्चा के आधार पर)

कर्म आत्माको पुरुषार्थ करने से नहीं रोक सकता:

जिन्हें यह ज्ञान नहीं हैं कि कौन सा कार्य जड़ करता है और कौन सा चेतन वे दो प्रकारकी भूलें करते हैं। (१) मैं परवस्तु का कार्य कर सकता हूँ, (२) कर्म आत्माको पुरुषार्थ करने से रोक सकता है। जो यह मानते हैं कि मैं जड वस्तुओं का काम कर सकता हूं, और मैं पुरुषार्थ से उन्हें प्राप्त कर सकता हूं या छोड सकता हूं, अर्थात जड़के कार्योंमें आत्माका पुरुषार्थ चल सकता है, वे 'जडवादी' हैं क्यों कि वे आत्माको जडका कर्ता मानते हैं। वह जीव जैन धर्म के स्वरूप को ही नहीं जानता।

यों माननेवाले जीव अज्ञानी हैं कि-अपने भवितव्य में मुक्ति हो तो पुरुषार्थ जागे और कर्म की शक्ति कम हो तो आत्मा में पुरुषार्थ जागृत हो एवं कर्मोदय के अनुसार पुरुषार्थ होता है। उन्हें अज्ञानी कहने का कारन यह है कि वे मानते हैं कि आत्मा का पुरुषार्थ और मुक्ति जड़ कर्माधीन हैं। वे 'कर्मवादी' हैं। और चूं कि कर्म जड़ हैं इस लिये वे भी जड़वादी हैं; वे आत्मस्वभाववादी नहीं हैं और न जैन हैं।

जो यह नहीं जानते कि जड़ कहां कार्य करता है और चैतन्य का पुरुषार्थ कहां कार्य करता है वे अज्ञानी हैं। कर्म और पुरुषार्थ का स्वरूप क्या है, और वह कहां किस प्रकार कार्य कर सकते हैं, यह निम्न प्रकार है—

कर्म=आत्मा के द्वारा पूर्व कृत शुभाशुभ भावों का निमित्त पाकर जड़ परमाणुओं का आत्मा के साथ अमुक काल तक संयोग रहता है उन परमाणुओं को 'कर्म' कहते हैं। वे जड़ हैं।

पुरुपार्थ=आत्मा के वीर्य गुणकी दशा को आत्माका पुरुषार्थ कहा है।

अब यहां यह बताया जाता है कि कौनसी क्रिया आत्मा के पुरुषार्थ के आधीन है और कौन सी कर्माधीन ?—

संसार में होनेवाले परवस्तुओं के संयोग वियोग के कार्य कर्मोदयानुसार होते हैं। जैसे पैसा मिलना, स्त्री मिलना, शरीर स्वस्थ रहना इत्यादि जड़ के संयोग वियोग के तमाम कार्य अघातिया कर्म के उदयानुसार होते हैं, आत्मा यह कार्य नहीं कर सकता। जो यह मानता है कि बाह्य सामग्री को मैं अपने वर्तमान पुरुपार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकता हूं, अथवा मैं उसे व्यवस्थित रख सकता हूँ, वह मानो यह मानता है कि अपना पुरुपार्थ जड़ में हो सकता है। उस लिये वह 'जड़वादी' है। उसे वस्तु स्वभावकी खबर नहीं है।

मोक्षप्राप्ति के लिये आत्माका पुरुपार्थ कार्य कर सकता है। मोक्ष साघन में पुरुपार्थ उपादान कारण है, और जब पुरुषार्थ किया जाता है तब सम्यग्ज्ञानियों का उपदेश और सत्समागम आदि निमित्त रुप होता है। मोक्ष तो आत्माके स्वतंत्र पुरुपार्थ से ही होता है। जो सत्य पुरुपार्थ करता है उसकी मुक्ति हो जाती है। और जो सत्य पुरुपार्थ नहीं करता उसकी मुक्ति नहीं होती। सत्य पुरुपार्थ करते हुये आत्मा का जो शुद्धता रूपी कार्य प्रगट होता है वही भवितव्य हैं। मोक्ष संबंधी कार्य पुरुपार्थ के अनुसार होता है, उसमें कर्म का कोई वश नहीं चलता। आत्म पुरुपार्थ स्वतंत्र है। जहां पुरुपार्थ नहीं किया जाता वहां भवितव्य भी नहीं होता। मुक्ति रूपी कार्य पुरुपार्थ से ही प्रगट होता है।

[चर्चा के आधार से]

जो पुरुपार्थ को नहीं मानते, वे आत्माको ही नहीं मानते:

आत्मा में अनन्तगुण है; उनमें वीर्य—पुरुपार्थ भी एक गुण है। वीर्यगुण अनादि अनंत है। आत्मा त्रिकाल वीर्य स्वरूप है। वह पुरुपार्थ गुण प्रतिसमय अपना कार्य कर ही रहा है। अर्थात् प्रतिसमय सीधा या उल्टा पुरुषार्थ किया ही करता है। यदि बिना पुरुपार्थ के एक समय भी बीत जाय तो त्रिकाली द्रव्य के अभावका प्रसंग उपस्थित हो जाय। यदि एक समयके लिये भी पुरुपार्थ रूपी अवस्था न हो तो ऐसी परिस्थिति में गुणका ही अभाव हो जायगा और गुणका अभाव होनेपर द्रव्य ही नहीं रहेगा। इस प्रकार जो पुरुपार्थ को स्वीकार नहीं करता, मानो वह द्रव्य को ही स्वीकार नहीं करता। क्योंकि द्रव्य त्रिकाल है, और उसमें पुरुपार्थ भी त्रिकाल है; और वह गुण प्रत्येक समय अपना कार्य करता ही रहता है। गुण के बिना अवस्था नहीं होती और गुण बिना गुणी भी नहीं होता।

जो जीव अवस्था को स्वीकार नहीं करता वह मानो गुण को भी स्वीकार नहीं करता। और गुण के अभाव में गुणी का भी अभाव हो जायगा। इस लिये जो स्वतंत्र पुरुपार्थ को नहीं मानता और पुरुपार्थ को कर्माधीन मानता है, वह सारे त्रिकाली द्रव्य को ही नहीं मानता। ऐसी दशा में—समस्त द्रव्य को नहीं मानने का फल अनन्त संसार ही है, इस लिये जो पुरुपार्थ को नहीं मानता वह जीव अनन्त संसारी है। जैनधर्म वस्तु के परिपूर्ण स्वभाव को मानता है, और वस्तु के परिपूर्ण स्वभाव में पुरुपार्थ भी परिपूर्ण ही होता है। इसका मतलब यह है कि जैन परिपूर्ण पुरुषार्थ को माननेवाले-स्वभाववादी हैं। (मोक्षमार्ग प्र. के व्याख्यान से)

जैन त्याग प्रधान नहीं है:

कितने ही लोग केवल त्याग से जैनधर्म की महत्ता मानते हैं; किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। जैनधर्म की मुख्यता है अनेकान्त। त्याग तो नास्ति रूप है, अस्ति स्वरूप के बिना नास्ति रूप हो ही नहीं सकता। अर्थात् मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं यह जाने बिना त्याग किसका ? परवस्तु के त्याग का कर्तृत्व आत्मा को नहीं है क्योंकि परवस्तु आत्मा से अलग है।

आत्म स्वभाव के श्रद्धा ज्ञान और स्थिरतारूप अस्ति के बल पर जो परभाव रूप विकार का त्याग है, उस का नाम 'नास्ति' है। आत्मा के अस्ति स्वरूप की भान हुये बिना रागादि की नास्ति नहीं हो सकती। अस्ति नास्ति स्वरूप अनेकान्त ही जैनधर्म की प्रधानता है। अर्थात् केवल त्याग जैनधर्म की प्रधानता नहीं है। किन्तु वस्तु स्वरूप की स्व से परिपूर्णता, प्रत्येक द्रव्य की पृथक्ता—स्व से अस्तिपन और पर से नास्तिपन रूप जो स्वभाव है वही जैनधर्म की प्रधानता है।

(२८-५-४५ के व्याख्यान से)

★

पंच परमेष्ठि का स्वरूप

णमो अरिहंताणं । णमो सिद्धाणं ।
णमो आयरियाणं । णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्व साहूणं ॥

यह प्राकृतभाषामय नमस्कार मंत्र है। यह महामंगल स्वरूप है। इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

नमोऽर्हद्भ्यः । नमः सिध्धेभ्यः । नमः आचार्येभ्यः । नमः लोके सर्व साधुभ्यः ।

अर्थ:—लोक में वर्तमान सर्व अरिहन्तों को, सिध्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को और साधुओं को नमस्कार हो। इस तरह इसमंत्र में पंचपरमेष्ठि को नमस्कार किया गया है। इसी लिए इसे नमस्कार मंत्र कहा है।

इस मंत्र में जिनको नमस्कार किया गया है, अब उनके स्वरूप की विचारणा करते हैं। क्योंकि स्वरूप के जाने बिना यह मालूम नहीं हो सकता कि हम किनको नमस्कार करते हैं। और बिना इस ज्ञान के उत्तम फल की प्राप्ति होवेगी ही कैसे ? अतः प्रथम अरिहन्त के स्वरूप का विचार करते हैं—

अरिहंत का स्वरूप—

जो गृहस्थपने को छोड़कर मुनिधर्म को अंगीकार कर निज स्वभाव साधनों के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय कर अनन्त चतुष्टय विराजमान भये वे अरिहंत हैं। वे अनन्तज्ञान के द्वारा अनन्त गुण पर्यायों सहित समस्त जीवादि द्रव्यों को विशेषरूपसे—प्रत्यक्षरूप से युगपद् जानते हैं। अनन्त दर्शन से वे उपरोक्त जीवादि को ही सामान्य रूपसे अवलोकते हैं। अनन्त वीर्य से वे उपर्युक्त सामर्थ्य को धारते हैं तथा अनन्तसुख द्वारा वे निराकुल परमानन्द का अनुभव करते हैं।

पुनरपि सर्व रागद्वेषादिक विकार भावों से रहित होकर जो शान्तरसरूप परिणमित हुए हैं, क्षुधा, तृषादि समस्त दोषों से मुक्त होकर जो देवाधिदेवपने को प्राप्त हुए हैं। शस्त्र, वस्त्र, अंगविकार आदि निन्द्य क्रोधादि भावों के चिन्हों से सर्वथा रहित परम औदारिक जिनका शरीर है, जिनके वचनों से संसारमें धर्म-तीर्थ प्रवर्तित होता है, जिनकी कृपा से अन्य जीवों का कल्याण होता है, लौकिक जीवों के ये प्रभु हैं, इस आशय को प्रदर्शित करने वाली अनेक अतिशयरूप समृद्धि के जो धारक है। तथा स्वकल्याणार्थ गणधरादि मुनि और इन्द्रादि उत्कृष्ट जीव जिनकी सेवा करते हैं। ऐसे सर्व प्रकार से उत्कृष्ट सतत पूज्य श्री अरिहंतदेव को हमारा नमस्कार हो।

सिद्ध का स्वरूप

अब श्री सिद्ध प्रभु के स्वरूप का कथन करते हैं-जो गृहस्थावस्था का त्याग कर, मुनि धर्म के साधनद्वारा चार घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त चतुष्टयरूप अलौकिक वैभव को प्राप्त करके, कुछ काल पश्चात् चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर परम औदारिक (क्योंकि इस शरीर में निगोद जीव रहते नहीं, धातु, उपधातु सर्व निर्मल कपूर के समान हो जाती हैं) शरीर को त्याग ऊर्ध्वगमन स्वभाव द्वारा लोक के अग्रभाग में पहूंचकर विराजमान हुए हैं, वहाँ सम्पूर्ण परद्रव्यों के सम्बन्ध के अभाव के कारण जिन्हें सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हुई है, चरम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकारवत् जिन के आत्मप्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ है, प्रतिपक्षी कर्मों का नाश करने से समस्त ज्ञान दर्शनादि आत्मिक गुणों की सम्पूर्ण रूप से जिन्हें प्राप्ति हुई है, भाव कर्मों के अभाव से शुद्ध निराकुल आनन्दमय अवस्था को प्राप्त किया है, पुनः जिनका ध्यान करी भव्य जीवों को स्वद्रव्य परद्रव्य का और उपाधिक भाव स्वभावनीका विज्ञान होता हैं ताकरि सिद्ध के समान आप होने का साधन होता है तातैं साधने योग्य जो अपना शुद्ध स्वरूप ताके दिखावने को प्रतिबिम्ब समान है।

ऐसे पूर्ण आत्मिक विकास रूप सम्पत्ति के धारी श्री सिद्धप्रभु को हमारा नमस्कार हो।

अब श्री आचार्य, उपाध्याय तथा साधु के स्वरूप का अवलोकन करते हैं—

आचार्य, उपाध्याय एवं साधु का स्वरूप—

जो वैराग्ययुक्त हो कर, समस्त परिग्रह का त्याग कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को अंगीकार कर शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मा में ही आत्मा का अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, अपने ज्ञानादि स्वभाव को ही अपना मानते हैं, परभाव में ममत्व नहीं करते हैं, स्वज्ञान में प्रतिभासित परद्रव्य एवं परस्वभाव को जानते तो हैं परन्तु इष्ट, अनिष्ट मानकर उनमें रागद्वेष नहीं करते हैं, शरीर की अनेक अवस्था होने पर भी बाह्य नाना निमित्तों

के मिलने पर भी जो किंचित् भी सुख दुःख का अनुभव नहीं करते हैं, जिनकी वाह्य क्रिया स्वयं यथेष्ट प्रवर्तित होती है परन्तु वे क्रिया की तरफ लक्ष्य रखकर खेंचतान नहीं करते हैं, जो अपने उपयोग को व्यर्थ भ्रमित नहीं करते, मात्र तटस्थ हो कर निश्चलवृत्ति धारण करते हैं, मन्दराग के कारण शुभोपयोग भी होता हैं। तिसकरी शुद्ध उपयोग के वाह्य साधनों में कभी अनुराग भी करते हैं परन्तु इस रागभाव को भी जो हेय जानकर त्यागने का प्रयत्न करते हैं, तीव्र कषाय के उदय के अभाव के कारण हिंसादि अशुभोपयोग का तो जिनमें अस्तित्व ही नहीं है, जो पूर्ण वाह्यदिगम्बररूप सौम्य मुद्राधारी हुए हैं, शरीर संस्कार (सजाना) आदि की क्रिया से जो निवृत्त हो गये हैं, एकान्त वनखण्डादिमें जो रहते हैं, जो अठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं जो वाईस परिषहों को सहते हैं, वारह प्रकार के तप को जो आदरते हैं, समयानुसार ध्यान मुद्राधारी प्रतिमावत् निश्चल रहते हैं तथा कभी अध्ययनादि वाह्य क्रियाओं में प्रवर्तित होते हैं, किसी समय मुनिधर्म पालन में सहकारी जो यह शरीर, उसकी स्थितिके अर्थ योग्य आहार विहारादि क्रिया में सावधान होते हैं। इस प्रकार से सर्व जैन मुनियों की यही अवस्था होती है।

इस मुनिसंघ में सम्यग्ज्ञान, चारित्र की अधिकता के कारण प्रधानपद प्राप्त कर जो संघ के नायक वने हैं, मुख्यरूप से जो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही निमग्न हैं, परन्तु धर्म लोभी योग्य किसी जीव को देखकर करुणावश कभी कभी उपदेश भी देते हैं, दीक्षा ग्राहक को दीक्षा देते हैं, जो शिष्यादि स्वदोष को प्रगट करे उसे प्रायश्चित दे कर शुद्ध करते हैं। इस तरह आचार पालने वाले तथा पलवाने वाले श्री आचार्य महाराज को हमारा नमस्कार हो।

जो मुनि अधिक जैनशास्त्रों का ज्ञाता होकर संघ में पठन पाठन के अधिकारी वने हो, समस्त शास्त्रों के प्रयोजनभूत अर्थ को जानकर एकाग्र होकर जो अपने स्वरूप को ध्याते हैं, कभी कभी कषाय-अंश के उदय से यदि ध्यान में तन्मयता न रहे तो शास्त्रादि के अध्ययन में लग जाते हैं या अन्य धर्मबुद्धि वाले को अध्ययन कराने लगते है। ऐसे समीप वर्ती भव्य जीवों शास्त्र ज्ञान प्रदाता श्री उपाध्याय परमेष्ठि को हमारा नमस्कार हो।

इन दो पदवीधारकों के अनन्तर अन्य समस्त मुनि पदका धारकै वह समस्त मुनि आत्म स्वभाव को साधते हैं, इसी लिये उन्हे साधु कहते हैं। इष्ट अनिष्ट मानकर अपना उपयोग परद्रव्यों में न फंस जाय ऐसी निरंतर सावधानी रखते हैं। वाह्य साधन रूप तपश्चरणादि क्रिया में निरत रहते हैं कभी भक्ति, वन्दना आदि क्रिया में निरत होते हैं, ऐसे आत्मस्वभाव के साधक साधु परमेष्ठि को हमारा नमस्कार हो।

इस तरह अरिहन्तादि का स्वरूप वीतराग विज्ञानमय है। इसीलिए अरिहन्तादि स्तुति योग्य है—महान् हैं। जीव तत्त्व की समानता से तो सभी जीव समान हैं, परन्तु रागादिक विकार के कारण से वा ज्ञानकी हीनता के कारण से जीव निन्दने योग्य होता है। पुनः जीव रागादिकी हीनता वा सम्यग्ज्ञानकी विशेषता का कारण से स्तुति योग्य होता है। सो अरिहंत और सिद्ध भगवान के तो संपूर्ण रागादिक का अभाव है और ज्ञानकी विशेपता होने से संपूर्ण वीतराग विज्ञानभाव संभवे है।

इसमें भी विशेष ज्ञातव्य यह है कि अरिहंतादि पदमें भी मुख्यरूप से तो श्री तीर्थंकर का तथा गौणरूप से सर्व केवलियोंका अधिकार है।

चौदहवें गुणस्थान के अनन्तर सिद्ध नाम जानना।

यह भी ज्ञातव्य है कि जिसे आचार्यपद प्राप्त हो जावे वह चाहे संघमें रहे चाहें एकाकी रहकर आत्मध्यान करे या एकल विहारी हो, आचार्यों में भी प्रधानता प्राप्त कर चाहे गणधरपद का धारक हो, परन्तु इन सबको आचार्य ही कहा जावेगा।

पठन पाठन तो अन्यमुनि भी करते हैं परन्तु जिसे आचार्य द्वारा उपाध्यायपद प्राप्त हुआ हो वह आत्मध्यानादि करते समय भी उपाध्याय ही कहा जाता है। जो पदवी धारक नहीं वे सब साधु संज्ञा के धारी हैं।

यहां ऐसा कोई नियम नहीं कि पंचाचार के पालने से ही आचार्य पद होता है, पठन पाठनादि द्वारा ही उपाध्याय पद होता है, या मूल गुणों के साधने से ही साधु होता है। क्योंकि उपर्युक्त वातें तो सर्व साधुओं में समान हैं। समरूढनय की अपेक्षा से आचार्यादिक नाम जानना चाहिए।

यहां सिद्ध भगवान के पहले अरिहन्त भगवान को नमस्कार किया इसका क्या कारण है? इस शंका का समाधान इस प्रकार है।

अरिहन्त प्रभु को प्रथम नमस्कार करने का कारण—

अपने प्रयोजन को साधने की अपेक्षा से ही किसी को नमस्कार किया जाता है। अरिहन्त भगवान से उपदेशादि का प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, इस लिए उन्हें प्रथम नमस्कार किया जाता है।

इस तरह अरिहन्तादि के स्वरूपका चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि स्वरूप चिन्तवन करने से कार्य की विशेष सिद्धि होती है। इन अरिहन्तादि को पंच परमेष्ठि भी कहते हैं। जो परमपद में अवस्थित हो उसे परमेष्ठि कहते हैं। इन पाँचो के समाहार-समुदाय का ही नाम पंचपरमेष्ठि है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

★

श्रुत पंचमी ★ परम पूज्य सद्गुरुदेव का प्रवचन

ज्ञान स्वभावी आत्मा है। वह ज्ञान अभी भी इन्द्रियों के अवलंबन से जानता है या इन्द्रियों के बिना ही? यदि वर्तमान ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो सामान्य ज्ञान स्वभाव के वर्तमान विशेष का अभाव होगा। यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता हो तो उस समय जो सामान्य ज्ञान है उसका विशेष क्या होगा? आत्माका ज्ञान इन्द्रिय से नहीं किन्तु सामान्य ज्ञानकी विशेष अवस्था से जानता है। यदि वर्तमान में जीव विशेष ज्ञान से नहीं जानता हो और इन्द्रिय से जानता हो तो विशेष ज्ञानने कौनसा कार्य किया? आत्मा इन्द्रिय से ज्ञानका काम करता ही नहीं है। ज्ञान स्वयमेव विशेषरूप जानने का कार्य करता है। निम्न दशा में भी जड़ इन्द्रिय और ज्ञान एकत्रित हो कर जानने का कार्य नहीं करते, परन्तु सामान्य ज्ञान जो आत्माका त्रिकाल स्वभाव है, उसीका विशेष रूप ज्ञान वर्तमान जानने का कार्य करता है।

प्रश्न—यदि ज्ञानका विशेष ही जानने का कार्य करता है तो फिर बिना इन्द्रिय के जानने का कार्य क्यों नहीं होता?

उत्तर—ज्ञानकी उस प्रकार की विशेषता की योग्यता नहीं होती तब इन्द्रिय नहीं होती। और जब इन्द्रिय होती है तब ज्ञान जानने का कार्य तो अपने आप ही करता है। क्यों कि ज्ञान परावलम्बन रहित है। मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २६४ में कहा है कि 'निमित्त नैमित्तिक संबंधका ज्ञान करना चाहिये;' यह उसीका विवरण चल रहा है। इन्द्रिय के होते हुये भी ज्ञान स्वतंत्ररूप से अपनी अवस्था से जानता है। यदि यह माना जायगा कि ज्ञान इन्द्रियसे जानता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ज्ञानका विशेष स्वभाव काम नहीं करता। और ऐसा होने पर बिना विशेष के सामान्य ज्ञानका ही अभाव हो जायगा। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान इन्द्रिय से नहीं जानता। अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है तब अनुकूल इंद्रियां मौजूद होती है—किन्तु ज्ञान उसकी सहायतासे नहीं जानता। इस प्रकार ज्ञान लेना ही निमित्त नैमित्तिक संबंध का ज्ञान है। किन्तु यदि यह माना जायगा कि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा। क्योंकि इस मान्यता में निमित्त और उपादान एक हो जाता है।

आचार्यदेव शिष्य से पूछते हैं कि यदि जीवने इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया तो सामान्य ज्ञानने कौनसा कार्य किया? उस समय तो उसका अभाव ही मानना होगा न?

शिष्यने उत्तर देते हुये कहा कि भले ज्ञान-विशेष नहीं हो तो भी ज्ञान सामान्य तो त्रिकाल में रहेगा ही, और जानने का काम इन्द्रिय से होगा। ऐसा होने से ज्ञान का नाश नहीं होगा—अभाव नहीं होगा।

आचार्यदेव का उत्तर:—निर्विशेष सामान्य तो 'खरगोश के सींग' जैसा (अभाव रूप) है। बिना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता। इस लिये निर्विशेष सामान्य ज्ञान मानने से सामान्य का नाश या अभाव हो जायगा; इस लिये यदि यह माना जाय कि विशेष ज्ञान से ही जानने रूप कार्य होता है तो ही सामान्य ज्ञान का अस्तित्व रह सकेगा।

ज्ञान स्वभाव राग और निमित्त के अवलंबन से रहित है और विशेष ज्ञान सामान्य ज्ञान में से ही आता है; यों जानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करना यही धर्म है।

यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो फिर उसका वर्तमान कार्य कहां गया? यदि इन्द्रियकी उपस्थिति में ज्ञान इन्द्रिय के कारण जानता है तो उस समय सामान्य ज्ञान विशेष पर्याय रहित कहलाया; किन्तु बिना विशेष के सामान्य तो होता नहीं है। जहां सामान्य होगा वहां उसका विशेष होगा ही।

अब प्रश्न यह होता है कि वह विशेष सामान्यज्ञान से होता है या निमित्त से? विशेष ज्ञान निमित्त को लेकर तो हुआ नहीं है, किन्तु सामान्य स्वभाव से हुआ

हैं। विशेष का कारण सामान्य है, निमित्त उसका कारण नहीं है। यदि वह अंशतः या पूर्णतः निमित्त का कार्य माना जाय तो निमित्त जो परद्रव्य है वह परद्रव्य रूप ज्ञान हो जायगा। आत्मा का ज्ञान स्वभाव स्थिर है, वह सामान्य और वर्तमान कार्य रूप ज्ञानका विशेष है। सामान्य ज्ञानका विशेष - स्थिर ज्ञान स्वभाव का परिणमन या ज्ञानकी वर्तमान दशा (पर्याय) कुछ भी कहो, वह सब हैं एक ही।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, वह केवल जानने का ही काम करता है। शब्द को, रूप को या किसी को भी जानने के लिये ज्ञान एक ही है, ज्ञानमें कोइ अन्तर नहीं हो जाता। आत्माका ज्ञान स्वभाव स्वयमेव है, वह किसी के निमित्त से नहीं है। आत्माका जो त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव है वह अपने आप ही विशेषरूप कार्य करता है। आत्मा इन्द्रिय से जानता ही नहीं वह ज्ञानकी विशेष अवस्था से ही जानता है। सामान्य ज्ञान स्वयं परिणमन करके विशेषरूप होता है; वह विशेषज्ञान जानने का कार्य करता है। यह मानना अधर्म है कि ज्ञान दूसरे के अवलम्बन से जानता है। ज्ञान स्वावलम्बन से जानता है इस प्रकारकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता धर्म हैं।

यहां, परावलम्बन रहित ज्ञानकी स्वाधीनता बताई गई हैं। यह जयधवला शास्त्र की खास विशेषता हैं। और भी अनेक बातें हैं जिसमें से यह एक विशेष है।

मेरे ज्ञानका परिणाम रूप वर्तन उस वर्तनरूप विशेष व्यापार (उपयोग) मेरे द्वारा होता है; उसे किसी दूसरे निमित्त की या परद्रव्यकी आवश्यक्ता नहीं है; अर्थात् ज्ञान कभी भी स्वाधीनता से हटकर परावलम्बन में नहीं जाता। इसलिये वह ज्ञान स्वयं समाधान और सुखस्वरूप हैं। ज्ञानका स्वाधीन स्वभाव होने से ही निगोद से लेकर सिद्ध जीवों तक सबको ज्ञान होता है; परन्तु जैसा हो रहा है वैसा अज्ञानी नहीं मानता, इसीलिये उसकी मान्यता में विरोध आता है।

सभी जीवोंका सामान्य ज्ञान स्वभाव है, उस ज्ञानका विशेष कार्य अपने सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। इसलिये राग या पर निमित्त के अवलम्बन के विना ही ज्ञान कार्य करता है, इस लिये ज्ञान राग या संयोग से रहित है।

आज (श्रुतपंचमी) से, २००० वर्ष पहले सातवे छठ्ठे गुणस्थान झूलते हुये महान् संत मुनियोंने-आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिने (ज्ञान प्रभावना का विकल्प उठते ही) महान् परमागम शास्त्रो (षट् खण्डागम) की रचना करके अंकलेश्वर में उत्साह पूर्वक श्रुतपूजा की थी। उस श्रुतपूजाका मांगलिक दिन ज्येष्ठ शुक्लपंचमी है।

मेरा ज्ञान स्वभाव सदा स्थिर रहे, मेरे ज्ञानकी अटूट धारा वहती रहे, अर्थात् केवल ज्ञान उत्पन्न हो; इस प्रकार वास्तव में भीतर पूर्णता की भावना उत्पन्न होने पर, उन्हे बाहर ऐसा विकल्प उठा कि-श्रुत ज्ञान आगम स्थिर बना रहे; यह विकल्प उठते ही महान परमागम शास्त्रों की रचना की, और उनकी श्रुतपूजा की; वही मंगल दिन आज (ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी) है। वास्तव में दूसरे के लिये भावना नहीं है। किन्तु अपने ज्ञानकी अटूट धारा वहने की भावना हैं; और तब इन शास्त्रों की रचना हुई हैं। इस शास्त्र में अनेक बातें हैं; उनमें से आज मुख्य दो विशेष बातें कहनी है।

ज्ञान इन्द्रिय से नहीं जानता। यदि ज्ञान बिना कार्य अर्थात् विशेष के बिना रहे तो वर्तमान विशेष के विना सामान्य किसे जानेगा? यदि विशेष न हो तो सामान्य ज्ञान ही कहां रहा? यदि वर्तमान पर्याय रूप विशेष को नहीं मानेंगे तो 'सामान्य ज्ञान है', इसका विना विशेष के निर्णय कौन करेगा? निर्णय तो विशेष ज्ञान करता है। वर्तमान विशेष ज्ञान (पर्याय) के द्वारा परावलम्बन रहित सामान्य ज्ञान स्वभाव जैसा है वैसा ही जानना, इसी में धर्म का समावेश हो जाता है।

ज्ञान राग को जानता है, परको जानता है, इन्द्रिय को जानता है, परन्तु वह किसी को अपना नहीं मानता; ज्ञानका ऐसा स्वभाव है। विकार को अथवा परको अपना नहीं मानता, उसे दुःख नहीं होता। मेरे ज्ञान को कोई परावलम्बन नहीं है ऐसे स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करे तो उस स्वभाव में शंका या दुःख हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ज्ञान स्वभाव स्वयं सुखरूप हैं।

निगोद से लेकर समस्त जीवों में, कोई भी जीव इन्द्रिय से नहीं जानता। जिसे सब से अल्प ज्ञान है ऐसा निगोदिया जीव भी स्पर्शन इन्द्रिय से नहीं जानता, किन्तु वह अपने सामान्य ज्ञानके परिणमन से होने वाले विशेष ज्ञानके द्वारा जानता है। किन्तु वह यों मानता है कि मुझे इन्द्रिय से ज्ञात हुआ। परन्तु जब जीवको सामान्य ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन से सामान्य की ओर एकाग्रता होने से, विशेष ज्ञान होता है तब वह सम्यक मतिरूप होता है; और वह मति ज्ञानरूप अंश मे विना परावलम्बन के निरालम्बी ज्ञानस्वभावकी पूर्णताकी प्रत्यक्षता आती है। -अपूर्ण-

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वर्ष : १
अंक : ४

आश्विन
२००२

★ जैनधर्म ★

जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन, पुस्तक, चमत्कार अथवा विशेष व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। वह तो सत्यका अखण्ड भण्डार, विश्वधर्म है। उसका आधार अनुभव है। युक्तिवाद उसका आत्मा है। इस धर्म को कालकी मर्यादामें कैद नहीं किया जा सकता। यह पदार्थों के स्वरूप का प्रदर्शक है; त्रिकालाबाधित सत्यरूप है। वस्तुयें अनादि अनंत है, इसलिये उनके स्वरूपकी प्रकाशक तत्त्वज्ञान भी अनादि अनंत है।

रत्नकणिका

जिसे सम्यग्दर्शन नहीं होता उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता; विना सम्यग्ज्ञान के सम्यक्चारित्र गुण नहीं होता। निर्गुणी के मोक्ष (कर्म से मुक्ति) नहीं होती। और जिसे मोक्ष नहीं उसके निर्वाण नहीं; अर्थात् उसके संसार परिभ्रमण बना रहता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

★ शाश्वत सुखका मार्गदर्शक मासिक पत्र ★

एक अंक
पांच आना

❀ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ काठियावाड ❀

मोक्ष साधनमें पुरुषार्थकी मुख्यता

प्रश्न—यह बताइये कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर होता है या भवितव्यतानुसार होता है, या मोहादि का उपशम होने पर होता है अथवा अपने पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करने से होता है? यदि प्रथम दो कारणों से मोक्षका उपाय होता है तो फिर आप उपदेश क्यों देते हैं? और यदि पुरुषार्थ से होता है तो इसका क्या कारण है कि सभी उपदेश सुनते हैं फिर भी उनमें से कोई तो पुरुषार्थ कर सकता है और कोई नहीं ?

उत्तर—एक कार्य के होने में अनेक कारण होते हैं। मोक्ष के उपाय में पूर्वोक्त तीनों कारण मिलते हैं; और जहां कार्य नहीं बनता वहां तीनों कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारणों में से काललब्धि तथा जो कार्य हुआ वही भवितव्य होता है।

और फिर जो कर्म के उपशमादिक हैं वह तो पुद्गल की शक्ति है। उसका कर्ताहर्ता आत्मा नहीं है। तथा पुरुषार्थपूर्वक जो उद्यम किया जाता है वह आत्मा का अपना कार्य है, इसलिये आत्माको पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

अब बात यह है कि, यदि यह आत्मा उन कारणों को लेकर उद्यम करे जिसे कार्य सिद्धि अवश्यंभावी है तो अन्य कारण अवश्य ही मिलजायंगे, और कार्य की सिध्धि भी निश्चय से होगी। तथा जिस कारण से कार्यसिध्धि हो अथवा न भी हो उस कारणरूप उधम कियाजाय तो वहां यदि अन्य कारण मिलजाय तो कार्य सिध्धि होती है और नहीं मिलेतो नहीं होती। किन्तु जिनमत में जो मोक्षका उपाय बताया गया है उससे तो मोक्ष निश्चय से प्राप्त होता ही है।

इसलिये जो जीव श्री जिनेश्वर के उपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका प्रयत्न करता है उसे तो काललब्धि और भवितव्य भी प्राप्त हो चुका समझिये तथा उसके कर्मोंका उपशमादि भी हो चुका है, तभीतो वह ऐसा प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका प्रयत्न करता है उसे सब कारण मिल जाते हैं और मोक्षकी प्राप्ति भी अवश्य होती है ऐसा निश्चय समझना चाहिये। तथा जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका उपाय नहीं करता उसे काललब्धि और भवितव्य की प्राप्ति नहीं है तथा उसके कर्मोंका उपशमादि भी नहीं हुआ है, तभी तो वह पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका उपाय नहीं करता और न उसे कोई कारण प्राप्त होते हैं; और इसीलिये उसे मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती, ऐसा निश्चय समझना चाहिये।

और तुम जो यह कहते हो कि उपदेश तो सभी सुनते हैं, किन्तु उनमें से कोई मोक्षका उपाय कर सकते हैं और कोई नहीं, इसका क्या कारण है? इसका समाधान यह है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं वे तो मोक्षका उपाय कर सकते हैं, किन्तु जो पुरुषार्थ नहीं करते वे मोक्षका उपाय नहीं कर सकते। उपदेश तो केवल शिक्षा है, किन्तु फल तो वही मिलेगा जैसा पुरुषार्थ करेगा।

प्रश्न—द्रव्यलिंगीमुनि गृहस्थपना छोड़कर मोक्षके लिये तपश्चर्यादि करता है। किन्तु उसे पुरुषार्थ करने पर भी मोक्षप्राप्ति नहीं होती; इसलिये यह सिध्ध हुआ कि पुरुषार्थ करने से कोई सिध्धि नहीं होती।

उत्तर—अन्यथा पुरुषार्थ करके फलसिद्धि चाहनेवाले को कैसे यथार्थ फलप्राप्ति हो सकती है? तपश्चरणादि व्यवहार साधनमें अनुरागी होकर प्रवृत्ति करनेका फल शास्त्रोंमें शुभबंध बताया है; और वह इससे मोक्ष चाहे, तो यह कैसे हो सकता है? यह तो एक भ्रम ही है।

प्रश्न—इस भ्रमका कारण भी तो कोई कर्म ही है, पुरुषार्थ क्या करे?

उत्तर—सत्योपदेश से निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है। वह ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता कि जिससे भ्रम दूर हो। यही कारण है कि उसे भ्रम रहता है। यदि निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रमका कारण जो मोह कर्म है उसका उपशमादि होने पर भ्रम दूर हो जाता है। निर्णय करते समय परिणामों की विशुध्धता होने से मोह का स्थिति-अनुभाग भी कम हो जाता है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

★

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक मासिक पत्र : आत्मधर्म

जिनवाणी स्तवन

महिमा है अगम जिनागम की, महिमा है अगम जिनागम की ॥
॥ टेक ॥

जाहि सुनत जन भिन्न पिछानी, हम चिनमूरति आतम की ।
महिमा० ॥१॥

रागादिक दुखकारन जाने, त्याग बुद्धि दीनी भ्रमकी ।
महिमा०—

ज्ञान जोतिजागी उर अंतर, रूचि बाढ़ी पुनि शमदम की,
महिमा०—॥२॥

कर्मबंधकी भई निर्जरा, कारण परम्परा क्रम कीं,
महिमा०—

भागचंद शिब लालच लाग्यो, पहुंच नहीं है जहँ जम की,
महिमा०—॥३॥

वर्ष १ : अंक ४

आश्विन : २००२

अर्थ

जिनागम की महिमा अगम्य है। मैंने उसे सुना है, और समझा हैं कि मैं चिन्मूर्ति (ज्ञानमूर्ति) आत्मा सबसे भिन्न हूं ॥१॥

जो भ्रमरूप बुद्धिथी उसे त्याग कर यह जान लिया है कि रागादि दुःख के कारण है। इसलिये मेरे अन्तरमें ज्ञानज्योति जाग गई है और स्वरूपकी रुचि बढ़ी है (सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्वक) तथा शम (शुध्ध चारित्र) प्रगट हुआ है, और इसी लिये विभाव भाव का दमन हुआ है ॥२॥

परमपुरुषार्थ के कारण कर्मबंधकी निर्जरा हुई जो (कर्मबंध) संसार परम्परा का कारण था, और उस मोक्ष की लालच लग गई है जहां यम (मरण) की पहुंच नहीं है; यों पं. भागचंदजी कहते हैं ॥३॥

★

आत्मधर्म : भव्य जीवोंका अेकमात्र आध्यात्मिक पत्र

"अहिंसा परमो धर्मः" वाक्य का यह अर्थ है कि आत्मा शुद्ध ज्ञायक स्वभावरूप अखण्ड है, उसकी अन्तर श्रद्धा करके उसमें एकाग्र रहना, इसी का नाम अहिंसा है, और वही परम धर्म है।

दूसरे को न तो कोई मार सकता है और न जिला सकता है, केवल वैसे भाव करे। दूसरे को मारने के भाव अशुभ-पाप भाव है और दूसरे को जिलाने के भाव शुभभाव-पुण्य है। किन्तु वह वास्तविक अहिंसा नहीं है। क्योंकि स्वयं दूसरे को न तो मार सकता है और न जिला सकता है, फिर यों मान लिया कि मैं दूसरे को मार या जिला सकता हूं; इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को परका कर्ता माना; बस, इसीमें स्वभाव की हिंसा है। लोग पर दया-पालनेको अहिंसा कहते हैं, किन्तु सचमुचमें वह अहिंसा ही नहीं है।

सच बात तो यह है कि अधिकांश आदमी हिंसा-अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। उसकी सच्ची व्याख्या इस प्रकार है:—

लोग जड़ शरीर और चैतन्य आत्माको पृथक कर देने को हिंसा कहते हैं; किन्तु हिंसाकी यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से पृथक् थे ही। उन्हें पृथक् करने की बात केवल औपचारिक है। आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक शरीर से अभेद है। वह पुण्य पापकी वृत्ति से रहित चैतन्य ज्ञानमूर्ति है। इस स्वरूपको न मानकर पुण्य-पापको अपना मान लिया, उसने अपने चैतन्य आत्माको उसके ज्ञायक शरीर से प्रथक् माना, यही स्वहिंसा है, अथवा अपने को भूलकर परमें जितनी सुखबुद्धि मानी उतनी स्वहिंसा ही है। कोई परकी हिंसा नहीं कर सकता।

आत्मा स्वतंत्र वस्तु है। जो वस्तु है वह त्रिकाल अपने आधारपर निर्भर रहती है, इसलिये आत्मा निज स्वभावसे ही टिक रहा है। चूंकि आत्मा निजपर निर्भर है, फिर भी उसे पुण्य अथवा रागादि का आश्रय मानना अर्थात्-रागादि को अपना मानना या स्वभावको न मानना (स्वभाव का घात करना) हिंसा है या अहिंसा?

आत्माके संग से अलग होकर और परद्रव्य के संग के कारण जब स्वभाव से च्युत होकर परके ऊपर लक्ष जाता है तभी पुण्य-पापकी वृत्ति होती है। उस वृत्ति को पुण्यपाप रहित स्वभाव में खतिया लेना, अथवा उससे स्वभावके लिये कोई लाभ मान लेना चैतन्यके स्वभावका खून करना है। और वही अपनी वास्तविक हिंसा है। और उस पुण्य पापको अपना न मानकर केवल ज्ञायक रूप में अपने को प्रथक्-जैसा है उसी स्वभाव में मानना-सो सच्ची अहिंसा है।

चैतन्य तत्त्व परसे बिलकुल निराला है, वह निज से टिकते हैं। फिर भी चैतन्य तत्त्वको पराधीन मानना, अथवा परकी सहायता की आवश्यका मानना ही हिंसा है। और इस पराधीन मान्यता का टलजाना अहिंसा है।

प्रश्न—जो मान्यता अनादिसे चली आ रही है उसका नाश कर देना खून नहीं कहलायगा?

उत्तर—योगीन्द्रदेवने कहा है कि अहो! अनादि से साथ में रहनेवाले बांधवों (विकार अज्ञान) का ज्ञानियोंने घात कर दिया, वह उनने बंधुओंका घात किया है फिर भी वह हिंसा नहीं है। क्योंकि उन बांधवों का तो नाश करना ही चाहिये। यही अहिंसा है।

इसप्रकार हिंसा अहिंसाका यथार्थ स्वरूप है। हिंसा अहिंसा परमें नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव में ही है। लोग हिंसा और अहिंसा को बाहर से देखते हैं, और उसे मानते भी हैं, किन्तु वह यथार्थ नहीं है। ★

तीर्थंकर प्रकृति उपादेय नहीं

"सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रयरूप परिणत हुये आत्माको ही मोक्षमार्ग जानता है। यद्यपि उसें सम्यक्तादि गुण की भूमिका में राग के कारण तीर्थंकर नाम प्रकृति आदि शुभ [पुण्य] प्रकृतियां का (कर्मोंका) अवांछित वृत्ति से बंध होता है, फिर भी वह उसे उपादेय नहीं मानता। कर्म-प्रकृतियों को त्यागने के योग्य ही मानता है।

[परमात्म प्रकाश]

आत्मधर्म के हमारे पाठकोंसे हमारी एक हार्दिक प्रार्थना है कि आप

स्व. पंडित श्री टोडरमलजी कृत
मोक्षमार्ग प्रकाशक से : : :

सभामें अध्यात्मोपदेश

कोई जीव कहता है कि द्रव्यानुयोग (जिन में शुद्धात्मा का कथन हो ऐसे शास्त्रों) में व्रत, संयमादि व्यवहार धर्मकी हीनता बताई गई है; और सम्यग्दृष्टि के विषय भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है। इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छंदी बनकर पुण्य छोड़कर पापमें प्रवृत्ति करेंगे, इसलिये उन्हें द्रव्यानुयोग के ग्रंथ न तो पढ़ना चाहिये और न सुनना चाहिये। उसका समाधान करते हुये कहते हैं:—

यदि मिश्री खाने से गधा मर जाता है तो कोई मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ देते? उसी प्रकार यदि कोई विपरीत बुध्धि मानव अध्यात्म ग्रंथ सुनकर स्वच्छंदी बन जाता है तो इसी लिये विवेकी मानव भी अध्यात्म ग्रंथोंका अभ्यास तो नहीं छोड़ देगा? हां, इतना वह अवश्य करेगा कि जहाँ पदपद पर स्वच्छंदी होने का निषेध किया गया है, वहां उसे वह पूरे ध्यान पूर्वक सुनेगा, और वह स्वच्छंदी होने से बचा रहेगा। फिर भी यदि किसी एकाध बातको सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छंदी बन जाय तो इसमें ग्रंथ का क्या दोष! वह तो उसी व्यक्ति का दोष है।

यदि झूठी-सदोष कल्पनाओंको लेकर अध्यात्मशास्त्रों के पढ़ने-सुनने का निषेध किया जायगा तो, मोक्षमार्गका ही निषेध हो जायगा, क्योंकि मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो अध्यात्मशास्त्रों में ही है। जैसे मेघ वृष्टि होने से बहुत से जीवों का कल्याण होता है, किन्तु साथ ही किसी को हानि भी हो सकती है; केवल इसी दृष्टि से मेघ का निषेध तो नहीं किया जाता! उसी प्रकार सभामें अध्यात्मोपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है; किन्तु यदि कोई उल्टा पाप में प्रवृत्ति करे तो उसी को मुख्य मानकर अध्यात्म शास्त्रों का निषेध नहीं किया जा सकता!

और फिर यदि कोई अध्यात्म ग्रंथों को सुनकर स्वच्छंदी हो जाता है तो वह तो पहले से ही मिथ्यादृष्टि था, और आज भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। हाँ, हानि केवल इतनी ही रही कि जो सुगति होना चाहिये वह न होकर कुगति ही होगी। और अध्यात्मोपदेश न होनेपर बहुतसे जीवोंको मोक्षमार्गकी प्राप्ति का अभाव हो जायगा। इस लिये इसप्रकार बहुत से जीवोंका बुरा होगा; इसलिये अध्यात्मोपदेशका निषेध करना उचित नहीं है।

निम्नदशावालों के लिये कौनसा उपदेश योग्य है?

शंका:—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्मोपदेश उत्कृष्ट है, और वह उसीको कार्यकारी हो सकता है जो उच्च दशा को प्राप्त हो। इस लिये निम्नदशावालों को तो व्रतसंयमादिका ही उपदेश दिया जाना योग्य है।

समाधान:-जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, बाद में व्रत होता है। और सम्यक्त्व स्वपर का श्रद्धान होने पर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोगका अभ्यास करने पर होता है। इस लिये पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, और फिर उसके बाद चरणानुयोगानुसार व्रतादि धारण करके व्रती हो। इसप्रकार मुख्यतया हो निम्न दशा में ही द्रव्यानुयोग विशेष कार्यकारी है। तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की

पुण्य-पाप का ग्रहण और त्याग

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग सहजानंद एकरूप सुख रसका आस्वाद है; उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, निज शुद्धात्मा में वीतराग नित्यानंद स्वसंवेदन रूप सम्यग्ज्ञान और वीतराग परमानंद परम समरसी भाव से आत्मा में निश्चय स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र, इन तीनों रूप में परिणत हुये आत्मा को जो जीव मोक्ष का कारण नहीं जानता, वही पुण्य को उपादेय और पापको हेय जानता है।

[परमात्म प्रकाश]

अपनी प्रति अध्यात्म रुचि वाले भाई बहिनोंको पढ़नेके लिये दीजिये।

प्राप्ति होती हुई न दीखे उसे पहले किसी व्रतादिका उपदेश दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि उच्चदशावालें को अध्यात्म ग्रंथोंका अभ्यास और अध्यात्मोपदेश श्रवण करना चाहिये; इस धारणा के अनुसार निम्न दशा वालों को उससे पराङ्मुख होना ठीक नहीं है।

निम्न दशावालेको वह स्वरूप प्रतिभासित होता है या नहीं?

शंका--उच्च उपदेश का स्वरूप निम्न दशावाले को जंच ही नहीं सकेगा,-उसे प्रतिभासित नहीं होगा।

समाधानः--वह अन्य सभी कामों में अपनी चतुराई बताये और यहां मूर्खता प्रगट करे, यह क्यों कर उचित माना जाय? अभ्यास करनेपर स्वरूप प्रतिभासित होता ही है। और अपनी बुद्धिके अनुसार थोड़ा बहुत भासित होता है; किन्तु यदि सर्वथा निरुद्यमी होने की पुष्टि की जाय तो जिनमार्ग के द्वेषी कहलायंगे।

इस निकृष्ट कालमें क्या इस उपदेश की मुख्यता उचित है?

शंकाः—यह निकृष्ट काल है, इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्म के उपदेशकी प्रधानता ठीक नहीं है।

समाधानः—यह काल साक्षात् मोक्ष प्राप्त नहीं होने की अपेक्षा से निकृष्ट है; किन्तु आत्मानुभवादि द्वारा सम्यक्त्वादि होने की मनाई इस कालमें नहीं है; इसलिये आत्मानुभवादि के लिये द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना आवश्यक है। मोक्षपाहुडमें भी कहा है:—

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥

अर्थ—इस पंचमकाल में भी जो जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि से युक्त होते हैं वे आत्म ध्यान करके इन्द्रपद तथा लौकान्तिक देवपद पाते हैं; और फिर वहाँ से आकर निर्वाण पाते हैं। इसलिये इस कालमें भी द्रव्यानुयोग का उपदेश विशेषयता आवश्यक है। ★

अनेकान्त धर्म

सर्वज्ञका मत अनेकान्त है [परम पूज्य सद्गुरुदेव के व्याख्यान से]

अनेकान्त=एक वस्तुमें वस्तुपने की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करना अनेकान्त है। (हिंदी समयसार पृष्ठ ५४५)।

अथवा दूसरे रूप में अनेकान्तका स्वरूप कहा जाय तो दो विरोधी शक्तियों को प्रकाशित करनेवाला और वस्तु को सिद्ध करने वाला अनेकान्त है। भगवानने दो नय कहे हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय।

निश्चयनय स्वभावाश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित-निमित्त आश्रित है।

उन दोनों को जानकर निश्चय स्वभाव के आश्रय से पराश्रित व्यवहारका निषेध करना सो अनेकान्त है। परन्तु–

(१) यह कहना कि कभी स्वभाव से धर्म होता है और कभी व्यवहार से भी धर्म होता है, यह अनेकान्त नहीं है प्रत्युत एकान्त है।

(२) स्वभावसे लाभ होता है, और कोई देव, गुरु, शास्त्र भी लाभ करा देते हैं यों मानने वाला दो तत्त्वोंको एक मानता है, अर्थात् वह एकान्तवाद मानता है।

यद्यपि व्यवहार और निश्चय दोनों नय हैं; परन्तु उनमेंसे एक (व्यवहार) को मात्र "है" यों मानना और दूसरे (निश्चय) को आदरणीय मानकर उसका आश्रय लेना, यही अनेकान्त है।

आत्माका स्वरूप अनेकान्त है।

स्वभाव से शुद्ध, नित्य; पर्याय से अशुद्ध, अनित्य; उसमें पर्याय पर दृष्टि व्यवहार है और स्वभाव पर दृष्टि निश्चय है। दोनों को मानकर निश्चयका आदर करना अनेकान्त है। और वह निश्चय स्वभावके बल से ही धर्म होता है।

भगवान महावीर प्ररूपित अनेकान्त धर्मका वास्तविक स्वरूप

शासनोपकारी सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामीका——प्रवचन——

श्री. जुगलकिशोरजी मुख्तार (संपादक 'अनेकान्त') की विनति से अनेकान्त के विशेषांकमें प्रकाशनार्थ परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामीका (ता. ११-१२ जुलाई सन १९४४ के दिन दिये हुवे समयसारके पांच कलशोंका) प्रवचन भेजा था; सरकारी अड़चनोंके कारण विशेषांक प्रकाशित नहीं हुआ; किंतु उस व्याख्यान अनेकान्तके छेल्ला अंकमें प्रगट हुआ है. 'आत्मधर्म' के पाठका भी यह मननीय व्याख्यान का स्वाध्याय कर सके इसलिये आत्मधर्म में प्रकाशित किया जाता है.

[संपादक]

★

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः।
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥

हर एक वस्तु स्वपणे (स्वकी अपेक्षा) है और परपणे (परकी अपेक्षा) नहीं है, यह अनेकान्त है। आत्मा परस्वरूपसे नहीं है; पर, आत्माके स्वरूपसे नहीं है। दोनों पदार्थ अनाधनन्त भिन्न है एक पदार्थको दूसरे पदार्थका आश्रय मानना यह ही संसारका कारण है। हर एक वस्तु और उसका गुण-पर्याय स्वपणे है और परपणे अभावस्वरूप है। परका परपणे अस्तित्व है और आत्मपणे नास्तित्व है। इस तरह आत्मा आत्मपणे है, परपणे नहीं है। जिस स्वरूपसे आप नहीं है उस स्वरूपसे अपनेको मानना यह एकान्तवाद है। आचार्य देवने इस कलशमें एकांतवादीको पशु कहा है, वह संसारमें अनंतकाल भ्रमण करनेवाला है।

इस अनेकान्तके चौदह प्रकारमें तो जैनदार्शनिक रहस्य आ जाता है। हरेक वस्तुका अस्ति-नास्ति स्वतंत्र स्वभाव है। हरेक वस्तु स्वसे अस्तिरूप है और परसे नास्तिरूप है। एक वस्तुको दूसरी वस्तुका किंचित्मात्र सहाय माननेवाला एकांतवादी है, वह जैनदर्शनका नाश करनेवाला है।

कुनयकी वासनासे वासित हुआ एकांतवादी—अज्ञानी मानता है कि शरीरादि अच्छा रहे, धनादिकी अनुकूलता हो, कुटुम्बादि अनुकूल हो तब धर्म हो सकता है। ऐसा माननेवालेने आत्माका धर्म परके आधीन माना है अर्थात् उसने आत्मा और परपदार्थको एक माना है, उसको आचार्य देवने इधर पशु कहा है।

आत्मा परकी अपेक्षासे नास्तिरूप है और पर आत्मा की अपेक्षासे नास्तिरूप है। इस प्रकार अनेकान्तका स्वरूप नहीं स्वीकार कर जो परवस्तुमें निज आत्माका अस्तित्व मानकर—आत्माका स्वभाव पराश्रित मानकर और परद्रव्य में स्वपनके भ्रमसे परद्रव्योमें लक्ष करके अटकता है ऐसा स्व-परको एक मानने वाला जीव एकांतवादी पशु है ऐसा इस कलशमें कहा है।

एक द्रव्यको अन्य द्रव्यसे सहाय मिले ऐसा जिसने माना है उसने सर्व द्रव्यमें एकपना माना है। पर वस्तुसे निजको किंचित्मात्र गुण-दोषका होना जो मानते हैं वे मूढ़ है। पर वस्तु कुछ भी हो किंतु वह मुझको लाभ-अलाभ करनेमें समर्थ नहीं हैं—इसका जिसको ज्ञान नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो तो मुझको लाभ होंगे ऐसा मानकर जो परमें रुक जाता है वह मूढ़ पशु जैसा है ऐसा आचार्य देव कहते हैं।

पर वस्तु आत्माके आधीन नहीं है और आत्मा पर वस्तुके आधीन नहीं है, इससे यह फलित हुआ कि परवस्तुसे आत्माको किंचित मात्र भी लाभ हानि नहीं है। मेरा स्वभाव मुझमें मुझसे ही हैं, ऐसा श्रद्धान जिसका नहीं है वह आत्माका धर्म परमें मानकर—अपना स्वभाव परके आधार है ऐसा मानकर परद्रव्यमें स्वपना मानता है वह एकांतवादी है। अनेकांतवादी ज्ञानी जानता है कि मेरे स्वभावमें पर नहीं, पर वस्तुमें मैं नहीं हूँ, तब जिस वस्तुका मुझमें अभाव हैं वह अभावरूप वस्तु मुझको लाभ-हानि पहुंचायगी ऐसा कभी नहीं बनेगा। अभावरूप वस्तुसे यदि किसीको कुछ भी होवे तब शशकका सींग लगनेसे अमुक पुरुष मर गया ऐसा प्रसंग आवेगा। किंतु मेरे आत्मामें कर्म नहीं, कर्ममें मैं नहीं; शरीरमें आत्मा

नहीं, आत्मामें शरीर नहीं; दोनों वस्तु भिन्न हैं, एक वस्तु का अन्य वस्तुमें अभाव है, ऐसा जानने वाला अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समग्र परवस्तुकी अपेक्षा अपना अभाव मानता है। और स्व की अपेक्षा परका अभाव मानता हैं, इससे वह परवस्तुसे किंचित् भी लाभ-हानि मानता नहीं है। किन्तु हरेक वस्तुका एक दूसरेमें नास्तिपण है इससे मेरा स्वभाव मुझमें है, स्वभावकी शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र वह भी मुझसे ही है ऐसा मानता हैं और जिसकी शुद्ध ज्ञानमहिमा निर्मल है ऐसे स्वद्रव्यका ही आश्रय करता है। प्रत्येक द्रव्य अनाद्यनंत भिन्न रहकर सर्व निज निज की अवस्थामें कार्य कर रहा है, कोई किसीको सहायक नहीं होता है, ऐसा जाननेवाला धर्मात्मा परद्रव्यका आश्रय कैसे करे?

भावार्थ—'मैं परपणे नहीं हूं, स्वपणे हूं' ऐसा नहीं मानने वाले पशु समान एकांतवादी आत्माको सर्व पर-द्रव्यरूप मानता है उसको अपना भिन्न स्वभावका ज्ञान नहीं है, भिन्नत्वकी श्रद्धा भिन्नत्वका ज्ञान और भिन्नत्वकी स्थिरता बिना मुक्त नहीं हो सकता। जो वस्तु मुझमें नहीं हैं वह मुझको क्या करे? मुझमें अभावरूप वस्तु मुझमें कुछ भी कार्य नहीं कर सकती। आत्मा परमें अभावरूप होनेसे, वह परमें कुछ भी नहीं कर सकती और परवस्तु आत्माकी अपेक्षासे आत्मामें अभावरूप होने से परवस्तु आत्माका कुछ भी नहीं कर सकती। कर्म आत्मासे पर है उससे वह आत्माको हैरान नहीं कर सकता।

यह अनेकान्त जैनदर्शनकी जड़ (मूल) है। यह सिद्धांत अनादिसे संसारी जीवोंके ख्यालमें आया नहीं है कि आत्मामें परका अभाव है और परमें आत्माका अभाव हैं। हर एक वस्तु स्वसे अस्तिरूप और परसे नास्तिरूप है ऐसा नहीं माननेवाला एकांतवादी है, उसको परसे भिन्न अपना स्वरूपका ज्ञान नहीं है।

स्वपणे है और परपणे नहीं है ऐसा कहनेसे परप-दार्थकी भी सिद्धि हो जाती हैं। यदि सर्व मिलकर एक ही वस्तु हों तब एकमें विकार नहीं होगा; क्योंकि स्वभावमें विकार नहीं है। यदि अकेला पदार्थमें विकार हो तब विकार ही स्वभाव हो जायगा, इससे विकारके वक्त अन्य वस्तुकी हाजरी होती है, उसका लक्ष करके आत्मा स्वयं अपनेमें विकार करता। वस्तुका अस्तित्व तो है ही किंतु प्रत्येक स्वपणे है, परपणे नहीं है। एक वस्तुको "स्वपणे है" ऐसा कहते ही "परपणे नहीं है" ऐसा अनेकान्त स्वयमेव ही प्रकाशता है। वस्तु स्वपणे है ऐसा कहते समय उसमें परका अभाव है ऐसा आजाता है। स्वमें जिसका अभाव है वह वस्तु स्वको कुछ लाभ या हानी नहीं कर सकती। शरीरकी किसी चेष्टासे आत्माको लाभ वा हानि नहीं होती क्योंकि आत्माकी अपेक्षासे शरीरका आत्मा में अभाव है। उसी तरह आत्माकी इच्छासे शरीरकी अवस्था होती नहीं है, क्योंकि इच्छाका शरीरमें अभाव है इस अनेकान्तका ज्ञान जिसको नहीं है उसको आचार्यदेवने पशु कहा है। आत्मा शरीरका कुछ करनेकी इच्छा करे किन्तु उस इच्छाका शरीरमें अभाव है, इससे जो इच्छा शरीरमें अभावरूप है वह शरीरका क्या करे? इच्छा राग है; उसका आत्माकी अवस्थामें सद्भाव है, किन्तु शरीरमें तो रागका अभाव हैं, जो अभावरूप है वह क्या करे? उसही प्रकार इच्छामें शरीरका तथा कर्मका अभाव है तब शरीर वा कर्म इच्छामें क्या करे? अर्थात् शरीर वा कर्म इच्छा नहीं करता हैं। इच्छामें कर्मकी नास्ति है तब कर्म इच्छाको क्या करे? कर्म निमित्त है और इच्छामें निमित्तका अभाव हैं इससे कर्मके कारणसे इच्छा नहीं है।

इच्छामें परका अभाव है और परमें इच्छाका अभाव है। इच्छा आत्माकी क्षणिक विकारी अवस्था हैं, उसमें कर्मका अभाव है तब कर्म इच्छामें क्या करे? इस तरह अनेकान्तको जाननेवाला ज्ञानी सर्व परसे अपना नास्तित्व मानकर स्वद्रव्यमें रहता है।

परद्रव्यका विषय छोड़कर चलिये अंदर। अब रही इच्छा। इच्छा आत्मामें होनेवाली विकारी क्षणिक अवस्था है, उस क्षणिक इच्छा जितना आत्मा नहीं है। त्रिकाली स्वभावकी अपेक्षामें क्षणिक इच्छाका अभाव है और इच्छामें त्रिकाली स्वभावका अभाव है। इस तरह स्वभा-वमें इच्छा नहीं और इच्छामें स्वभाव नहीं। क्षणिक इच्छा जो होती है उसको अपनी मानना वही ही संसार है। वस्तुदृष्टिसे विकारका अभाव है, इससे वस्तुदृष्टिमें संसार नहीं है। मात्र 'इच्छा मेरी' ऐसी दृष्टिकी विपरीत मान्यतामें संसार है।

हर एक वस्तु स्वपणे है, परपणे नहीं है। यदि वस्तु परपणे भी अस्तिरूप हो तब दो वस्तु एक हो जाय, किन्तु दोनों वस्तु भिन्न होनेसे एककी दूसरीमें नास्ति है। देव-

गुरु-शास्त्र भी पर हैं, उसका मेरेमें अभाव है। वह अभाव वस्तुके आधारसे (देव गुरु-शास्त्रके आधारसे) मेरा धर्म नहीं है, मेरा स्वभाव मेरापणे है और मेरे धर्मका संबंध मेरी साथ ही है। इस तरह अपने स्वभावके आश्रयसे हीं धर्म है।

तू धर्म करना चाहता है कि नहीं ऐसा प्रथम तू निर्णय कर। यदि धर्म करना चाहता हो तब "परके आश्रित मेरा धर्म नहीं है" ऐसी श्रद्धा द्वारा पराश्रय छोड़। परसे जो जो अपनेमें होना माना है उस मान्यताको सम्यग्ज्ञानसे जलावे। "मेरा स्वभाव मुझमें है, वह कभी भी परमें नहीं गया है" ऐसा श्रद्धान कर। स्वद्रव्य में ही स्थिरता कर यह ही धर्म है।

जगतकी अपेक्षासे आत्मा असत् हैं, आत्माकी अपेक्षासे जगत् असत् है, किन्तु आत्माकी अपेक्षासे आत्मा और जगत्‌की अपेक्षासे जगत् दोनों सत् है, इस तरह परसे असत् और स्वसे सत् ऐसा अपने स्वरूपको जानकर ज्ञानी स्वद्रव्यमें विश्राम करता है, उससे विरुद्ध अपने स्वरूपको परपणे मानने वाले अज्ञानीको कहीं भी विश्रामस्थान नहीं है। इस तरह कलश २५३ में परद्रव्यसे असतपनेका प्रकार कहा।

अब कलश २५४ में स्वक्षेत्रसे अस्तित्वका प्रकार कहा जाता है।

भिन्नक्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापार-निष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतममितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखात-बोध्य-नियत-व्यापारशक्तिर्भवन्।२५४।

हर एक वस्तु अनेकान्तात्मक होनेपर भी वस्तुका एक ही पक्ष मानकर सर्व पक्षको नहीं देखने वाला एकान्तवादी एक अपेक्षा पकड़कर उतना ही वस्तुको मान लेता है वह वस्तुस्वरूपसे अज्ञात है। एक बार चार जन्मांध पुरुष, जिन्होंने हाथीको कभी भी नहीं देखा था हाथी कैसा होता है, इसका निर्णय करनेको बैठे। उनमेंसे एकके हाथमें हाथी की पूंछ आई, वह पूंछको ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी रस्सी जैसा है;' दूसरेके हाथमें हाथीका पांव आया, वह उसको ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी स्तम्भ जैसा है;' तीसरेके हाथमें हाथीका कान आया, वह उसको ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी सूप जैसा है;' चौथेके हाथमें हाथीकी सूंड आई उसको ही हाथी मानकर वह कहता है कि 'हाथी मुसल जैसा है'। इस तरह हाथीके सत्य-स्वरुपका अनजान ऐसे सर्व ही अंध पुरुषोने हाथीके एक एक अंगको ही हाथी ही मान लिया। वैसे ही अज्ञानी—आत्मस्वरुपका अनजान ऐसा जीव एक अपेक्षाको ही पूरा वस्तुका स्वरूप मान बैठता है। जैसे कि वस्तु परपनेसे नास्तिरूप है ऐसा कहनेपर स्वपने भी नास्तिरुप मान बैठता है, स्वपने है ऐसा कहनेपर परपने भी है ऐसा मान बैठता है, परकी अपनपने नास्ति है ऐसा कहने पर परकी सर्वथा नास्ति-मान लेता है और सामने होने वाली वस्तु उसकापने है ऐसा कहने पर अपनेमें भी परकी अस्ति मान बैठता है, इस प्रकार एक अपेक्षाको पकड़ कर उस ही के प्रमाण पूरी वस्तुका स्वरुप मान बैठता है वह वस्तुके सच्चे स्वरुपसे अनजान है—एकान्तवादी है, उसको आचार्यने इस कलशमें पशु कहा है

आत्मा सदा अपने असंख्य प्रदेशोंमें ही है। परक्षेत्रमें रहने वाले ज्ञेय पदार्थोको आत्मा मात्र ज्ञाता होनेपर भी 'यह परक्षेत्र मेरा है' इस तरह परक्षेत्रोंको स्वक्षेत्रपने मानकर सर्वथा एकान्तवादी अपना नाश करता है; शरीरादि परज्ञेयरूप अपनेको मानकर अज्ञानी पर लक्ष्यमें प्रवर्तता है, ज्ञानका स्व-परप्रकाशक स्वभाव होनेके कारणसे ज्ञानमें पर वस्तु दीखती है इससे 'मेरा अस्तित्व परमें गया हो' ऐसा मानकर परद्रव्यकी और लक्ष देकर अपना नाश करता है; किन्तु आत्मामें परवस्तुका आकार प्रवेश पाता नहीं है, वैसे ही आत्माका आकार परमें प्रवेश पाता नहीं है, आत्मा तो सदा स्वक्षेत्रमें ही है उसका अज्ञानीको भान नहीं है।

प्रथम २५३ वें कलशमें द्रव्यकी बात थी, इस कलशमें क्षेत्रकी बात है। परक्षेत्रके आकारको जाननेका आत्माका स्वभाव है ही; ज्ञानमें परक्षेत्र दीखता है उस परक्षेत्रको अपना मानकर और अपनेको परपने मान कर एकांतवादी अपने स्वरुपका नाश करता है।

आत्मा नित्य असंख्यप्रदेशी है उसके प्रत्येक प्रदेशमें अनंतगुण हैं, उसका क्षेत्र अपनेमें ही है। भाई! तेरा तेरेमें है, तेरा क्षेत्र असंख्य प्रदेशाकार है। इस तरह अपनेको भिन्न न मान कर जो परक्षेत्रमें एकपना मानता है उसको आचार्य भगवाने इस कलशमें एकान्तवादी पशु कहा है। स्याद्वादका जाननेवाला ज्ञानी स्वक्षेत्रमें अपना अस्तित्व मानता है इससे परक्षेत्रमें स्वपनेकी मान्यता नहीं है, इतना परतरफका वेग रुक गया है। 'स्वक्षेत्री असंख्य

* न....व....नी....त *

जब जान्यो निज रूप को, तब जान्यो सब लोक।
नहि जान्यो निज रूप को, सब जान्यो सो फोक [व्यर्थ]॥
है व्यवहार से देव जिन, निश्चय से है आप।
इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन की छाप॥

— श्रीमद् राजचन्द्र —

प्रदेशोंका पिंड हूँ' ऐसा मानने वाला ज्ञानी स्वक्षेत्रमें वर्तता हुआ भी आत्मामें ही आकाररूप बना हुआ परज्ञेयोंकी साथ एकपना मानता नहीं है किन्तु मेरे ज्ञानमें ही परको जाननेकी शक्ति है ऐसा समझ कर स्वद्रव्यमें ही रहता हैं। परवस्तु मेरे ज्ञानका ज्ञेय है. परस्वतु मैं नहीं हूँ किन्तु मेरा ज्ञान ही मै हूं ऐसे अपने ज्ञान का निश्चय व्यापाररूप शक्तिवाला बन कर, स्वद्रव्यमें स्थित रह कर स्वको जीवित रखता हैं—स्वरूप में ही रहता है।

वीतराग होने के पहले शुभराग होता है और शुभराग में निमित्त देव-गुरु आदि भी होते हैं, किन्तु वह राग और रागका निमित्त मेरा नहीं है। मैं परक्षेत्रसे भिन्न हूँ, मेरा धर्म मेरे क्षेत्रमें ही है, ऐसा न मानने वाला अज्ञानी स्वभावको परपने मान कर अपना नाश करता है और ऐसा जानने वाला ज्ञानी परपने अपनेको नहीं मान कर स्वपने ही अपनेको स्थिर रख कर अपना नाश नहीं होने देता।

प्रभो! तेरा क्षेत्र तेरे पास है, परक्षेत्र तुझसे भिन्न है। परक्षेत्रको जानने का तेरा स्वभाव है किन्तु अन्य कोई तुझमें आजाता नहीं है, वैसे ही तेरा क्षेत्र अन्य परवस्तुमें जाता नहीं हैं। आत्मा आत्माके ही क्षेत्रमें है अज्ञानी परक्षेत्रमें अपना अस्तित्व मान कर निजका नाश करता है, ज्ञानी स्वक्षेत्रमें परकी नास्ति मान कर स्वमें टिकता स्थिर रहता है। इस तरह अनेकान्त वस्तुका स्वरूप हैं, तत्वका ऐसा स्वरूप जो नहींसमझेगा उसको निगोदमें जाना पडेगा, और जो समझेगा वह सिद्ध भगवान त्रिलोकनाथ होगा ही। सिद्ध और निगोद ही मुख्य गति है। शुद्ध निश्चयगति सिद्ध है और अशुद्ध निश्चयगति निगोद है, बीचकी चारों गतियां व्यवहार है, उनका काल अल्प है॥ २५४॥

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्।
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्॥

स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां।
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥

ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, इससे परवस्तु जब ज्ञान में दीखती है तब अज्ञानी 'मानो कि परवस्तु ज्ञानमें घुस गई हो' ऐसे भ्रमसे, ज्ञानमें जो परवस्तुका आकार दीखता है उसको निकाल दू अर्थात् ज्ञानकी अवस्थाको निकाल दूं तब अकेला ज्ञान ही रह जाय ऐसा मान कर तुच्छ होता हुआ नाश पाता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि ज्ञानमें गृह, स्त्री, बालक आदि याद आता है इससे मुझको राग हुए विना रहता नहीं है; यह बात बिलकुल झूठ है। घर का ज्ञान होना रागका कारण नहीं है, किन्तु घर प्रति जो ममत्व भाव है वह रागका कारण है, उससे गृहादिका ज्ञान भले हो किन्तु "यह गृह मेरा है" ऐसी मान्यताको विस्मरण करनेका है। ज्ञानको तू किस तरह भूलेगा? भाई! जाननेका तो तेरा स्वभाव है, उसमें परवस्तु सहज ही प्रकाशती है, परवस्तुको भूलनेका नहीं है किन्तु 'पर मेरा' ऐसी मान्यताको निकालदो। परका ज्ञान रागद्वेषका कारण नहीं है किन्तु पर मेरा ऐसी मान्यता ही राग-द्वेषका कारण है; उसी मान्यताको ही बदलनेकी आवश्यकता है; उसके बदले अज्ञानी परवस्तुको जाननेरूप अपने ज्ञानकी अवस्थाको निकालनेको इच्छता है, किन्तु वह किसको निकालेगा भाई! ज्ञान तो तेरा स्वभाव है, क्षण क्षणमें उसकी अवस्था बदलती है, और उस ज्ञानकी अवस्थाका ऐसा स्वभाव है कि परपदार्थ उसमें झलकता है, वहां अज्ञानी मानता है कि परवस्तुका ज्ञान ही भूल जाऊं अर्थात् मेरा ज्ञान ही निकाल दू। इस तरह ज्ञेय निकाल दू। इस तरह ज्ञेय पदार्थ से मेरे ज्ञानकी अवस्था भिन्न है ऐसा नहीं मानने वाला अज्ञानी ज्ञानकी अवस्थाको भी ज्ञेयरूप मान कर अपने ज्ञानकी अवस्थाको छोडना मांगता है, जब कि अनेकान्त धर्मको जानने वाला ज्ञानी

मानता है कि पर पदार्थको जानने पर भी मेरे ज्ञानकी अवस्था ज्ञेयसे भिन्न है, मेरे ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका प्रवेश नहीं होता है—ऐसे परसे नास्तित्व जानता परवस्तुसे अपनेको खींचकर स्वक्षेत्रमें रहता, राग-द्वेषको त्यागता, स्वक्षेत्रमें ही ज्ञानको एकाग्र करता है।

परक्षेत्र ज्ञानमें प्रकाशता है वह तो मेरे ज्ञानस्वरूपका सामर्थ्य है, जानना मेरा स्वरूप है, परक्षेत्र मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानता हुआ ज्ञानी ज्ञानमें परपदार्थ प्रकाशता है तब भी ज्ञानको तुच्छ नहीं मानता है किन्तु ज्ञानका सामर्थ्य मानता है। और भी ज्ञानीका निर्णय है कि मेरे ज्ञानका स्वभाव तो एक समयकी एक पर्याय में तीन-काल तीनलोक को जाननेका है, ज्ञानका स्वरूप ही जाननेका है, जाननेका कारण राग नहीं है, किन्तु 'परमें मैं हूं वा पर मुझमें है' ऐसी मान्यता ही राग-द्वेषका कारण है, अज्ञानी स्वरूपको एक मान कर राग-द्वेष करता रहता है।

परक्षेत्रमें रहा हुआ ज्ञेयपदार्थोंका आकाररूप ज्ञानकी अवस्था होती है। किन्तु 'उस अवस्थाको यदि मैं मेरी मानूँगा तब स्वक्षेत्रमें ही रहनेके बदलेमें मैं परक्षेत्रमें चला जाऊंगा' ऐसा मानकर अनेकान्तको नहीं जाननेवाला अज्ञानी परवस्तुकी साथ २ ही अपने ज्ञानको भी छोड़ देता है और इस तरह स्वयं चैतन्यके आकार—ज्ञानकी अवस्थासे रहित तुच्छ होकर नाश पाता है, और स्याद्वादको जानने वाला ज्ञानी परक्षेत्रमें ज्ञानकी नास्ति जानता हुआ ज्ञेय पदार्थोंको छोडता हुआ भी अपने ज्ञानकी अवस्थाको छोडता नही है, इससे वह तुच्छ नहीं होता है, किन्तु स्वक्षेत्रमें ही स्थित रहता है। वह जानता है कि परको जाननेका मेरा स्वभाव है, परमें मैं नहीं हूं और परको जाननेरूप मेरे ज्ञानकी अवस्थासे मैं भिन्न नहीं हूँ, जो अवस्था है वह मेरा ज्ञान ही है ऐसा जान कर वह स्वभावमें ही स्थिर रहता है। इस तरह जानकर स्वभावमें स्थिर रहना ही धर्म है ॥२५५॥

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ॥
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः।
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥

आत्मा देहसे भिन्न तत्त्व है। देह और आत्मा एक नहीं हैं किन्तु भिन्न हैं। एक आत्मासे देह-मन-वाणी-कर्म और पर-आत्माएँ त्रिकाल-भिन्न हैं। हरेक आत्माका तत्त्व भिन्न है। जड़ भी भिन्न वस्तु है, प्रत्येक वस्तु भिन्न है, भिन्न वस्तु की शक्ति भी भिन्न है और प्रत्येककी अवस्था भी भिन्न भिन्न है। आत्माकी अवस्था आत्मामें होती है, शरीरकी अवस्था शरीरमें होती है। देह और आत्मा एक क्षेत्रावगाही होने पर भी दोनोंकी अवस्था भिन्न भिन्न अपने आप होती हैं। यह नहीं जानने वाला अज्ञानी—एकान्तवादी देहके आश्रित अपना ज्ञान मानता है अर्थात् जब तक देह रहेगा तब तक मैं रहूंगा और देहका नाश होने पर मेरा भी नाश होगा, इस तरह ज्ञेय पदार्थसे भिन्न ऐसा अपने ज्ञानका अस्तित्व नहीं जानता अत्यन्त तुच्छ होकर नाश पाता है। किन्तु ज्ञेयकी अवस्थाओं का नाश होने पर, ज्ञानकी अवस्थाएं नाश नहीं पाती है। आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ हैं, उसमें ज्ञान दर्शन अस्तित्वादि गुण है, उनकी अवस्था समय २ होती रहती हैं। शरीर जड़ परमाणुओंका बना हैं। परमाणु भी द्रव्य है द्रव्यपनेकायम रह कर अपनी अवस्था बदलते ही रहते हैं।

आत्मा चैतन्य ज्ञानमूर्ति है, शरीर जड़ है, उसमें समय २ अवस्था बदलती है वह ज्ञानमें दीखती है उस जगह आत्मस्वभावका अनजान अज्ञानी जीव ज्ञेयकी अवस्था पलटते ही मैं पलट गया ऐसा मानता है। शरीर दुर्बल हो जाय-कृश हो जाय वहां वह जानता है कि मैं कृश हो गया और शरीर-इन्द्रियका बल बढ़ने पर मेरी शक्ति बढ़ गई। ऐसा मानने वाला अज्ञानी शरीरसे भिन्न आत्मतत्वको मानता नहीं है, इससे वह वस्तुका नाश करता है। परकी अवस्था बदलने पर समग्र आत्मा बदल जाता हैं ऐसा मान कर अपने भिन्न अस्तित्वको जो नही मानता हैं वह वस्तुका नाश करने वाला है।

जहां इन्द्रिय शिथिल हो जाय, शरीर कृश हो जाय वहां मैं कृश हो गया ऐसा मानने वाला आत्माकी स्वतंत्र शक्ति शरीरसे भिन्न हैं ऐसा नहीं मानता हैं। शरीरादि ठीक रहे तब मैं ठीक रहुंगा ऐसा मानने वाला ज्ञानकी स्वाधीन अवस्थाका नाश करता है।

आत्मा स्वाभाविक त्रिकाल स्वतन्त्र वस्तु है, उसमें श्रद्धा ज्ञान, अस्तित्व आदि अनंत गुण है, उन गुणोंकी समय २ अवस्था होने पर भी मेरी अवस्था परसे होती है, ज्ञेयाश्रित मेरे ज्ञानकी अवस्था होती है ऐसा मानने वाला निज आत्माको पराधीन मानता है, त्रिकाल स्वाधीन तत्वको पराधीन मानना ही अनंत संसारका मूल है। प्रथम जाने हुए ज्ञेयपदार्थोंका पीछेके कालमें नाश होने

पर मेरा ज्ञान भी उसकी साथ नष्ट हो जाता है, ऐसा माननेवाला निजात्मज्ञानकी भिन्न सत्ता—भिन्न अस्तित्व मानता नहीं है। अपने समक्ष आई हुई वस्तुकी अवस्था समय २ बदलती हैं वह स्वज्ञानमें प्रकाशने पर " यह बदल जानेपर मैं भी बदल जाता हूं " ऐसा माननेवाला अपने ज्ञानकी स्वतन्त्र अवस्थाको मानता नहीं हैं। मुझमें कुछ भी सामर्थ्य ही नहीं है, परवस्तुसे ही मेरी जाननेकी शक्ति थी, ऐसे वह ज्ञानके स्वतंत्र सामर्थ्यको नहीं मानता हैं अर्थात् अपने भिन्न अस्तित्वको वह स्वीकार करता नहीं हैं। शरीरमें युवावस्था हो वा वृद्धावस्था हो किन्तु मेरा ज्ञान तो उससे भिन्न है, ऐसा नहीं माननेवाला एकान्तवादी पशु है, इस प्रकार आचार्य महाराजका कहना है।

भाई! तेरा तत्त्व परसे भिन्न है उसके भान बिना तू क्या करेगा? पूर्वपुण्यसे मानो कि बाह्य सामग्री मिली हो वह तेरी वर्तमान बुद्धि का फल नहीं है, किन्तु जब पूर्वपुण्य जल गया तब उस सामग्रीकी प्राप्ति हुई हैं। वह सामग्री जड़ है, तुझसे भिन्न हैं, उसकी रक्षा करनेपर भी वह नहीं रहेगी, क्षणमें नष्ट हो जायगी, क्योंकि वह तत्त्व स्वतंत्र हैं। तेरी अवस्था उसके आधीन नहीं और उसकी अवस्था तेरे आधीन नहीं है।

आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है, स्वतंत्र तत्त्वकी अवस्था परके आधीन माननेवाला एकान्तवादी अपनी स्वाधीनताका खून करता है। स्याद्वादका जाननेवाला अनेकान्तवादी जानता हैं कि आत्मा में समय समयपर ज्ञानकी जो अवस्था होती है वह मेरे आधीन है; नेत्र मंद हो, इन्द्रिय शिथिल हो, शरीर कृश हो तब भी मेरा ज्ञान मंद नहीं होता है। मेरी अवस्थासे मेरा अस्तित्व है, परकी अवस्था मुझसे भिन्न है इस तरह स्वकालसे अपना अस्तित्व जानता ज्ञानी वस्तुकी अवस्थाके नाशसे अपना नाश नहीं मानता है, किंतु स्वसे स्वयं पूर्ण रहता है। मेरी अवस्था मुझसे है, ज्ञेयकी अवस्था कुछ भी हो उससे मेरी अवस्था बदलती नहीं है, बाह्य वस्तु बदल जानेपर भी मेरा ज्ञान तो पूर्ण ही रहता है।

समय बदलते बुद्धि बदल जाती है यह माननेवाला पागल है। समय अनुसार धर्म भी बदलते रहते हैं यह बात तीन कालमें नहीं बनती है। वह तो जगतकी गप्प है। धनादि चले जानेपर जगत कहता है कि "अफसोस! हमारा सब चला गया, हमारे पास धनादि था तब सब था." लेकिन तेरे पास क्या था? धन तो धूलि है, वह तेरा कब था? संसारकी रुचि है उससे धूलिके ढेरको याद करता है किन्तु तीर्थंकर भगवानको याद नहीं करता है कि "भरत क्षेत्रमें भी तीर्थंकर भगवान विचरते थे और धर्म का धुरन्धर मार्ग प्रवर्तता था, अहो! वह धर्मकाल था।"

अनेकान्तमें तो चौदह पूर्वका रहस्य है। इन्द्रिय पुष्ट होवे, शरीर मोटा होवे, धन खूब बढ़े, इससे आत्माका ज्ञान श्रद्धान पुष्ट नहीं होता है। अपना स्वरूप कोई भी प्रकारसे दूषित नहीं मानकर, मेरा स्वरूप निर्दोष वीतराग सिद्ध समान है ऐसी श्रद्धा करके जो स्थिर रहता है उसका आत्मा ही पुष्ट बनता है अर्थात् शरीरादि कृश होनेपर भी ज्ञान उग्र रहता है। परके साथ मेरा संबंध तीनकालमें नहीं है, परवस्तु मुझसे भिन्न है, परके पलटनेसे मैं नहीं पलट जाता हूँ मैं तो अखंड ज्ञायक ही हूँ। जाननेमें पर अनुकूल हो तब राग और पर प्रतिकूल हो तब द्वेष होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। गुड़की मिठास कभी भी गुड से भिन्न नहीं है वैसे ही मेरा ज्ञान मुझसे भिन्न नहीं हैं। स्वरूप तो ऐसा ही है किन्तु अज्ञानी उलटा मान रहा है। सामने आई हुई वस्तु बदलनेपर मैं भी बदल जाता हूँ ऐसा माननेवाला दो वस्तुको एक मानता है, वह आत्माका श्रद्धान नहीं करता है।

परका नाश होनेपर भी मेरी अवस्था मुझसे है ऐसा जाननेवाला, अपना अस्तित्व अपनेसे ही जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थका नाश हो जानेपर नष्ट नहीं होता है। परके आधीन आत्माके ज्ञानकी अवस्था जो मानता है वह आत्माको निर्माल्य और पराधीन मानता है; मेरी अवस्था क्षण क्षण मुझसे है उसमें परकी अवस्था नहीं है, ऐसा नहीं जानता हुआ एकान्तवादी ज्ञेय पदार्थके नाशसे ज्ञानका भी नाश मानता है, और अनेकान्तवादी ज्ञानी तो स्वकाल अर्थात् अपनी अवस्था से अपना अस्तित्व मानता हुआ अपने में ही स्थित रहता है ॥ २५६ ॥

अब परकी अवस्थासे आत्मा असत् है यह कहा जाता है.—

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजी भवन् ॥२५७॥

परको देखनेवाला किन्तु अपनेको नहीं देखनेवाला एकान्तवादी ज्ञानमें जब तक परवस्तु प्रकाशती है तब तक ही ज्ञानका अस्तित्व मानता है और ज्ञेय अच्छा रहे तो मैं भी अच्छा रह सकूं इस तरह ज्ञेयके आधीन ज्ञानको मानता है, किन्तु परवस्तुसे मैं असत् हूं और मुझसे परवस्तु असत है ऐसा नहीं मानता है।

हरेक तत्त्वकी अस्ति है; 'अस्ति' कहते ही उसकी परपणे नास्ति है। जो परपणे अपन नहीं है उस परकी ओर लक्ष गया है उससे ही कहता है कि 'भाई! तू तुझ से है-परसे तू नहीं है, तू तूझको समझ-तू तेरा स्वरूपको पिछान।" किन्तु इस तरह "मेरी अवस्था मुझसे है परसे नही है" ऐसा नही मानता परज्ञेय कायम रहे तो मेरा ज्ञान ताजा रहे ऐसा मानता है, इससे परविषयमें एकाग्र होता है। विषयका अर्थ क्या? शरीरादि तो जड़ वस्तु है, रूपी है, आत्मा चैतन्य अरूपी है, वह रूपी वस्तु का भोग नहीं कर सकता लेकिन वह परकी ओर लक्ष कर के रागमें एकाग्र होता है, यह ही विषय है। आत्मा अरूपी चैतन्यस्वरूपी सर्व परसे भिन्न तत्त्व है। परवस्तु मेरे समक्ष होवे तब उसका ज्ञान होवे ऐसा माननेवाला अपने भिन्न ज्ञानस्वभावको मानता नही हैं।

ज्ञान क्या करे? लक्ष करे; इच्छा हो तो उस इच्छा को भी ज्ञानने जाना। जाननेमें राग करके रुक गया तब मान बैठा कि मैने विषय को भोगा किन्तु उस समय ज्ञानके लक्षमें वह आया है और उसकी इच्छा हुई है, यह विषय है। बाहरका पदार्थ अपने आप (स्वाधीनपनसे) आता जाता है, वह आत्माके आधीन नहीं है। जब आत्मा स्वरूपको भूला तब परको रखनेकी इच्छा हुई, और वह इच्छाकी प्रवृत्तिमें ठहरा उसको 'विषय' कहते हैं; अज्ञानी उसमें सुख मानता है, वह अपने स्वाधीन सुख-स्वभावको मानता नहीं है; बस! यह ही संसार है।

शरीरादि ठीक होवे तो मैं ठीक इसका अर्थ ऐसा हुआ कि मुझमें सुख है ही नहीं। मैं तो पंगुसे पंगु, पराधीन, निर्माल्य हूं। शरीर पंगु हो तो उसको तो दो लकड़ीका टेका चाहिए लेकिन जो मान्यतामें पंगु है उसको तो अनंत परवस्तुरूप लकड़ीके टेकेकी आवश्यकता है। अहो! मैं कौन हूं, आत्मा क्या है? स्वक्या, परक्या? उसका भान जिसको नहीं है उसके जन्म-मरणका अंत कब होगा? संपूर्ण स्वाधीन तत्त्व को जो पराधीन मान बैठा उसके दो अंत (छोर) कहीं भी मिलेंगे नहीं। तेरे ज्ञानतत्त्वको ज्ञेयकी लालसा न हो! परवस्तुकी अवस्था टिके तो मैं टिकूंगा, अन्यथा मेरी अवस्था चली जायगी; ऐसे जो परकी लालसा रखता है वह स्वतंत्र आत्म तत्त्वको अठीकमें अठीक मानता है और परवस्तुको ठीकमें ठीक मानता है, ऐसा मूढात्मा बाहरकी वस्तु ठीक रहे तो मैं ठीक रहूँगा इस प्रकार बाहरकी वस्तुका रक्षक अपने को मानता है किन्तु बाहरकी वस्तु उसकी मालिकी की कहां है कि उसकी रक्षासे वह रहेगी? परपदार्थका संयोग तो अनंतवार आया और गया। अनंतवार बड़ा राजा हुआ और अनंतवार रंक भी हुआ। कोई भी परवस्तुका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है। देह भी आयुकी स्थिति अनुसार रहता है, उसको आत्मा नहीं रख सकता है। कोई भी प्रकारसे बाहरकी वस्तु स्त्री, धन, बालकादि ठीक रहे तो मुझे ठीक रहे ऐसे मानकर अज्ञानी जीव बाहरकी वस्तुकी अवस्थाकी व्यवस्था ठीक रखनेमें चित्तको भ्रमाता है और स्वलक्ष चूक जाता है। मेरी अवस्था मुझसे होती है, मेरा और परका कोई नाता नहीं है, ऐसा नहीं माननेवाला आत्मा की हिंसा करता है।

प्रश्न—कोई जीवको मारा तो नहीं है तब हिंसा किसकी?

उत्तर—परजीव जीवित रहे वा न रहे उसकी साथ हिंसा-अहिंसाका संबंध तीन कालमें नहीं है। किन्तु परवस्तुकी अवस्था इस प्रकार रहे तो ठीक और इस प्रकार न रहे तो अठीक ऐसा जिसने माना उसने परवस्तुका परिणमन अपने आधीन माना है यह ही अनंती हिंसा है। परवस्तुकी प्रतिकूल अवस्था है उसका निवारण करूं तब मुझको ठीक रहेगा ऐसा उसने माना किन्तु मेरे रागका निवारण करूं तब ठीक ऐसे स्वतत्त्वको भिन्न नहीं माना उसमें ही हिंसा आ गई।

परकाल अर्थात् परकी अवस्थासे मैं नास्तिरूप हूं और स्वकालसे—स्वपर्यायसे अस्तिरूप हूँ; इससे पर बदल जाने पर मैं बदल नही जाता हूँ ऐसा जानता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मामें दृढपनासे रहा हुआ नित्य सहज ज्ञानका एक समूहरूप वर्तता हुआ स्थित रहता है—नष्ट नहीं होता है।

मेरा स्वभाव अविनाशी एक रूप शुद्ध ज्ञायक है पर की अवस्था बदलनेपर भी मैं एकरूप नित्य हूं परवस्तुमें मेरा अहंपना नहीं है। ऐसी श्रद्धाके भानमें परवस्तु प्रति राग-द्वेष नहीं होना वह ही स्थिरता है और परसे भिन्न आत्माकी श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है। उससे विरुद्ध (उलटा)

श्रद्धान और वर्तन वह संसार और सुलटा श्रद्धान और वर्तन वह मोक्ष है। जो मात्र परको देखता है, स्वको नहीं देखता है वह परके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व माननेवाला एकान्तवादी है।

जगतके व्यापारमें लोग 'खेला' करते हैं; 'समग्र वम्बई शहरका सब तज-एलायची इत्यादि एकठ्ठा करके एक हत्थु जमा करने के बाद अपने मनपसंद भावसे विक्रय करूंगा, ऐसा मानता है किन्तु बाह्य सामग्री का आना या नहीं आना सब पुण्याधीन है. उसमें आत्माका कुछ सामर्थ्य नही है तो भी मैं कर सकता हूँ ऐसा मानकर संसारमें परिभ्रमण करनेका 'खेला' करता है।

परवस्तुमें थोडा भी फेरफार होवे तब "अफसोस! अब मेरा क्या होगा?" ऐसे परवस्तुकी कीमत कर करके अपनेको बिलकुल निर्माल्य मान बैठा है; किन्तु तू मँहगा है कि सस्ता? तुझमें कुछ माल है कि खाली बारदान है? तू गुणवाला है कि गुणसे खाली है? बापु! तुझमें अनंत शक्ति है; पर तो सब विष्टाका वहिवट (व्यापार) समान है। समझ! समझ!! तू स्वतंत्र तत्त्व है, शान्ति स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, तुझको परकी जरूरत पडे ऐसा तू नही है।

घरके घटमें जल न होवे तब तालाव घरमें नहीं आता है किन्तु घट लेकर तालावमेंसे जल भरनेके लिये जाना पडता है; उसी तरह जिसको आत्माकी गरज हो सत् समझनेकी लगन हो, जिज्ञासा हो, वह सत्की खोज करके सुननेके लिये वहाँ जायगा। जो सत्को समझना चाहता है उसको सत् अवश्य मिलेगा। लेकिन आत्माके भान बिना इस जगतकी होहा और हरिफाईमें मर गया—उसमेंसे छूटकर जो सत् समझना चाहता है उसको सत् का निमित्त मिलेगा ही।

जैसे गीरकी पहाड़ीमें अनेक प्रकारकी वनस्पति पकती है, वह आयुष्य लेकर आती है, इससे उसको बढ़ना है तब उसको वर्षाका निमित्त आये बिना रहता नहीं है; तैसे ही जो सत समझनेके लिये तैयार हुआ उसको सतका निमित्त न मिले ऐसा कभी नहीं बनता। किन्तु साम्प्रत कालमें तो कमाना, कमाना और कमाना! गरीबोंको कमाना और धनिकोंको भी कमाना। आमदानी करनेमें थोडी निवृत्ति लेवें तब तो आत्माको समझनेकी दरकार करेंगे! धनमें शान्ति कहां है? तेरी शांति कहीं बाहरमें नहीं है किंतु तुझमें ही भरी है। तेरे स्वभावकी शांतिके लिये परकी आवश्यकता नहीं। अज्ञानी मानता है कि परवस्तु अनुकूल रहे तब मुझको शान्ति रहे, यह मान्यता ही उसको शाँति होने नहीं देती। ज्ञानीको भी जघन्य अवस्थामें अस्थिरता होजाती है, किन्तु वह जानता है कि यह अस्थिरता मेरे स्वभावमें नहीं है और परवस्तुके कारण अस्थिरता नहीं है, मात्र वर्तमान अवस्थाकी भूमिका अनुसार पुरुषार्थकी हीनतासे अस्थिरता आ जाती है। परवस्तु चाहे जैसी परिणमे किन्तु मैं उससे भिन्न हूँ तो यह मुझको क्या नुकसान करे? इस प्रकार मानकर ज्ञानी तो सहज ज्ञानस्वरूपमें ही अपनेको टिकाता है। अज्ञानी क्या करता है? किसी परका अज्ञानी भी किंचित मात्र नहीं कर सकता है, वह भी मात्र जानता है और जाननेमें उसकी मान्यताका घोड़ा दौड़ाता है। शरीर कृश होवे, नाड़ीकी गति मंद होवे, तब वह कहता है कि मेरा जी (जीव) ऊंडा उतरता है; किन्तु यह तो क्या है? शरीर अलग होते देहदृष्टिवाले को शान्ति किस तरह रहेगी? शरीरके ऊपर दृष्टि होनेसे शरीर कृश होते ही माना कि आत्मा ही कृश हो जाता है ऐसा अज्ञानी मानता है; उससे वह कहता है कि जीव ऊंडा ऊंडा उतर जाता है। किन्तु जीव कहां ऊंडा उतरेगा? आत्मा तो शरीर-प्रमाण साढ़े तीन हाथका अमूर्त तत्त्व छूटा पडा है। परवस्तु चाहे जैसा फिरे उससे मैं किंचित मात्र कृश नहीं होता हूं, इस तरह जो जानता है और श्रद्धान करता है उसके एक तरफ शरीर कृश होगा और दूसरी तरफ आत्माका आनंद बढ़ता जायगा। जीवनमें प्रथमसे श्रद्धान-ज्ञान किया हो तब तो अंत समयमें दृढ़ता रह सकती हैं। बिना भान दृढता किसकी करेंगे? प्रथम पिछान की हो तब तो अंतमें वह आकर खडी रहेगी! देहादि परवस्तुकी कुछ भी अवस्था हो किन्तु मेरा स्वभाव मुझमें है ऐसा जानता हुआ धर्मात्मा परसे अपना नास्तित्व मानता हुआ अपना नाश नहीं होने देता, आत्मा मे दृढपनासे रहा हुआ नित्य सहज ज्ञानका एक पुंजरूप वर्तता हुआ स्वपणे स्थिर रहता है। प्रभो! तू तेरे गुणसे परिपूर्ण भरा हो! किन्तु तुझको तेरे स्वभावकी पिछान नहीं है उससे तेरा गुण परसे मानकर अनादिसे भ्रमण कर रहा हो; तेरा धर्म तुझमें है, तेरा स्वभाव तुझसे है, परमें तेरी नास्ति है, परके आधीन तेरा धर्म नहीं है, ऐसे नहीं मानकर जो मूढ़–अज्ञानी- एकान्तवादी परवस्तुसे पुण्यसे वा रागसे धर्मकी आशा रखता है वह भिखारी है, उसको अनेकान्तकी पहिचान नहीं है।

☆

ध....र्म....सा....ध....न

पूज्य गुरुदेव के व्याख्यान से

धर्म के लिये प्रधानतया दो वस्तुओं की आवश्यकता है। १—क्षेत्र विशुद्धि, २—यथार्थ बीज।

क्षेत्र विशुद्धि—संसार के अशुभ निमित्तों के प्रति जो आसक्ति है उसमें मन्दता; ब्रह्मचर्य का रंग, कषाय की मंदता, देव, गुरु के प्रति भक्ति, तथा सत्‌की रुचि, आदि का होना क्षेत्र विशुद्धि है। वह प्रथम होना ही चाहिये।

किन्तु केवल क्षेत्र विशुद्धि से ही धर्म नहीं होता। क्षेत्र-विशुद्धि तो प्रत्येक जीवने अनेकबार की है; क्षेत्रविशुद्धि (यदि भान सहित हो) तो बाह्यसाधन है, व्यवहार साधन है।

पहले क्षेत्र विशुद्धि के बिना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। किन्तु क्षेत्र विशुद्धि के होने पर भी यदि यथार्थ बीज न हो तो भी धर्म नहीं हो सकता।

यथार्थ बीज—मेरा स्वभाव निरपेक्ष बंध मोक्ष के भेद से रहित, स्वतंत्र, पर निमित्त के आश्रय से रहित है; स्वाश्रय स्वभाव के बल पर ही मेरी शुद्धता प्रगट होती है; इस प्रकार से अखंड निरपेक्ष स्वभाव की निश्चय श्रद्धा का होना सो यथार्थ बीज है। वही अन्तर साधन अर्थात् निश्चय साधन है। जीवने कभी अनादिकालमें स्वभावकी निश्चय श्रद्धा नहीं की है। उस श्रद्धा के बिना अनेकबार बाह्य साधन किये, फिर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

इस लिये धर्म में मुख्य साधन है यथार्थ श्रद्धा; और जहां यथार्थ श्रध्धा होती है वहां बाह्य साधन स्वतः प्राप्त होते हैं। बिना यथार्थ श्रध्धा के केवल बाह्य साधन से कभी भी धर्म नहीं होता...।

इस लिये प्रत्येक जीवका प्रथम कर्तव्य आत्म स्वरूपकी यथार्थ श्रध्धा करना है। अनन्त कालमें दुर्लभ नर देह, और फिर उसमें उत्तम जैनधर्म तथा सत् समागम का योग मिलने पर भी यदि स्वभाव बल से सत्‌की श्रध्धा नहीं की तो फिर चौरासी के जन्म मरण में ऐसी उत्तम नर देह मिलना दुर्लभ है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि एकबार स्वाश्रय की श्रध्धा करके इतना तो कह कि 'परका आश्रय नहीं है;' बस, इस प्रकार स्वाश्रय की श्रध्धा करने से तेरी मुक्ति निश्चित है। सभी आत्मा प्रभु हैं। जिसने अपनी प्रभुता को मान लिया वह प्रभु हो गया।

इस प्रकार प्रत्येक जीव का सर्व प्रथम कर्तव्य सत्स-मागम होने पर स्वभावकी यथार्थ श्रध्धा (सम्यग्दर्शन) करना है। निश्चय से यही धर्म (मुक्ति) का प्रथम साधन है। ★

शुद्ध, शुभ और अशुभ का विवेक

प्रश्न—शास्त्र में शुभ–अशुभ को समान कहा है, इस लिये हमें तो विशेष जानना योग्य नहीं है।

उत्तर—जो जीव शुभोपयोग को मोक्षका कारण मानकर उपादेय मानता है और शुद्धोपयोगको नहीं जानता, उसे शुध्धता की अपेक्षा या बंधकारण की अपेक्षा शुभ-अशुभ दोनों को समान बताया है। परन्तु शुभ–अशुभ का परस्पर विचार करते हैं तो शुभ भावों में कषाय मन्द होती है, इसलिये बंध भी हीन होता है, और अशुभ भावों में कषाय तीव्र होती है इसलिये उससे बंध भी अधिक होता है, इस प्रकार विचार करने पर सिद्धान्तमें अशुभकी अपेक्षा शुभ को भला भी कहा गया है।

जैसे रोग कम या अधिक बुरा ही है, किन्तु अधिक रोगकी अपेक्षा कम रोगको भला मानते हैं इसी प्रकार शुद्धोपयोग के अभाव में अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्ति करना भी योग्य माना गया है। किन्तु शुभको छोड़कर अशुभ में प्रवृत्ति करना तो किसी भी तरह योग्य नहीं है।

प्रश्न—कामादिक या क्षुधादिक को मिटाते हुये अशुभ रूप प्रवृत्ति हुये बिना नहीं रहती, और शुभ प्रवृत्ति बिना इच्छा किये नहीं होती और ज्ञानीको इच्छा करना इष्ट नहीं है, ऐसी स्थिति में क्या शुभ के लिये उद्यम नहीं करना चाहिये?

उत्तर—शुभ प्रवृत्ति में उपयोग लगने से अथवा उसके निमित्तसे विरागता बढ़नेसे कामादिक हीन होते हैं, क्षुधा-दिमें भी संक्लेश कम होता है, इसलिये शुभोपयोगका अभ्यास करना योग्य है। उद्यम करने पर भी कामादिक या क्षुधादिक रहे तो उसके लिये वही करना चाहिये जिससे पाप कम लगे; किन्तु शुभोपयोग को छोड़कर निःशंक पापरूप प्रवृत्ति करना तो योग्य नहीं है।

और तुम कहते हो कि—"ज्ञानीके इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करने से होता है;" इसका समाधान यह है कि—जैसे कोई मनुष्य किंचित् मात्र भी धननहीं देना चाहता; किन्तु वह जहां देखता है कि अधिक द्रव्य चला जायगा वहां इच्छापूर्वक अल्प द्रव्य देने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार ज्ञानीजीव किंचित् मात्र भी कषाय-रूप कार्य नहीं करना चाहता किन्तु जहां अधिक कषायरूप अशुभ कार्य की संभावना देखता है वहां इच्छापूर्वक भी अल्प कषायरूप शुभ कार्य करनेका उद्यम करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जहां शुद्धोपयोग होता देखे वहां तो शुभ कार्यका निषेध ही है, किन्तु जहां अशुभोपयोग होता ज्ञात हो वहां पर तो प्रयत्नपूर्वक भी शुभ कार्य करना स्वीकार करना उचित है। ★

ATMADHARMA With the permisson of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B.

भक्ति का स्वरूप

सम्यक्तपूर्वक जो देव, गुरु, शास्त्रकी भक्ति करता है, उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है, साक्षात् मोक्ष नहीं होता, और परम्परा से अर्थात् क्रम क्रम से शुभभावोंको टालता हुआ मोक्ष पाता है। जो सम्यक्त रहित मिथ्यादृष्टि हैं, उनके भाव-भक्ति तो नहीं है, लौकिक बाह्य भक्ति होती है। उसके शुभ भावानुसार पुण्यका ही बंध है, कर्म का क्षय नहीं।

—परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा ६१, पृष्ठ २०३—

शास्त्रमें ऐसा वचन है कि—

"भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ"

अर्थात्-इस जीवने भव-भवमें जिनेन्द्र भगवानको पूजा, गुरुकी वंदना की; फिर भी क्यों कहते हो कि यह जीव भववन में भ्रमण करता हुआ जिनराज स्वामी को नहीं पा सका। शिष्यके इस प्रश्न का समाधान करते हुये सद्गुरु कहते हैं—

इसके कभी भावभक्ति नहीं हुई, भावभक्ति तो सम्यग्दृष्टिके ही होती है, और बाह्य लौकिक भक्ति- इसके संसार प्रयोजन के लिये हुई वह गिनती में नहीं, वह निःसार है। भाव ही कारण होते हैं, और भावभक्ति मिथ्यादृष्टि के होती नहीं। ज्ञानी जीव ही जिनराज के दास हैं; सो सम्यक्त विना-भावभक्ति के अभाव से जिन-स्वामी को नहीं पाया, यह निःसंदेह है।

यह संसारी जीव अनादिकालसे आत्मज्ञान की भावना से रहित है। इस जीवने स्वर्ग नरक, राज्यादि सब पाये किन्तु उसे दो वस्तुयें नहीं मिलीं,-एक तो सम्यग्दर्शन और दूसरे जिनराज स्वामी। जब तक मिथ्यादृष्टिपना है तब तक जिनराज स्वामी मिले कहला ही नहीं सकते।

—परमात्म प्रकाश पृष्ठ २८८—

सम्यक्त को भक्ति भी कहा गया है। जब सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध आत्म तत्त्व भावना रूप होता है तब उसे 'निश्चय भक्ति' कहते हैं और जब सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प नहीं रह सकता तब वह पंच-परमेष्ठि की आराधना हो, ऐसी स्थितिमें उसे 'व्यवहार-भक्ति कहते हैं।

—समयसार पृष्ठ २५०, जयसेनाचार्य-टीका—

कोई जीव भक्तिको मोक्ष का कारण मानकर उसमें अति अनुरागी होकर प्रवृत्ति करता है; किन्तु यह तो वैसा श्रध्धान हुआ जैसा अन्य मतावलम्बी भक्ति से मुक्ति मानते हैं। भक्ति तो रागरूप है, और रागसे बंध होता है, इसलिये वह मोक्ष का कारण नहीं है। रागोदय होने पर यदि भक्ति नहीं करे तो पापानुराग होगा, इसलिये-अशुभराग छोड़ने को ज्ञानी भक्ति में प्रवृत्ति करता हैं। वह उसे मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्त मात्र मानता है, वहीं उपदेयत्व मानकर संतुष्ट नहीं हो जाता; किन्तु शुध्धोपयोग के लिये उद्यमी रहता है।

श्री पंचास्तिकाय की १३६ वीं गाथा की व्याख्या में भी कहा है कि:—अयं हि स्थूल लक्षतया केवल भक्ति प्राधान्यस्य ज्ञानिनो भवति। उपरितन भूमिकायामलब्धा सादस्यास्थान राग निषेधार्थं तीव्र रागज्वर विनाशार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।

अर्थ—यह भक्ति ऐसे अज्ञानी जीवों के ही होती है जिनके केवल भक्ति ही प्रधान है; तथा तीव्र रागज्वर मिटानेके लिये अथवा अस्थानके राग निषेधार्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानीके भक्तिकी विशेषता होती-होगी?

उत्तर—यथार्थापेक्षा से तो ज्ञानी के ही सच्ची भक्ति है, अज्ञानी के नहीं; और रागभावकी अपेक्षासे भक्तिको मुक्ति का कारण जानने से अज्ञानी की श्रध्धा में अति अनुराग है। किन्तु ज्ञानी की श्रध्धा में वैसा अनुराग नहीं है, क्योंकि वह उसे शुभ बंध का कारण जानता है। हां, बाहर से कदाचित् ज्ञानी के भी अधिक अनुराग सा प्रतीत होता है, तो कदाचित् अज्ञानी के भी होता है; यों समझना चाहिये।

—मोक्षमार्ग प्रकाशक—

★

मुद्रक—प्रकाशकः-जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड. ता. २५-१०-४५

आत्मधर्म

वर्ष : १
अंक : ५

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

कार्तिक
२४७२

: ज्ञानार्जन करो :

कोई भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी आत्मा एक परमाणु मात्र को हिलाने में समर्थ नहीं है तो फिर देहादि की क्रिया आत्मा के हाथ में कहां से हो सकती है?

ज्ञानी और अज्ञानी के बीच आकाश–पाताल के समान घोर अन्तर है। और वह अन्तर यह है कि अज्ञानी पर द्रव्य का तथा रागद्वेष का कर्ता होता है। जब कि ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता।

इस कर्तृत्व के त्यागका महा पुरुषार्थ प्रत्येक प्राणी को करना है। और यह कर्तृत्वबुद्धि बिना ज्ञान के नहीं छूटेगी, इसलिये तुम ज्ञानार्जन करो।

—:पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी:—

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पांच आना

❀ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ काठियावाड ❀

सम्यग्दर्शन के निवास के

छः पद

१-' आत्मा ' है।

२-' आत्मा ' वस्तु रूप में नित्य है, परन्तु त्रिकाल में स्थिर रह कर अवस्था दृष्टि से समय समय पर स्वयं अपनी अवस्थाओंको बदलती है।

३-आत्मा निज कर्म शुद्धाशुद्ध भाव का कर्ता है।

४-आत्मा अपने शुद्धाशुद्ध भाव का भोक्ता है।

५-आत्माकी सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था (मोक्ष) स्वयं प्रगट कर सकता है।

६-अज्ञान (मिथ्यात्व) और राग-द्वेषकी निवृत्ति मोक्ष का उपाय है।

इन छह महा प्रवचनों का निरंतर संशोधन करना।

—श्रीमद् राजचन्द्र—

: सामायिक :

सामायिक के चार भेद हैं—१-नाम सामायिक, २-स्थापना सामायिक, ३-द्रव्य सामायिक, ४-भाव सामायिक।

१—नाम सामायिक—जाति, गुण, क्रियाकी अपेक्षा न करके किसी भी पदार्थकी ' सामायिक ' सो नाम सामायिक है।

२—स्थापना सामायिक—समस्त पापों का त्याग करने वाले परिणाम में परिणत आत्मा के शरीर का सामायिक करने के समय में जो आकार होता है; उसी जैसा आकार जिसमें हो ऐसे चित्र, फोटो इत्यादि में ऐसी स्थापना कर लेना कि ' यह सामायिक है ' सो स्थापना सामायिक है।

३—द्रव्य सामायिक—जिसे सामायिक रूप आत्मा के परिणामका अनुभव हो चुका है, किन्तु जो वर्तमान में सामायिक रूप ज्ञान में परिणत नहीं हुआ है उसे द्रव्य सामायिक कहा गया है।

४—भाव सामायिक—सामायिक रूप आत्मा का ज्ञान जो वर्तमान में उपयोग रूप में है, वह भाव सामायिक है।

मुद्रक—प्रकाशक:-जमनादास माणकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय
दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड
२२—११—१९४५

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक मासिक पत्र : आत्मधर्म वर्ष १ : अंक ५
कार्तिक : २४७२

स्तवन

मैं नेमिजी का बंदा, मैं साहिबजी का बंदा॥ मैं नेमिजी. टेक।
नैन चकोर दरस को तरसैं, स्वामी पूनम-चंदा ॥१॥

छहों दरबमें सार बतायो, आतम आनंद कंदा।
ताको अनुभव नितप्रति करते, नासे सब दुखदंदा ॥२॥

देत धरम उपदेश भविक प्रति, इच्छा नाहिं करंदा।
रागद्वेष मद मोह नहीं, नहिं क्रोधलोभ छल छंदा ॥३॥

जाकौ जस कहि सके न क्योंही, इन्द्र फनिन्द्र नरिन्द्रा।
सुमरन भजनसार है 'द्यानत,' अवर बात सब फंदा ॥४॥

—जिनेन्द्र स्तवन मंजरी स्तवन नं. ३७१—

अर्थ

मैं भगवान नेमिनाथ का दास हूँ, भगवान का दास हूँ। हे भगवन्! आप पूर्णिमा के चन्द्रमा हैं और मेरी आंखें चकोर बनकर आप के दर्शन का तरस रही हैं। ॥१॥

हे भगवन्! आपने बताया है कि छहों द्रव्यों में आनंदकंद आत्मा ही सार है। उसको नित्य अनुभव करने से सब दुःख-दँद नाश हो जाते हैं। ॥२॥

भगवन्! आप इच्छा नहीं करते, फिर भी भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हैं। आप के राग, द्वेष, मद मोह, क्रोध कपट और छल छन्द नहीं है। ॥३॥

पंडित द्यानतरायजी कहते हैं कि जिनका यश वर्णन इन्द्र, फणीन्द्र और नरेन्द्र कोई नहीं कर सकते उन नेमिनाथ भगवान की वीतरागता का स्मरण करना ही भजन का सार है, शेष सब व्यर्थ का फंदा है। ॥४॥

O soul! What foolishness has entered thy head that thou engagest thyself in Vyavahara (good and bad actions etc.) which is the cause of Samsara Paribrahmana (transmigratory condition). Know thy Shuddha Atman, which is devoied of all Pra-Pancha (worldly turmoils) and is described by the word Brahma, and make thy mind steady.

He who does not regard Punya (virtue or good deeds) and Papa (evil or bed deeds) as equal,—such a one being under the influence of Moha (ignorance or illusion) will wander in the Samsara for a long time and remain unhappy.

PARMATMA—PRAKASH

धर्मी जीवको ज्ञानीका उपदेश है कि—

[पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के आत्मसिद्धि पर प्रवचनमें से]

जहां शास्त्रमें मोक्षमार्ग का कथन होता है वहां यही लिखा जाता है कि पुण्य-परिणाम सर्वथा हेय (त्यागने योग्य) है। पंच महाव्रतादि सभी शुभ परिणाम आश्रव है, कर्मभाव हैं, इसलिये, त्याज्य हैं। किन्तु अभी जिस जीवने परमार्थ तत्त्व को नहीं पाया जो रागद्वेष अज्ञान भावमें लगा हुआ है, और मंद कषाय का पुरुषार्थ छोड़कर स्वच्छंद अनाचार में प्रवृत्ति कर रहा है उसके लिये मुमुक्षुपन की भी संभावना नहीं है। धर्मात्मा-साधक के अभी चारित्र में अधूरापन है, अभिप्रायमें रागादि अस्थिरता सर्वथा त्याज्य है, किन्तु बीच में शुभ परिणाम और शुभ निमित्त तो आते ही हैं। लेकिन जो इस शुभ का निरोध करके अशुभ में प्रवृत्ति करता है वह कुछ समझा ही नहीं है।

जो मुमुक्षु-मोक्षमार्गी है वह साधक स्वभावी परमार्थभूत व्यवहार अर्थात् निश्चय स्वरूप को लक्ष करके राग को दूर करने का पुरुषार्थ करता ही है, और जहां जो घटित होता है उसे ही ठीक मानता है। शास्त्र कथन में कई जगह विरोध सा प्रतीत होता है तो उसकी परमार्थ आशय नयकी अपेक्षा से समझ लेता है, कहीं भी परेशानी में नहीं पड़ता।

कोई एकान्त पक्ष को लेकर यह कहे कि शास्त्रोंमें शुभ परिणाम से बंध होना बताया है इसलिये मैं शुभ परिणाम (मंद कषाय) नहीं करुंगा, देव, गुरु, धर्मकी भक्ति व्यवहार के विकल्पसे पुण्यबंध करती है, इसलिये यह भी नहीं करुंगा; मैं तो मात्र आत्मध्यान ही करुंगा, यदि मैं विकल्प करूं, शास्त्र पढ़ुं अथवा प्रभावनादि कार्यों में भाग लूं तो मेरे ज्ञानध्यान में बाधा पड़ेगी। इसके लिये आचार्य कहते हैं कि तुझमें सच्ची दृष्टिका लक्ष नहीं है। बिना आंतरिक स्थिरता के योग की स्थिरता से तू क्या कर लेगा?

श्री जयसेनाचार्यने इस संबंधमें कहा है—कि तू गृहस्थ है या मुनि किन्तु अभी तुझे अपने शरीर के प्रति अनुकूलता करलेने की सावद्य वृत्ति उत्पन्न होती हो, तुझे रोगसे या भूखसे दुःख अथवा आकुलता होती हो, या कि कोई मेरी सेवा करे, इत्यादि भाव होता है; इस प्रकार तुझे अपने शरीर के प्रति प्रेम या मोह होता है, और उधर मुनि की सेवा, वैयावृत्ति या भक्ति में तुझे कोई उत्साह नहीं है तो तू पापी है, धर्मात्मा नहीं है। हाँ, यदि तू कहीं वीतरागी होकर स्थिर हो गया हो तब तो व्यवहार का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, और यदि राग में अटक रहा है, फिर भी विवेक हीन होकर यों मानने लगता है कि देव-गुरु-धर्म तथा मुनि वगैरह पर पदार्थ हैं, और पुण्य से बंध होता है इस लिये वह त्याज्य है, और यों मानकर शुभ निमित्तको दूर करके अशुभ में प्रवृत्ति करता है। इसलिये तू मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि तुझे वीतराग धर्म का बहुमान नहीं है।

जब तक "अपनी अनुकूलता बनी रहे" इस प्रकार विषय कषाय के संसारभाव मौजूद हैं तब तक "जिनशासन स्थिर रहे, देव-गुरु-धर्म, सत् स्वरूप जयवंत रहे" ऐसा अपूर्व भाव करके इष्ट निमित्त की भक्ति और भक्तिका उत्साह रहना चाहिये।

स्त्री, घर, कुटुम्ब आदि व्यापार में रागबुद्धि है, और वह संसारका राग पाप बुद्धि है; उसमें से निवृत्ति पाकर सच्चे देव-गुरु-धर्म की भक्ति, सुपात्र दान, वीतराग शासनकी प्रभावना, जिनपूजा, दान, वैयावृत्ति तथा योग्य साधर्मी आत्माकी सेवा करनेका भाव जिसके नहीं है वह अधर्मी है। जिसके अभी देह, स्त्री, पुत्रादिमें तो प्रेम है और परमार्थ निमित्तमें प्रेम-आदर नहीं है उसे धर्मकी रुचि नहीं है; वह पाप रुचि को पुष्ट करता है। तथा उसे पवित्र भाव पोषक सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति आदर नहीं है। वह जीव पापमें रत होकर धर्मस्नेह और प्रशस्त राग का निरोध करता है। वह सद्धर्मकी उन्नति नहीं चाहता, इसलिये वह पापी जीव है।

जो मुमुक्षु है उसे यथायोग्य विवेक होता है। वह परमार्थ तथा परमार्थभूत व्यवहार को एवं निमित्तभूतव्यवहार को ज्यों का त्यों जानता है। हित अहित, हेय उपादेय को यथार्थ समझता है, तथा भक्ति, विनय, सत्समागम और वैराग्य आदि जो जहां जिसप्रकार घटित होते हैं उसी प्रकार विवेक करता है। वीतरागी पवित्र तत्वकी दृष्टि होते हुये भी अप्रशस्त राग की (संसार की) दिशा, या रागरुचि नहीं बदले यह कैसे हो सकता है।

आत्मा को पहचानो

जो उसका तो निषेध करे और संसार के अशुभ रागादि में प्रवृत्ति करे, उसे पात्रता (उच्च भूमिका) चाहिये ही नहीं है। वह अशुभ आचारका आदर करके जायगा कहाँ? उसे पवित्र धर्मकी रुचि ही नहीं है। उसे तो देहादि संसारकी रुचि है। यदि २५०००) का मकान बनवाना हो तो वह बराबर व्यवस्था रखने का विचार करता है; समय का ध्यान रखता है, स्वयं भी देखभाल करता है। वह निरंतर चिन्ता रखता है कि मजदूर वगैरह क्या कर रहे हैं? कंकरी सिमेन्ट आदि अच्छी है या नहीं? चूना यदि चिकना नहीं होगा तो मकान जल्दी गिर जायगा। इसकी नीव मजबूत और काफी गहरी होनी चाहिये। इत्यादि। और इस ओर बराबर सावधान रहता है। किन्तु क्या कभी यह भी सोचता है कि मेरी सत स्वरूपकी श्रद्धा की नीव का क्या हाल है? पवित्र देव, गुरु, धर्मकी भक्ति-प्रभावना में भक्तिपूर्वक आदर नहीं किया तो मर कर कहाँ ठिकाना मिलेगा? सच्चे देव, गुरु, धर्मकी भक्ति-प्रभावना के निमित्त प्राप्त करने में अरुचि रखनेवाले आरंभ-समारंभ का बहाना धरते हैं। और अपने घर विवाहादि प्रसंगों में रुचि रखते हैं। इसका अर्थ तो यही हुआ कि उन्हें कुराग में रुचि है।

इष्ट निमित्तों की शोभा (देव, गुरु, धर्म की प्रभावना) भक्ति प्रशस्त राग है। परन्तु अभी मैं कौन हूँ, कितना सा हूँ इसका ज्ञान नहीं है। वह शुभ का निषेध करके कहाँ जायगा? जिसे स्वरूपकी दृष्टि प्राप्त है उसकी रागकी दिशा बदले बिना नहीं रहती। जहां तक साधकदशा है वहां तक राग हो ही जाता है। पवित्र

जबतक निर्ग्रंथ मुनित्व और ज्ञानकी स्थिर दशा नहीं है वहां तक आत्मधर्मकी उन्नति में इष्ट निमित्त की भक्ति, प्रभावना, आदि शुभ प्रसंग का प्रेम आये बिना नहीं रहता। यदि परमार्थ को पाया हो तो आत्मा की पवित्र वीतराग दशा में स्थिर हो जा। किन्तु अप्रशस्त राग-संसारप्रेम के रहते हुये भी सत्य परमार्थ और अनुकूल निमित्त के प्रति अनादर (अनुत्साह) रखे यह तो घोरतम अज्ञान है।

कोई एकांत दृष्टि को पकड़कर देहादि क्रियाकाण्ड में लीन है तो कोई सच्चे निमित्तोंका निषेध या निन्दा करनेमें; और कोई मनकी धारणा में-कर्म भाव में रत है। लोगों को भुलाने के लिये यत्र तत्र अनेक स्थान हैं। अनादिकाल से विपरीत दृष्टि और ज्ञानकी (सत् स्वरूपकी) विराधना तथा सत्य परीक्षा का अभाव सर्वत्र पाया जाता है, इसलिये धर्मभीरु लोगोंको विपरीत समझाने वालों का योग यत्र तत्र सर्वत्र मिल जाता है।

अपनी अनुकूलता चाहिये, अपनी निन्दा सह्य नहीं, किन्तु सुपात्र मुनि अथवा सधर्मी भाई की सेवा में भाग क्यों नहीं लेता? तथा वीतराग धर्म की प्रभावना की निन्दा होती देखकर कैसे सहन करता है? इसलिये जहां धर्मरुचि हो वहां संसार तथा देहादि के अशुभराग छोड़ने के लिये शुभ परिणाम करने से इंकार कहां किया है? क्यों कि जहां सत के प्रति रुचि होगी वहां प्रशस्त राग हुये बिना रहेगा नहीं, यद्यपि उस राग का राग नहीं है। हाँ परमार्थ मोक्षमार्ग (आत्मधर्म) में शुभ भाव (पुण्य-पाप परिणाम) का निषेध किया गया है। जब आत्मज्ञान सहित पुरुषार्थ के द्वारा अन्तरंग अभिप्राय में से शुभाशुभ दोनों विकारी भावों का निषेधरूप अबंध भाव स्थिर हो तब धर्मात्मा के अपूर्ण चारित्र है। वहां तक निश्चयस्वरूप को लक्ष करके धर्मप्रभावना के भाव होते हैं। किन्तु वह शुभ परिणाम से या देहकी क्रिया से धर्म नहीं मानता। फिर भी वह यह जानता है कि अकषाय को लक्ष करके तीव्र कषाय को दूर करने का उपाय अकषाय में पहुंचने के लिये निमित्त है।

यदि कोई निश्चय स्वरूप का अनुभव किये बिना मात्र देव, गुरु धर्मकी भक्ति, देहादि क्रिया इत्यादि व्यवहार धर्म को ही उपादेय माने, योगकी क्रिया से साधन माने, और पुण्य परिणाम में व्यस्त हो जाय तो वह सच्चा पुरुषार्थ नहीं है। निश्चयके लक्ष बिना मन्द कषाय वास्तविक मंद कषाय (प्रशस्तराग) नहीं है फिर भी जिसे स्वानुभव दशा प्राप्त नहीं है उसे यह शुभभाव छोड़कर अशुभ में जाने के लिये किसी भी शास्त्र में नहीं कहा है।

देवगुरु और धर्म तीनों वीतराग स्वरूप हैं। उसका परमार्थ ग्रहण करके स्वतत्त्व संबंधी रुचि बढ़ाये। सत्य समझने का पुरुषार्थ होनेपर साथ ही शुभ परिणाम का विकल्प और शुभ निमित्त भी आते ही हैं।

जिनशासन की शोभा, जिनप्रतिमा की भक्ति और देव, गुरु, धर्म का बहुमान हो एसी भावना होनी चाहिये। यदि कोई मनोवृत्तिको तोड़कर वीतराग दशामें स्थिर हो जाय तो उससे विवेककी मांग कोई नहीं करता।

जिसे सत्य दृष्टि प्राप्त है वह नित्य शास्त्रपठन, मनन, श्रवण, ज्ञान, ध्यान, सत्पुरुषकी भक्ति, एवं जिनाज्ञा में चलता है। उसे जहां जहां जो जो परमार्थ संभव है उसकी समझ और समझ का विवेक होता ही है।

अन्तरंग अभिप्राय में तो यह समझना चाहिये कि मैं पूर्ण शुद्ध वीतराग हूँ, मुझ में राग का अंश भी नहीं है। इस परमार्थ दृष्टि में स्थिर होते समय तो शुभ विकल्प का भी निषेध होता है। और स्थिरता का पुरुषार्थ (राग दूर करने का पुरुषार्थ) करते हुये मंद कषाय (शुभभाव) साथ में लग जाता है। अशुभ में स्थित शुभ का इंकार करनेवाला आत्मार्थी नहीं है।

गृहस्थ संबंधी-घरबार, पुत्रादिका विवाह और ऐसे ही अन्य प्रसंगों में बहुत बहुत सावधानी रखने में तत्पर रहता है, दुनियादारी में अच्छा दिखने की इच्छा रखता है, किन्तु पवित्र वीतराग धर्मकी शोभा जिनशासनकी उन्नति के लिये जो तन मन धन लगाने में संकोच करता है उसको सत् के प्रति अनादर है। यदि कभी कोई यह कहे कि आत्मा शुध्ध है, अकषाय है तो ज्ञानी उससे कहते है कि वह तेरे लिये नहीं है, क्यों कि यदि पवित्र ज्ञायक रहे तो ठीक है। किन्तु जहां जहां धर्म प्रभावक भक्ति के निमित्तों की आवश्यक्ता दिखाई दे वहां उन भले निमित्तों के बहाने से लोभ कषाय को कम करना चाहिये। ऐसा न करके यदि कोई उल्टा लोभको बढ़ाये और कहे कि क्या किया जाय, सांसारिक व्यवहार में रहनेवालों को गृहस्थी के व्यवहार में तो धनका खर्च करना ही पड़ता है। इस प्रकार धर्म प्रभावना के प्रति दुर्लक्ष करने वाले के आत्माकी रुचि नहीं है।

जिसने आत्मज्ञान दशा को प्राप्त कर लिया वह भी जब तक निर्विकल्प स्थिर उपयोग में स्थिर नहीं हो जाता तब तक शास्त्राभ्यास, स्वाध्याय देव, गुरु, धर्मकी भक्ति का परमार्थ के लक्ष से आलम्बन लेता है। वह धर्म प्रभावना के निमित्त से यथाशक्ति सब कुछ करता है। क्यों कि उसे अकषाय स्वभाव में जाना है (पूर्ण पवित्र होना है) इसलिये वह पुरुषार्थ द्वारा कषाय कम करने के निमित्तों को प्राप्त करेगा। इष्ट-निमित्त धर्म साधन में धन खर्च करके अथवा वीतराग (देव, गुरु, धर्म) के प्रति अपना प्रेम बढ़ाकर भी धर्मकी प्रभावना करेगा। आत्मार्थी अपने पुरुषार्थ को छुपायेगा नहीं।

वर्तमान में बहुत से मनुष्य निश्चयाभास में पड़े रहते हैं, अशुभ में लगे रहते हैं, वे भले ही धर्मकी बातें करते हों परन्तु उनके संसार ही पुष्ट होता है, मोक्ष स्वभावकी पुष्टि नहीं होती। क्यों कि वे यह मानते हैं कि हम पुण्य को संसार का फल मानते हैं। पुण्य से धर्म नहीं मिलता। परन्तु भाई मेरे! तनिक ठहरो, और सोचो कि मैं कहां खड़ा हूं? किस तरफ मेरा रुख है? किधर मेरी रुचि है। इसका विवेक (जानकारी या भेद ज्ञान) होना चाहिये।

धर्मी जीवको ज्ञानी का उपदेश है कि आत्मा को पहचानो। परमार्थ के लक्ष से विषय कषायों को घटाओ। स्वभावकी महत्ताको समझो और धर्म रुचि बढ़ाने के लिये देव, गुरु, धर्मकी भक्ति-प्रभावना करो।

तीव्र कषाय कम करके मन्द कषाय के लिये पुरुषार्थ करने को शुभोपदेश भी देते हैं, किन्तु आत्मार्थी को जहां जो निमित्त दिखाई देता है उससे उसी का परमार्थ समज लेता है। द्रव्य स्वभाव को शुद्ध, अबंध, निरपेक्ष मानता है। अनेकान्त न्याय-दृष्टि को यथास्थान समझता है। पुरुषार्थको नहीं हटाता। पुरुषार्थ हेतु व्यवहार का उपदेश भी परमार्थ के लक्ष से प्रेम से सुनता है। नित्य स्वाध्याय, बारह भावना, पठन पाठन, मनन और सत् स्वरूपकी भावनाद्वारा रागद्वेष प्रमाद को दूर करनेका उप-

★ सच्ची सामायिक ★

एक सामायिक और एक करोड़ स्वर्णमुद्राओंका दैनिक दान, इनमें से एक सामायिक का फल अनन्तगुना है। परन्तु वह सामायिक कौन सी? जिसमें आत्मा शुद्ध, अविकारी, वीतरागी, पुण्य, पाप, विकल्प- रहित अरागी है ऐसी श्रध्धा ज्ञान और उस अभेद स्वरूप में स्थिरता होती है वही सच्ची सामायिक है। उस सामायिकके फल के साथ अनन्त मन सोने के दान का फल भी तुलना नहीं कर सकता। किन्तु जिन्हें यथार्थ अभ्यास नहीं है, और जो अपना आग्रह छोड़ना नहीं चाहते ऐसे जीवों के सच्ची सामायिक कहां से होगी?

★

दशा ग्रहण करता है। मैं अकषायी हूं, असंयोगी हूं, परमार्थ से भिन्न अखण्ड ज्ञानमात्र हूं; इसमें स्थिर रहने के लिये वर्तमान अवस्था में रागादि कम करने का पुरुषार्थ सम्पूर्ण वीतराग हो जाने तक बना रहता है।

चार ज्ञानके स्वामी गणधर तथा ज्ञानी धर्मात्मा भी सत् पुरुष का उपदेश सुनते हैं। उपदेश में नैमित्तकी भाषा होती है कि रागद्वेषप्रमाद का नाश करो, किंचित् मात्र भी प्रमाद न करो। वह भली भांति जानता है कि परमार्थतः मेरे स्वभाव में राग द्वेष प्रमाद नहीं है, किन्तु अभी वर्तमान अधूरी अवस्था में पर निमित्त से मलिनता आजाती है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को धर्मात्मा जहां जो जैसा घटित होता है उस प्रकार समझ लेता है। परमार्थ को लक्ष करके एक को मुख्य और एक को गौण इस प्रकार यथास्थान विवेक कौन करे? यह समझ या विवेक तो स्वयं अपने ऊपर अवलम्बित होता है।

ब्राह्मण लग्न विधि करा देता है, किन्तु वह गृहस्थीका कारभार तो नहीं चला देता? उसी प्रकार श्री गुरु सत्य परमार्थकी दशा बताते हैं किन्तु वे किसी जीव अजीव को परिणमन तो नहीं करा सकते। क्योंकि शास्त्र में मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। गुरुगमकी महिमा को अपने ज्ञानमें उतारना चाहिये। परभावका त्याग; संसार, परिग्रह देहादि और विषयों से वैराग्य; यह त्याग,-वैराग्यका पुरुषार्थ परमार्थ के लक्ष से होना चाहिये। अन्तरंग ज्ञानकी स्थिरताका पुरुषार्थ वीतराग दृष्टिकी दृढता के लिये आवश्यक है। उसमें पात्रता और सत् समागम का बल चाहिये। ★

जैन धर्म

लेखक: रामजी माणेकचंद दोशी

इस विषय को निम्न लिखित ५ विभागों में विभक्त करने से स्पष्ट हो जायगा। (१) 'जैनधर्म' पद का अर्थ, (२) जैनतत्त्व संक्षेप में, (३) जैनशास्त्रों की कथन पद्धति, (४) जैनदर्शन का अनादि अनन्तपन, (५) सौराष्ट्र का जैनधर्म के प्रति अपना भाग।

(१) जैनधर्म पद का अर्थ

'जैनधर्म' दो शब्दों का बना हुआ एक पद है। 'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् 'वस्तु स्वभावः धर्मः'। जीव स्वतंत्र स्वयं सिद्ध ज्ञानमय वस्तु है, इसलिये यहां 'धर्म' शब्द का अर्थ-'जीव का स्वभाव सो धर्म' है। इस धर्म के पूर्व 'जैन' विशेषण लगाया गया है। 'जैन' का अर्थ है 'जीतने वाला'। इससे सिद्ध होता है कि अपना स्वभाव (धर्म) प्रगट करने में कुछ जीतना होता है। यदि कुछ जीतना न हो तो 'जैन' शब्द ही नहीं बनता। जो जीतना है वह है अनादिकाल से स्वयं पुष्ट किया गया स्वस्वरूपका भ्रम या विपरीत श्रद्धा। और उस भ्रम के कारण होनेवाली पर वस्तु के प्रति इष्ट अनिष्टकी कल्पना जीव को जीतना है। जिन अपने दोषों को जीतना है उन्हें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा जाता है। उन दोषोंको जीतनेवाले आत्मा का जो स्वभाव है, वह है 'जैनधर्म'।

'जैनधर्म' कोई संप्रदाय अथवा दायरा नहीं हो सकता; क्यों कि आत्मा का (अपना) शुद्ध स्वरूप ही जैनधर्म है। (स्मरण रहे कि आत्मा और जीव एक ही अर्थ में जैनशास्त्रों में प्रयुक्त होते हैं)।

इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि आत्मा अपने दोषों को दूर करे और पूर्ण पवित्रता (वीतरागता) प्रगट करे, उसका नाम है आत्मा का स्वभाव यानी जैनधर्म। इसलिये जो आत्मा वीतरागता प्राप्त करते हैं वे ही सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस संबंध में श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि:—

"जीव एक अखंड द्रव्य है, इस लिये उसकी ज्ञान सामर्थ्य सम्पूर्ण है। जो सम्पूर्ण वीतराग होता है वही सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है।"

(२) जैनतत्त्व संक्षेप में

(१) आकाश अनन्त है, (२) उसमें जड-चेतनात्मक विश्व है, (३) विश्व मर्यादा दो अमूर्त द्रव्यों से है, जिन्हें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहते हैं। (४) जीव और परमाणु पुद्गल यह दोनों द्रव्य एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जा सकते हैं। (५) सभी द्रव्य द्रव्यरूप में शाश्वत हैं, (६) जीव अनंत हैं, (७) पुद्गल परमाणु अनन्तानंत हैं, (८) धर्मास्तिकाय एक है, (९) अधर्मास्तिकाय एक है, (१०) काल द्रव्य असंख्यात [कालाणु] हैं, (११) प्रत्येक जीव विश्वप्रमाण क्षेत्रावगाह कर सकता है।

ऊपर संक्षेप में जो तत्त्व कथन किया है उस में इस जगत में छह द्रव्य [द्रव्य=अनन्त गुणों का त्रिकाली अखंड पिण्ड] हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं:-

१—जीव अनन्त:—उस का लक्षण ज्ञान है। उसके दो प्रकार हैं, संसारी और सिद्ध [जो ज्ञान स्वरूप दशा को प्राप्त हो चुके हैं, और जो सर्व दोषों से मुक्त हैं]

२—पुद्गल अनन्तानन्त:—इस के दो विभाग हैं, परमाणु और स्कंध। दोनों अनन्तानन्त हैं। उसमें विशेष गुण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण है। उसे मूर्तिक भी कहा जाता है।

३—धर्मास्तिकाय:—एक ही द्रव्य है, अमूर्तिक है, जीव और पुद्गल गति करते हैं उस में उदासीन निमित्त है।

४—अधर्मास्तिकाय:—एक ही द्रव्य है, अमूर्तिक है, जीव और पुद्गल गति करते हुये रुक जाते हैं तो उस में उदासीन निमित्त है।

५—काल:—लोक प्रमाण असंख्यात द्रव्य है। वह सर्व द्रव्यों के वर्तना में निमित्त है।

६—आकाश:—एक द्रव्य है। इसके दो भेद हैं, एक लोकाकाश जिस में छहों द्रव्य रहते हैं, दूसरा अलोकाकाश, जिस में केवल एक आकाश ही है। उसमें लोकाकाश सब के क्षेत्रावगाहरूप में विद्यमान है।

इन में नं. २ से ६ तक सब अचेतन द्रव्य हैं, इसलिये उनके सुख दुःख नहीं होता। जीव द्रव्यका लक्षण चेतना है, उसकी संख्या अनन्त हैं। जीवका एक प्रकार 'सिद्ध' है। उनने सम्पूर्ण पवित्रता प्राप्त करली है इस लिये वे संपूर्ण सुखी हैं। और जीवका दूसरा प्रकार संसारी है; उसके भी दो भेद हैं [१] केवली [२] और छद्मस्थ-[अपूर्णज्ञानवाले]; इनमें से जो केवली हैं वे सम्पूर्ण सुखी हैं, क्योंकि उनने अपने स्वरूपकी भ्रमणा दूर करके राग-द्वेषका सम्पूर्ण नाश किया है, और उसके परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण ज्ञान और सुख प्रगट किया है। बाकी रहे छद्मस्थ सो उनके संबंध में यहां विशेष जानना चाहिये। क्यों कि सभी जीव सुख चाहते हैं और चाहते है कि, वह सुख शाश्वत बना रहे, किन्तु उन्हें शाश्वत सुख मिल नही पाता। इसलिये यहांपर यह बताया जाता है कि दुःखका कारण क्या है और शाश्वत सुख प्राप्त करने का क्या उपाय है?

अनादिकालसे यह जीव शरीरको अपना मानता है, और इसीलिये यह दुखी होता है। यदि उसका आत्म-स्वरूप संबंधी भ्रम दूर हो तो दुःख भी दूर हो और शाश्वत सुख प्रगट हो। सुख जीवका अपना निजगुण है, इसलिये सुख जीव के भीतर ही विद्यमान है। किन्तु जीव आत्मस्वरूपको नहीं समझता, इसलिये जब तक भ्रम दूर नहीं हो जाता तबतक वह दुखी ही रहता है, और परानुकूलता को सुख मानता है। इसलिये जीवको आत्मस्वरूप समझना चाहिये। और उसके समझने में यह भी जानना चाहिये कि अपने अतिरिक्त पर (दूसरी) वस्तुयें (द्रव्य) क्या हैं?

आत्मस्वरूप को समझने के लिये पहले यह भी जान लेना आवश्यक है कि आत्मभ्रमरूप अवस्था का क्या कारण है, और यह विकारी दशा दूर होकर अविकारी दशा क्यों कर प्रगट हो, आत्मा परका कुछ कर भी सकता है या नहीं, और पर—आत्माका कुछ कर सकता है या नहीं?

यह तमाम बातें जैन शास्त्रों में अनेक दृष्टिसे विस्तार-पूर्वक समझाई गई हैं। उन सबका वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। इसलिये यहां पर उसके कुछ मूलभूत सिद्धान्त ही बताये जा रहे हैं।

(१) "सद् द्रव्यलक्षणम्" [अध्याय ५, सूत्र २९. तत्वार्थ सूत्र]

अर्थ—द्रव्य का लक्षण सत् है।

(२) "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" [अध्याय ५, सूत्र ३०, तत्वार्थ सूत्र]

अर्थ—नवीन अवस्थाका प्रगट होना (उत्पाद), पुरानी अवस्थाका नाश होना (व्यय), और मूलवस्तु का ज्यों का त्यों बनारहना (ध्रौव्य), यह सत्का लक्षण है।

प्रत्येक वस्तुका मूलरूप स्थिर रहकर उसकी पर्याय (अवस्था) बदलती रहती है, किसी भी वस्तुका सर्वथा नाश नहीं होता, केवल उसका रूपान्तर होता है।

No substance is destroyed, every substance changes its form.

(३) "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" [अध्याय ५, सूत्र ३८, तत्वार्थ सूत्र]

अर्थ—द्रव्य, गुण और पर्यायवान् होता है। अर्थात्, जगत्में कोई भी वस्तु अपने गुण और उसकी अवस्थाओंको छोड़कर नहीं होती।

Every substance has it's qualities and condition.

(४) "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" [अध्याय ५, सूत्र ४१, तत्वार्थ सूत्र]

अर्थ—जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वयं गुणरहित हो, वह गुण है। प्रकारान्त से इसे यों भी कह सकते हैं कि जो द्रव्य के समस्त भागोंमें और समस्त अवस्थाओंमें रहता है, तथा स्वयं जिसके कोई अन्यगुण नहीं हैं, वह

'गुण' कहा जाता है।

(५) "तद्भावः परिणामः" [अध्याय ५, सूत्र ४२, तत्वार्थ सूत्र]

अर्थ—द्रव्योंके और उनके गुणों के स्वभाव-स्वतत्वको (तद्भावको) परिणाम कहते हैं। यह परिणाम द्रव्य से या गुण से सर्वथा भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं, किन्तु उसीका स्वभाव है।

(६) "उपयोगो लक्षणं" (अध्याय २, सूत्र ८, तत्वार्थसूत्र)

अर्थ—जीवका लक्षण उपयोग (ज्ञानदर्शनरूप) है।

(७) "सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (अध्याय १, सूत्र १, तत्वार्थ सूत्र)

अर्थ—आत्मस्वरूपकी यथार्थ प्रतीति, यथार्थ ज्ञान, और ज्ञानकी स्थिरतारूप यथार्थ चारित्र, सो मोक्षमार्ग है।

(८) सम्यग्दर्शनकी व्याख्या निम्नप्रकार है:—

मूल—भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्य पाव च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्त ॥१३॥

संस्कृत—भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आश्रवसंवर निर्जरबंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥१३॥

अर्थ—भूतार्थ नय से जाने हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष, यह नौ पदार्थ सम्यक्त्व हैं।

विशेषार्थ—अजीव पांच प्रकार के हैं। इन में से एक पुद्गल द्रव्य जीव की विकारी अवस्था में निमित्त होता है। पुण्य, पाप, आस्रव और बंध यह चारों जीवके विकारी भाव हैं। इनमें से भी पुण्य जीवका मंद विकारी भाव है और पाप तीव्र विकारी भाव है। आस्रव जीवका प्रगट होता हुआ नया विकारीभाव है (इसमें पुण्य और पाप दोनों अन्तर्भूत हैं); जीवका विकारमें फंस जाना बंध है। संवर, निर्जरा और मोक्ष जीवकी अविकारी अवस्था है। नवीन विकारका रुकना और आंशिक शुध्धता का प्रगट होना संवर है। पुराने विकारोंका एक देश दूर हो जाना निर्जरा है। और संपूर्ण विकारों से संपूर्ण मुक्त होजाना मोक्ष है।

इन नौं भावोंका स्वरूप, आत्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानियों से सुनकर और उसका मनन करके उसके स्वरूपका स्वयं यथार्थ निर्णय करना चाहिये। उस निर्णय के वाद इन नौं तत्वोंका विकल्प दूर करके अपने ध्रुव स्वरूपकी ओर आत्माके सन्मुख होने पर आत्मस्वरूपकी यथार्थ प्रतीति होती है। उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। (क्रमशः)

मिथ्यात्व सहित अहिंसादिका फल

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग यदि मिथ्यात्वयुक्त हों तो वह उसी प्रकार व्यर्थ जाते हैं जैसे कड़वी तुंवी में रखा हुआ दूध। कड़वी तुंबी में रखा हुआ दूध पित्तोपशम करने के लिये मिठास आदि गुणों से रहित होजाता है; अर्थात् उस दूध में अफलता आजाती है। उसी प्रकार यदि अहिंसादिक मिथ्यात्वयुक्त हों तो आत्माको स्वर्ग (देवगति) में जन्म हो जाता है; किन्तु लौकान्तिक देवत्व अथवा ऐसा ही कोई सातिशय फल प्राप्त नहीं होता। मिथ्यात्वदूषित अहिंसादिसे केवल इतनी ही हानि नहीं है कि फ़लातिशय नहीं मिलता; किन्तु वह आत्मामें रहकर महादोषोंकी सृष्टि भी करता है।

यद्यपि औषधि लाभ कारक होती है; किन्तु यदि उसमें विष मिल गया हो तो वह दोषयुक्त हो जाती है—घातक बन जाती है, उसी प्रकार अहिंसादिके मिथ्यात्व युक्त होने पर वह गुण के स्थानपर संसारमें दीर्घकाल तक परिभ्रमण कराने वाले दोषों को धारण कर लेती है। अथवा मिथ्यादृष्टिको यह अहिंसादि पापानुबंधी स्वल्प इन्द्रिय सुख की प्राप्ति करादेते हैं, किन्तु वह उसे बहुत आरंभ और परिग्रहमें आसक्त करके नरकों में ले जाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्व दूषित अहिंसादि दोषोंको उत्पन्न करते हैं जैसे विषमिश्रित औषधि से लाभ नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्वसहित अहिंसादि से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

वेषधारी धर्मोपदेशक

जिसके रागद्वेष अज्ञानादि सब दूर हो गये हैं ऐसे वीतराग जिनेश्वर, सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि द्वारा प्ररूपित न्यायधर्म—लोकोत्तर मार्ग को जाने विना बहुत से लोग धर्मोपदेशक का वाना पहिनकर समस्त धर्मोंका समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। मानो वे कुजात और सुजात अर्थात् लौकिक मार्ग और अलौकिक सन्मार्ग रूप अपूर्व धर्मका समन्वय करते हैं। मानो वे अलपका वस्त्र के साथ टाट—फट्टी को जोड़कर कहते हैं कि दोनों वस्त्र (?) समान हैं। इसी प्रकार कुछ अल्पज्ञ लोग अपनी बुद्धि—कल्पना से सर्वज्ञ परमात्माके सिध्धान्तों को अन्य लौकिक धर्मोंके साथ समान वतलाते हैं। अरे! कहां जुगनूका प्रकाश और कहां सूर्यका तेजपुंज ? दोनों के वीच समानता कैसी ? दोनोंका समन्वय करने वाला मानो सूर्यको ढकनेका प्रयत्न करता है! वह आत्मज्ञान से रहित है।

समझ ही धर्म है और अज्ञान ही संसार

सभीजीव सुख चाहते हैं किन्तु सुखका सच्चा उपाय नहीं जानने के कारण पराश्रयमें सुख मान लेते हैं। इसलिये उन्हें सुख की जगह दुःख ही हो रहा है...! पराधीनता ही दुःख है और स्वाधीनता ही सुख ......!

सुख दुःखका स्वरूप बताते हुये कहा है:--

जो पराधीन वह दुख जानो,
निजवश उतना ही सुख मानो;
इस दृष्टि से आत्मगुण प्रगटे,
तब सुख है क्या इसको जानो;
भवि वीरवचन अवधारो......!!

अर्थात्—आत्माको अपने सुखके लिये जो परकी इच्छा होती है वही दुःख है, और जो आत्माके आधीन है वही सुख है। पाप-पुण्य अथवा कोई परके आधीन मेरा सुख नहीं है इस दृष्टिसे आत्माका गुण (सुख) प्रगट होता है। तब फिर विचार करो कि सुख क्या है? हे भव्य जीव! वीर भगवानके वचन सुनो और समझो! तू कौन है यह जान ले तो तुझे तेरी समझ में बंधन मालूम ही नहीं होगा और यदि बिना समज के चाहे जो करेगा तो बंधन है ही। पर द्रव्यसे अपने लिये किसी भी प्रकार लाभ हानि मानना ही बंधन है।

आत्मा स्वतः सिद्ध वस्तु है। बंधका कारण पर नहीं है। केवल तेरी मान्यता ही ऐसी है। प्रत्येक वस्तुका जो स्वभाव है वह उस वस्तु से ही स्वतंत्ररूप में हैं; किसीभी वस्तु का स्वभाव पराश्रित नहीं है। पुण्यके आधार पर धर्म नही है ...धर्म अपने ही आधारपर है......!

आत्माकी स्वतंत्रताको कोई लूट नहीं सकता—यदि शत्रु आये तो वह अनुकूल भाव को नही बदल सकता और यदि मित्र आये तो वह विपरीत भाव को टाल नहीं सकता। यदि वह समझे तो स्वयं प्रभु है। प्रभु, तेरी प्रभुता तुझ में ही है।... तू स्वयं अच्छे बुरे भाव करता है।

जो निरंतर ज्ञान स्वभाव में परिणमन करता है उसके पुण्य पाप या किसी पर से अज्ञान नहीं होता। अर्थात् वह उससे अपने लिये कोई हानि-लाभ नहीं मानता....ज्ञानी सभी संयोगों में ज्ञानरूप ही परिणमन करते हैं—कभी अज्ञानरूप होते ही नहीं।....

ज्ञानी से कहते है कि हे ज्ञानी! तू सर्व संयोगों को जान ले। तेरे लिये कोई भी संयोग हानि नहीं कर सकते। इसलिये शंका मत कर कि "कहीं पर मुझे हानि तो नहीं करेगा!" स्वतंत्रताकी समझ के बिना यदि पंच महाव्रत धारण किये तो भी वह पापी (अधर्मी) है....और यदि भान है—समझ है तो वह राजपाटमें रहने पर भी धर्मी है।

कोई परवस्तु बंधकी कारण नहीं है। आत्माको केवल उसके भावका ही हानि-लाभ है। पर, बंधका कारण नहीं है। दृष्टिकी भूल ही बंधका कारण है। भावार्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतः सिद्ध है, प्रत्येक का स्वभाव अपने ही आधीन है। एक द्रव्य दूसरे को परिणमित नहीं कर सकता।

यह सब किस लिये कहा जाता है? लोग परसे लाभ हानि मानते हैं वह मान्यता दूर हो, तथा यह समझें कि तेरे भाव में कोई भागीदार नही है... तेरे भावका शत प्रतिशत फल तुझे ही है।

ज्ञानी से कहते हैं कि—ऐसी शंका ही मत कर कि परसंयोग बढ़ रहे हैं इसलिये इमें नुकसान तो नहीं करेगा? क्यों कि पर वस्तु नुकसानका कारण नहीं है, तेरा अज्ञानभाव ही नुकसान का कारण है। एक पदार्थको दूसरे पदार्थ से लाभ या हानि मानना ही बंधन है।

यहां कोई यह प्रश्न कर सकता है कि—परवस्तु बंधनका कारण नहीं है तो माल मलीदा खाने में क्या हानि है? उसका समाधान यह है—जहां तूने खाने से सुख माना वहां पर से सुख माना, उसी में तेरी विपरीत मान्यता का पाप है.......परको भोगनेका भाव ही मिथ्यात्व है। (ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी पर को नहीं भोग सकता)

प्रतिकूल संयोग बंध का कारण नहीं है, किन्तु जहां तू अपने स्वभाव से चूका वहीं बंधन है। ज्ञानी अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों से कभी भी लाभ या हानि नहीं मानता, इसलिये वह किसी में भी लिप्त नहीं होता। तेरा धर्म तुझ में ही तेरे आधीन है, उसे पर सहायकी आवश्यका नहीं है, नर्ककी प्रतिकूलता धर्मको नहीं रोक सकती और स्वर्गकी अनुकूलता धर्म में सहायक नहीं हो सकती।

धर्मी—ज्ञानी चाहे जैसी प्रतिकूलताओं में घबराता नहीं है—बेचैन नहीं होता, शंकित नहीं होता; गरीब

मज़दूर के भी धर्म हो सकता है। स्वभावको जाननेवाला ज्ञानी निःशंक होता है कि मेरे स्वभावको कोई भी हानि नहीं पहुंचा सकता।

समस्त संयोगों मे एक ही बात ध्यान में रखो कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ नहीं कर सकता। मेरा चैतन्य स्वरूप मुझ में है। चैतन्य स्वभावको भूलकर परको अच्छा मानना ही अनंत पाप है। समझ ही धर्म और अज्ञान ही संसार है। प्रत्येक ज्ञानी या अज्ञानी जीव स्वतंत्र है। किसी का भी अभिप्राय बदल देने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है। रुचि अपने स्वभावकी कर! तेरे अपार स्वभाव के लिये कोई भी पर द्रव्य हानि या लाभ पहुंचाने में समर्थ नहीं है।

चैतन्य ज्योति ज्ञानस्वरूप मुक्त ही है। पचास वर्ष पूर्व के राग का ज्ञान करने में ज्ञान में कहीं राग नहीं आजाता। रागरहित ज्ञान हो सकता है। ज्ञानस्वरूप मुक्त है, उसे ज्ञान करने में कोई द्रव्य क्षेत्र काल भाव बाधक नहीं होता। मुक्त स्वरूप में शंका होना ही संसार है।

भगवान-आत्मा किस प्रकारकी है? ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान में कोई पर बाधक नहीं होता, इसलिये पर के कारण से ज्ञान में रागादि नहीं रहा। केवल स्वाश्रय के ज्ञान को स्थिर रखना ही केवलज्ञान है।

अपने ऐसे स्वभाव में यदि तू शंका करेगा तो तेरे हाथ मे वह नहीं आयगा। मुक्त स्वभावका जानना ही धर्म है।

अनादिकालसे अपनी ही श्रध्धा नहीं जमती, और पर के उपर, शरीरादिपर ध्यान रखता है, किन्तु वास्तव में तेरे ज्ञान स्वभाव में कोई भी पर कुछ भी करने के लिये समर्थ नहीं है। पूर्व निमित्त से बाह्य संयोग या अंतरंग क्षणिक रागादि स्वभाव में नहीं हैं, ज्ञानका उपाय ज्ञान ही है। अनन्त कालमें जो नहीं प्राप्त किया वह सच्चा भान प्राप्त कर लेना ही अपूर्व है, और उसीमें अनन्त पुरुषार्थ है।

परद्रव्य से लाभ या हानि नहीं होती, इसका अर्थ यह नहीं है कि तू स्वेच्छाचारी बन जाय। स्वेच्छाचार तो स्वभाव का नाश करनेवाला है। कोई परका कुछ नहीं कर सकता इस कथन से दुसरेको मारने-जिलाने या भोगनेका भाव ही दूर होजाना चाहिये। स्वरूप की रुचि, भान और उस प्रकार का परिणमन ही धर्म है, जो इस बात को नहीं समझे और

आत्मधर्म की प्रभावना किजीये

अपनी विपरीत मान्यता को भी नहीं छोड़े तो आचार्य देव कहते हैं कि उसके लिये क्या किया जाय? सभी स्वतंत्र हैं; प्रभु हैं; विपरीत वर्तन में भी सब स्वतंत्र हैं; ऐसी दशा में प्रभु तू ही अपनी अवस्था को सम्हाल; तू ही अपने तर्कों का समाधान कर तभी होगा। यहां तो तेरी स्वतंत्रताका ढोल पिट रहा है। 'तू प्रभु है!'

शाश्वत सुख तेरे स्वभावमें है। परमें किंचित् मात्र भी सुख नहीं है। आत्माका स्वरूप कैसा है? स्त्री-बालक, सधन-निर्धन, रागी-द्वेषी, मनुष्य-देव कोई भी आत्माका स्वरूप नहीं है। स्वरूपका भान ही उद्धारका मार्ग है। बिना भान के किसी भी प्रकारसे उध्धारका मार्ग नहीं निकल सकता।

अनादिकालसे यथार्थ चैतन्य स्वरूपको जाना नहीं है, और वस्तु स्वरूपको समझे बिना कभी हल हो नहीं सकता। इसलिये स्वभावका भान कर और स्वभावके बलपर रागादि के विरुध्ध अकेला जुटजा। तेरा कोई भी नुकसान करने में समर्थ नहीं है।

जहां परसे बंध माना वहीं आत्माको पराधीन माना। कोई तीर्थंकर भी तेरी सहायता नहीं कर सकते, केवल निमित्त से ही यह कहा जाता है कि "तित्थयरा मे पसीयंतु," किन्तु वास्तवमें तीर्थंकर मदद नहीं कर सकते। मात्र विनय से ऐसा कहा जाता है। भला, वीतराग भी किसी को सहायक होते होंगे?

पर से न तो धर्म है और न हानि! फिर व्यर्थ ही परका अहंकार क्यों करता है? परसे धर्म मानना अज्ञान है। अज्ञानीको उस के भावकी ही हानि है-परकी नहीं, तेरी ही शंका से तुझे हानि है और तेरी ही निःशंकता से तुझे धर्म है। सच्ची पहिचान के बिना कभी निःशंकता नहीं हो सकती। उपभोग का भोग कर, ऐसा कह कर यहाँ परके भोगने को नहीं कहा है किन्तु ज्ञान स्वभावकी दृढता प्राप्त होने पर पर-संयोग आकर छूट जायेंगे; ज्ञानीको किसी पर-संयोग का आदर नहीं है।

जिस भाव से तीर्थंकर नाम कर्मका बंध होता है उस भाव के प्रति भी ज्ञानी की दृष्टि में कोई आदर नहीं है।

यहां पर स्वभावकी स्वतंत्रता का वर्णन किया है, कि भाई! तेरे स्वभाव के भान में कोई भी परवस्तु तुझे हानि नहीं पहुंचा सकती। ★

पूज्य सद्‌गुरुदेव के
: व्याख्यान से :

महान् उपकारी भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य

: आचार्यपद दिन :
[पौष कृष्णा अष्टमी]

आज भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य-देवको 'आचार्य पदवी' मिलने का मांगलिक दिन है। उनके समय में पुण्ययोग से उन्हें साक्षात् तीर्थंकरकी वाणी सुनने का प्रसंग प्राप्त हो गया था। वे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह क्षेत्र में गये थे जहां साक्षात् तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी विराजमान हैं। उनने वहाँ जाकर आठ दिन तक साक्षात् तीर्थंकरकी वाणी सुनी थी, और फिर भरतक्षेत्र में वापिस पधारे थे। यह विक्रमकी प्रथम शताब्दीकी घटना है।

महाविदेह से आकर आचार्यदेवने जो साक्षात् प्रभुकी दिव्यध्वनि में सुना था तथा यहां पर गुरुपरम्परा से जो ज्ञान प्राप्त किया था, और स्वयं जो अन्तर स्वभाव का अनुभव किया था उसके बलपर अनुभवकी कलम से श्री समयसार, श्री प्रवचनसार श्री पंचास्तिकाय, नियमसार, तथा अष्टपाहुड आदि ग्रंथोंकी रचना की थी। इन शास्त्रोंसे बहुत से भव्यजीवोंका उद्धार हुआ है और होगा।

आज--पौष कृष्णा अष्टमीके दिन भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रभुको आचार्य पद अर्थात् शासन रक्षक की पदवी मिलनेका मांगलिक दिन है। उनने इस काल के अनुसार आचार्यपद से तीर्थंकर पद जैसा महान् कार्य किया है; अपने अपूर्व अनुभवको समयसारादि शास्त्रों में गूंथ कर शासन का वास्तव में उद्धार किया है। ऐसे महान उपकारी श्री कुंदकुंद प्रभु के 'आचार्यपद' का आज मांगलिक दिन है। आज शासन का महान् दिन है।

जिसे स्वभाव का महात्म्य प्राप्त हुआ उसे निमित्त का-देव-गुरु-शास्त्रों का बहुमान हुये बिना नहीं रह सकता। गुरुगम के बिना धर्म नहीं जाना जा सकता, क्यों कि जगतको सत् वस्तुका अनादिकाल से अपरिचय है, अजानपना है। पहले सतको समझने के लिये सत निमित्त चाहिये। उपकार का आरोप तो वर्तमान निमित्त पर ही अवलम्बित है। जिसकी जितनी जैसी योग्यता होती है उसे वैसा योग्य निमित्त मिल ही जाता है। और जब उसे इसका ज्ञान हो जाता है तब वह निमित्त का उपकार (वीतराग होने तक) गाये बिना नहीं रहता।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने जो वस्तु कही है उससे महान् उपकार हुआ है। वह गुरुगम के बिना समझ में नहीं आसकता।

बूझी चहत जो प्यासको,
है बूझन की रीत।
पावे नहिं गुरुगम बिना,
यही अनादि स्थित।
(श्रीमद् राजचन्द्र)

अन्तरंग में सत् समझनेकी जिज्ञासा जागृत हो और सत् का निमित्त नहीं मिले, यह नहीं हो सकता। जब स्वयं सत् को समझे तब सत् के निमित्तका बहुमान किये बिना रह ही नहीं सकता।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यने वस्तु स्वभावका अचिन्त्य वर्णन अपूर्व रीति से किया है। आत्मवस्तुमें कर्म निमित्त का संग लिया जाय तो बंध मोक्ष अवस्थाका भेद बनता है, और यदि केवल वस्तु को ही लक्ष में लिया जाय, तो वस्तु तो ज्ञायक स्वभावरूप ही है। आचार्य महाराजने कहा है—

अप्रमत्त है—न—प्रमत्त है,
वह एक 'ज्ञायक' भाव है;
यह रीत 'शुद्ध' कहाय,
अरु जो ज्ञातहै वह है वही ॥६॥

आचार्यदेवने श्री समयसार शास्त्र की ऊपर कही हुई छट्ठी गाथामें केवल स्वभावका वर्णन किया है। उसमें 'ज्ञायक' शब्दका प्रयोग किया है। सामान्य पारिणामिक भाव को ही ज्ञायक कहा है। क्योंकि, उस शास्त्र-भाषा के पारिणामिक शब्द को लोग नहीं समझ सकेंगे इसलिये आचार्यदेव का सहज शब्द 'ज्ञायक' प्रयुक्त हुआ है। उस ज्ञायक स्वभावका छट्ठी गाथामें अपूर्व वर्णन किया गया है। वहांसे समयसार का प्रारंभ होता है।

धर्मात्मा श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान

छट्ठी-सातवीं भूमिकामें प्रमत्त अप्रमत्त दशा में झूलते थे। उस अवस्था में आन्तरिक नकार उद्घोषित हुआ कि यह प्रमत्त-अप्रमत्त का भेद कैसा ? आचार्यदेव स्वयं जिस भूमिका में झूल रहे थे वहीं से उसका (अप्रमत्त-प्रमत्त के भेद का) इंकार करके, कि मैं तो त्रिकाल एकरूप ज्ञायक हूँ (इस बल पर वर्तमान स्थिति का भी इंकार करके) उनने छट्ठी गाथा में मात्र ज्ञायक स्वभाव का ही अचिन्त्य वर्णन किया है।

अहो ! आचार्यदेवने समयसार में वस्तुका ऐसा अलौकिक वर्णन किया है कि, ४१५ गाथाओं में तो जिनेन्द्र भगवानकी साक्षात् ध्वनि ही उतार दी है। जिसने इस प्रकार वस्तु स्वभावको जाना है उसके भवका अंत हुये बिना रह ही नहीं सकता।

जिसकी दृष्टि वस्तु स्वभाव पर है उसके बंधन नहीं है। मोक्ष अवस्था भी पर्याय है। यह विकल्प भी वस्तु दृष्टि में नहीं रहता कि 'मेरी पूर्ण निर्मल पर्याय कब प्रगट होगी।' किन्तु वस्तु दृष्टि के बल से निर्मल पर्याय अल्पकाल में सहज ही प्रगट हो जाती है। द्रव्यदृष्टि से वस्तु स्वभाव अपरिणामी है। पर्याय दृष्टि से परके लक्ष से जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनसे स्वभाव उस रूप नहीं हो जाता।

वस्तुका परिणामिक स्वभाव है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने उसे ज्ञायक रूप में वर्णन किया है। जो ऐसे वस्तु स्वरूपको जानता है वह ज्ञानी अपने स्वभाव में रागादिको नहीं खतियाता, और इसलिये उसे बंधन नहीं होता। उसकी अल्पकालमें ही मुक्ति निश्चित है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने महाविदेह क्षेत्रमें जाकर, साक्षात् तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि सुनकर, वह वाणी शास्त्र द्वारा भरतक्षेत्रको देकर इस क्षेत्रके अनेक भव्य जीवों का उपकार—महान् उपकार किया है। ऐसे परम उपकारी, शासनोद्धारक श्री कुन्दकुन्द भगवान को नमस्कार हो।

★

सभामें अध्यात्मोपदेश : २

भगवान योगीन्द्रदेव क्या कहते हैं ?

जो सभामें निश्चय मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं वे 'उपाध्याय' परमेष्ठी हैं। परमात्मप्रकाश की ७ वीं गाथा की टीका में यह व्याख्या की गई है। वह टीका निम्न प्रकार है—

पंचास्तिकायषट्द्रव्यसाततत्वनवपदार्थेषु मध्ये शुद्ध-जीवास्तिकायशुद्धजीवद्रव्यशुद्धजीवतत्वशुद्धजीवपदार्थसंज्ञं स्वशुद्धात्म-भावमुपादेयं तस्माच्चान्यद्धेयं कथयन्ति, शुध्धात्मस्वभावसम्यक्श्रध्धानज्ञानानुचरण रूपाभेद रत्नत्र-यात्मकं निश्चय मोक्षमार्गं च ये कथयन्ति ते भवन्त्युपा-ध्यायास्तानहं वन्दे।

अर्थ—पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सप्त तत्व, नव पदार्थ हैं, उनमें निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निज शुध्ध द्रव्य निज शुद्ध जीव तत्व, निज शुद्ध जीव पदार्थ, जो शुध्धात्मा है, वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, अन्य सब त्यागने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं; तथा शुध्धात्म-स्वभावका सम्यक श्रधान ज्ञान आचरणरूप अभेद रत्नत्रय है, वही निश्चय मोक्षमार्ग है, ऐसा उपदेश शिष्योंको देते हैं, ऐसे उपाध्यायों को मैं नमस्कार करता हूं।

पंडित जयचंद्रजी कहते हैं कि,

आत्मसेवन करने का उपदेश देना चाहिये।

इस संबंधमें श्री समयसार में इस प्रकार कहा है:—"दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनों आत्मा की पर्यायें हैं, कोई जुदी वस्तु नहीं है; इसलिये साधु पुरुषों को एक आत्माका ही सेवन करना चाहिये, यह निश्चय है। और व्यवहार से [अर्थात् जब स्वरूपमें स्थिर नहीं रहा जा सके तब) अन्यको भी यही उपदेश देना चाहिये।"

इससे यह सिध्ध होता है कि साधुपुरुषोंको केवल आत्मा का ही सेवन करने का उपदेश देना चाहिये, मुमुक्षुओंको निरंतर समयसार सुनाना चाहिये, और निरंतर उसका अभ्यास करना चाहिये।

श्री समयसार अध्यात्म ग्रंथ है। पं. जयचन्द्रजीने उसकी हिन्दी में भाषा वचनिका सं. १८६४ में की थी; उस वचनिकाको समाप्त करते हुये उनने निम्न प्रकार लिखा है:—

"इस न्यायसे आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्य कृत ही है, इसलिये इसे पढ़ने और सुननेवालोंको उनका उपकार मानना उचित ही है; क्यों कि उसे पढ़ने सुनने से पारमार्थिक आत्मा का स्वरूप जाना जाता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, और मिथ्याज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण दूर होता है। और परम्परा से मोक्षकी प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओंको निरंतर इस का अभ्यास करना चाहिये।"

अल्पबुद्धि के लिये समयसार है—

टीका समाप्त करते हुये पं. जयचन्द्रजीने अंतिम मंगल कवित्त में तीसरे पद में कहा है—

देशकी वचनिका में लिखी
जयचन्द्र पढ़े संक्षेप अर्थ,
अल्प बुध्धि को पावनो;

अर्थ—अल्प बुद्धि जीवोंको समझने के देशभाषा में संक्षेप में अर्थ लिखा है।

सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टियों की सभामें श्री समयसार समझाता है; जिससे मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं:—

"श्री समयसार में प्रथम ३८ गाथायें [जीवाजीवाधिकार में] पूर्व रंगरूप है; उन्हें समाप्त करते हुये पं. जयचंद्रजी कहते हैं कि—यहां प्रथम रंगभूमि स्थल कहा गया हैं, वहाँ दर्शक तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं, तथा दूसरे मिथ्यादृष्टियोंकी सभा है। उन्हें बतलाते हैं। नृत्य करने वाले जीवाजीव पदार्थ हैं, और उन दोनों की एकता, कर्ताकर्मपन आदि उनकी स्वांग है। उस में वे परस्पर अनेक रूप होते हैं। आठ रसरूप होकर परिणमित होते हैं, वह नृत्य है। वहां देखनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव-अजीव के भिन्न स्वरूपको जानता है। वह इस समस्त स्वांगको कर्मकृत जानकर शांतरस में ही मग्न है। और मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव का भेद नहीं जानते, इसलिये वे इन स्वांगोंको ही सत्य मानकर उन में लीन हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि उन्हें यथार्थ स्वरूप बताकर, उनका भ्रम मिटा कर, उन्हें शान्तरस में लीन करके सम्यग्दृष्टि बनाते हैं।"

उपरोक्त अवतरण सिध्ध करता है कि सभा में सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टियोंको अध्यात्म का स्वरूप समझाते हैं, और वे यथार्थ समझते भी हैं, इसलिये—समयसार शास्त्र है। उसे सभी पढ़े, इस लिये हिन्दी टीका लिखी गई है।

पं. जयचन्द्रजीने विचार किया था कि समयसारकी हिन्दी वचनिका की जाय या नहीं; उसके बाद वे लिखते हैं कि—"इस अध्यात्म ग्रंथको सभी पढ़े।" इसी लिये उनने भाषा वचनिका बनाई थी। उनने इस विषयक शंका समाधान इस प्रकार किया है:—

शंका—यह समयसार अध्यात्म ग्रंथ है। यदि इसे देशभाषा में लिखोगे तो लोग भ्रष्ट हो जायंगे, स्वच्छंदी हो जायंगे, प्रमादी हो जायंगे, विपरीत श्रद्धानी हो जायंगे; इसलिये जो मुनि हैं, दृढ़ चारित्र के पालनेवाले हैं, और जिनका ऐसा विश्वास हो गया हो कि व्यवहार मात्र से मुक्ति हो जायगी, उन्हींको शुद्धात्मा के सन्मुख करने के लिये यह शास्त्र सुनाना चाहिये। इसलिये सर्व साधारण के लिये देश भाषा में वचनिका करना योग्य नहीं है।

समाधान—इस शास्त्र में मुख्यतया शुद्धनय का कथन है, और गौणता से व्यवहारनय का भी कथन है। उसे आचार्यमहाराजने जिस प्रकार समझाया है उसी प्रकार समझने से विपरीत श्रद्धान नहीं हो सकता। किन्तु जो बिगड़नेवाले हैं वे शुद्धनयकी बातें सुनें या अशुद्धनयकी, वे तो विपरीत ही समझेंगे, उनके लिये सब उपदेश निष्फल है।

देशभाषा के चार प्रयोजन

इस शंका का समाधान करके इस ग्रंथको देशभाषा में लिखने के चार प्रयोजन बताये हैं, उनका सार निम्न प्रकार है—

[१]

जैनी कर्मवादी नहीं हैं

अन्य दर्शनवादी मानते हैं कि जैन लोग कर्मवादी हैं; उनके यहां आत्मा का कथन नहीं है; और आत्माको जाने बिना मोक्ष हो नहीं सकता। इसलिये यदि यह अपनी कथनी प्रगट नहीं की जायगी तो भोले प्राणी अन्य दर्शनवालों की उक्त बात सुनकर भ्रम में पड़ जायंगे। और इस (समयसार के) कथन के प्रगट हो जाने से कोई श्रद्धा से नहीं हट सकेगा।

[२]

भ्रम दूर होगा

इस ग्रंथकी वचनिका पहले [पं. राजमलजी कृत समयसार कलश-टीका हिन्दी] भी हुई है, तदनुसार

५. बनारसीदासजीने कलश के कवित्त बनाये हैं, जो जैन तथा अन्य दर्शनावलम्बियों में प्रसिद्ध हुये हैं। लोग उन का सामान्य अर्थ समझते हैं; यदि उनका स्पष्ट अर्थ नहीं समझेंगे तो पक्षपात होने का भय है। इसलिये इस वचनिका में नय विभाग का अर्थ स्पष्ट किया गया है, जिससे भ्रम दूर हो जाय।

३—सभी पढ़ें—समझें

काल दोष से बुद्धिकी मंदता के कारण प्राकृत संस्कृत के पढ़नेवाले कम हैं, और स्व-पर मत का भेद समझ कर यथार्थ तत्त्व के समझनेवाले थोड़े हैं; जैन ग्रंथोंकी गुरु आम्नाय कम हो रही है; स्याद्वाद के मर्मको कहने वाले गुरुओंकी व्युच्छित्ति हो रही है; इसलिये यदि समयसार की वचनिका विशेष अर्थरूप होजाय तो उसे सभी लोग पढ़ें और समझें और यदि कोई भ्रम हो तो उसे दूर करें। यदि इस शास्त्रका यथार्थ ज्ञान हो जाय तो अर्थमें विपर्यास नहीं हो सकेगा।

४—उपदेश सुनकर बंधका अभाव करें

श्री समयसार में शुद्धनय का विषय जो शुद्धात्मा है, उसके श्रद्धानका सम्यग्दर्शन एक ही प्रकारसे नियमसे कहा है। लोकमें यह कथन बहुधा प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये यह व्यवहार को ही जानता है। यदि शुभ का ही प्रश्न पकड़ा जाय तो वह शुभसे ही मोक्षमार्गको माने, और इससे तो मिथ्यात्व ही दृढ़ हुआ। व्यवहार शुभाशुभरूप हैं, और वह बंधका कारण है। उसमें आत्मा अनादि कालसे प्रवृत्ति कर रहा है; वह कभी शुद्धनयरूप नहीं हुआ है। इसलिये उसका उपदेश सुनकर उसमें यदि लीन हो तो व्यवहारका अवलम्बन छोड़े और तब वह बंधका अभाव कर सकेगा।

उक्त कथन का सार

उक्त कथन बराबर ध्यानमें रखना चाहिये। इसका सार यह है:—

(१) सर्व साधारण लोग मन्दबुध्धि है, इसलिये यदि अपनी भाषा में शास्त्र हों तो उन्हें सब पढ़-समझ सकते हैं।

(२) यदि जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप समझ लिया जाय तो अन्य मतावलम्बियों की बातें सुनकर भ्रम नहीं होगा।

(३) बिलकुल स्पष्ट अर्थ समझे।

(४) यह उपदेश सुनकर उस में लीन हो जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके बंध का अभाव किया जा सकेगा।

इन चार हेतुओं को लक्ष में रखकर पं. जयचन्द्रजीने इस शास्त्रकी रचना की है।

श्री जयसेनाचार्यने—इसी विषय में निम्नाशय के प्रश्नोत्तर रूप में कहा है:—

प्रश्न—इस प्राभृत शास्त्र (समयसार) को जानकर क्या करना ?

उत्तर—सहज शुध्ध ज्ञानानंद स्वभाव, निर्विकल्प, उदासीन, नित्य, निरंजन शुद्धात्म सम्यक् श्रध्धा ज्ञान चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से प्रगटित वीतराग सहजानंद रूप सुखकी अनुभूति मात्र मेरा लक्षण है; मैं स्वसंवेदनवेद्य हूं; प्राप्त करने योग्य हूं, स्व अवस्था से परिपूर्ण हूं। मैं मिथ्याशल्य, राग, द्वेष, क्रोधादि समस्त विभाव परिणामों से रहित हूं, इस प्रकार शुध्ध-निश्चयनय द्वारा तीनों लोक और त्रिकाल में कृत, कारित एवं अनुमत है, यों सर्व जीवोंको निरंतर भावना करनी चाहिये।

इसी में पृष्ठ ३० पर यह भी कहा गया है कि प्रथम १२ गाथाओं को सुनकर आसन्न भव्य जीव हेयोपादेय तत्त्वको जानकर विशुध्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावमय अपने स्वरूपकी भावना करता है। जो जीव विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर समझ सकते हैं। वे समयसार के नौ अधिकारों का मनन करके अपने विशुध्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावमय आत्म स्वरूपकी भावना करते हैं।

[शेष छल्ले पृष्ट से]

पर प्रगटरूप निराकुल दशा प्रतिभासित होती है। तब वह केवलज्ञानी आप्त भगवानकी अनन्त सुखरूप दशा कहलाती है। अघाति कर्मों के उदय के निमित्त से शरीरादिका संयोग होता है। मोहकर्मका उदय होने पर शरीरादिका संयोग आकुलता के लिये बाह्य सहकारी कारण होजाता है। अन्तरंग मोह के उदयसे रागादि होता है और बाह्य अघाति कर्म के उदयसे रागादि के कारणभूत शरीरादि का संयोग होता है, तब आकुलता उत्पन्न होती है। मोहोदयका नाश हो जाने पर भी अघाति कर्मोंका उदय रहता है, किन्तु वह आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकता। किन्तु वह पहले आकुलताके लिये सहकारी कारण था इसलिये अघाति कर्मोंका नाश भी आत्माके लिये इष्ट ही है-अघाति कर्मोंका भी नाश होना ही चाहिये।

यद्यपि केवली भगवान (अर्हन्त) के अघातिकर्मों के होते हुये भी कोई दुःख नहीं हैं, और इसीलिये उनके नाशका कोई प्रयत्न भी नहीं करते; फिर भी मोहका नाश हो जाने पर यह कर्म भी स्वयमेव अल्पकालमें ही नष्ट हो जाते हैं। इसप्रकार सर्व कर्मोंका नाश हो जाना ही आत्मा के लिये इष्ट है, और सर्व कर्मों के नाश हो जाने का ही नाम है मोक्ष। इसलिये आत्माका हित एक मोक्ष ही है, दूसरा कोई नहीं है-ऐसा निश्चय समझना चाहिये।

आत्माका हित एक मोक्ष ही है

आत्माकी नाना प्रकारकी गुण पर्यायरूप अवस्था होती है; इस में अन्य चाहे जो अवस्था हो, उससे आत्मा का कोई भला बुरा नहीं होता, किन्तु एक दुःख सुख अवस्था से उस का बिगाड़-सुधार होता है। यहां किसी हेतु दृष्टांतादिकी आवश्यक्ता नहीं है। प्रत्यक्ष में ऐसा ही प्रतिभासित होता है। लोक में जितनी आत्मा हैं उनके एक ही उपाय दिखाई देता है कि-दुःख न हो-सुख ही हो। वे जितने भी अन्य उपाय करते हैं वह केवल एक इसी प्रयोजन के लिये करते हैं दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। वे जिसके निमित्त से दुःख होता जानते हैं उसके दूर करने का उपाय करते हैं, तथा जिसके निमित्त से सुख होता जानते हैं उसे रखनेका प्रयत्न करते हैं।

आत्माकी संकोच विस्तारादि अवस्था भी होती है। अनेक पर द्रव्यों का भी संयोग मिलता है, किन्तु वह जिससे सुख दुःख होता नहीं जानता उसे रखने या दूर करने का कोई भी उपाय नहीं करता। यहां आत्मद्रव्य का ऐसा ही स्वभाव जानना चाहिये। वह अन्य सभी अवस्थाओं को सह सकता है, किन्तु केवल एक दुःखको ही नहीं सह सकता। परवशता से दुःख हो तो वह क्या करे? उसे भोगना चाहिये, किन्तु अपने वश तो वह किंचित् मात्र भी दुःखको सहन नहीं कर सकता। तथा संकोच विस्तार आदि अवस्था चाहे जैसी हो, उसे अपने वश भी भोगता है। वहां स्वभाव में कोई तर्क नहीं है। यों समझना चाहिये कि आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। देखिये। जब यह जीव दुखी होता है तब सोना चाहता है। यद्यपि सोनेसे ज्ञानादिक मन्द हो जाता है, किन्तु जड़वत बनकर भी दुःखको दूर करना चाहता है, अथवा मरजाना चाहता है। वह मरने में अपना नाश मानता है फिर भी अपना अस्तित्व मिटाकर भी दुःख दूर करना चाहता है। इसलिये एक दुःखरूप पर्यायका अभाव कर देना ही उसका कर्तव्य है।

दुःखका न होना ही सुख है; क्योंकि आकुलता लक्षणयुक्त दुःख है और उसका अभाव होना सो वही निराकुलता लक्षणयुक्त सुख है। और फिर यह भी प्रत्यक्ष मालूम होता है कि किसी भी बाह्य सामग्रीका संयोग मिलनेपर जिसके अंतरंगमें आकुलता होती है वही दुखी है, और जिसके आकुलता नहीं है वह सुखी है। और फिर जो आकुलता होती है वह रागादिक कषायभाव के होने पर होती है; क्योंकि रागादि भाव के द्वारा यह जीव सर्व द्रव्योंके अन्य प्रकारसे परिणत करना चाहता है। तथा वे द्रव्य अन्य प्रकार से परिणमित होते हैं, तब उसे आकुलता होती है। इसलिये या तो अपने रागादिभाव दूर होना चाहिये, अथवा अपनी इच्छानुसार ही सर्व द्रव्य परिणमन करें तो आकुलता मिटजाय।

अब बात यह है कि सर्व द्रव्य तो इसके आधीन हैं नहीं फिर कभी कोई द्रव्य उसी प्रकार परिणमन करें जैसी उसकी इच्छा हो तो भी उसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती। यदि सभी कार्य उसकी इच्छानुसार ही हों, अन्यथा न हों तभी वह निराकुल रह सकता है; किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है। किन्तु अपने रागादि भाव दूर होने पर निराकुलता होती है, और यह कार्य बन भी सकता है-यह स्वाधीन बात है। क्योंकि रागादि भाव आत्मा के स्वाभाविक भाव तो हैं नहीं, किन्तु औपाधिक भाव हैं, जो कि पर निमित्त से होते हैं, और वह निमित्त है मोहोदय। उसका अभाव होने पर सर्व रागादिभाव नष्ट हो जाते हैं, और तब आकुलता का भी नाश हो जाता है, जिससे दुःख दूर होकर सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये मोह कर्मका नाश करना ही हितकारी है।

दूसरी बात यह है कि उस आकुलता का सहकारी कारण ज्ञानावरणादि का उदय है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के उदय से ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण प्रगट नहीं हो पाते, इसलिये इसे देखने- जाननेकी आकुलता होती है। अथवा जब वस्तु के यथार्थ सम्पूर्ण स्वभावको नहीं जान पाता तब रागादिरूप होकर प्रवृत्ति करता है, और तब वहां आकुलता होती है।

और जब अन्तराय कर्म के उदय से इच्छानुसार दानादि कार्य नहीं बन पाते तब भी आकुलता होती है। मोहोदय होने पर इस का उदय आकुलता के लिये सहकारी कारण बन जाता है। किन्तु मोहोदय का नाश होने पर वह निर्बल हो जाता है, अन्तर्मुहूर्त में ही वह स्वयमेव नष्ट हो जाता है। और फिर सहकारी कारण के नष्ट होने

(शेष पिछले पृष्ठ पर)

दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील
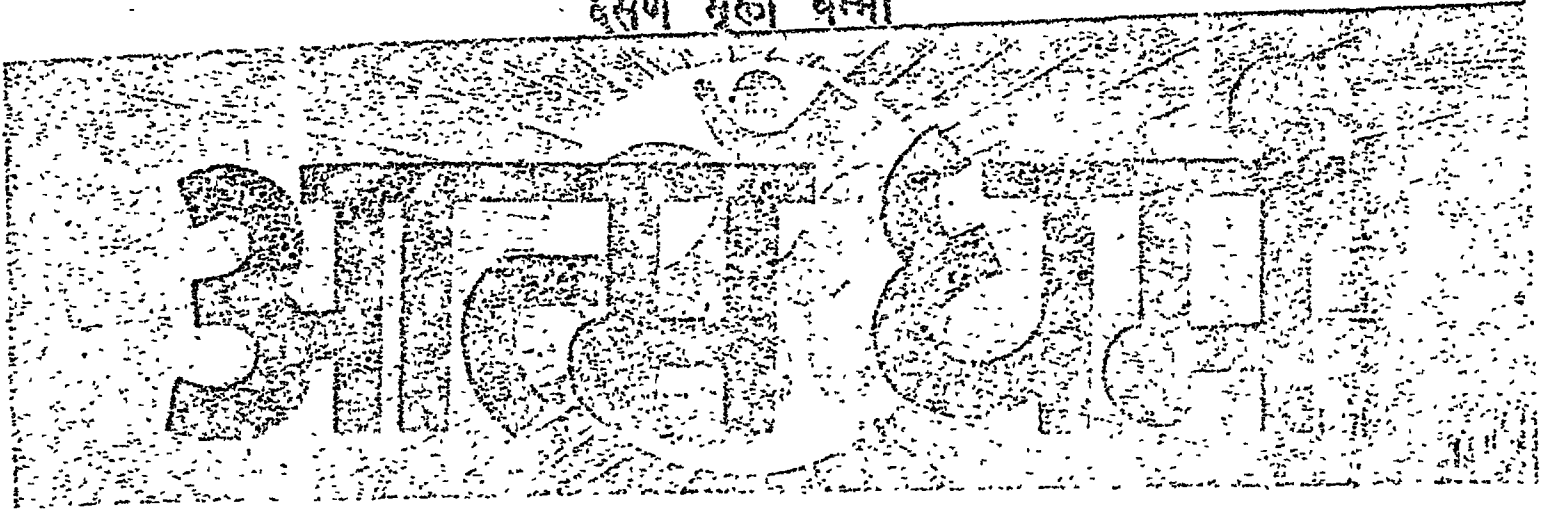
वर्ष : १
अंक : ६

मगसिर
२४७२

हृदयोद्गार

१. तूने आज तक अन्यको (जीव या जड़ को) किंचित् मात्र भी हानि या लाभ पहुंचाया ही नहीं है।

२. आज तक किसीने (जड़ या जीवने) तुझे किंचित् मात्र भी हानि या लाभ नहीं पहुंचाया।

३. आज तक तूने सतत् अपने लिये मात्र हानिका ही धंधा किया है। और जब तक वास्तविक समझ नहीं आयगी तब तक यह हानिका धंधा चलता ही रहेगा।

४. वह हानि तेरी क्षणिक अवस्था में हुई है, तेरी वस्तु में हानि नहीं हुई है।

५. तेरी चैतन्य वस्तु ध्रुव–अविनाशी है; इसलिये उस ध्रुव स्वभावकी ओर लक्ष (दृष्टि) दे तो शुद्धता प्रगट हो जाय, हानि टल जाय और अटल लाभ का धंधा हो जाय।

—परम पूज्य श्री कानजी स्वामी—

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पांच आना

आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ काठियावाड

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : ६

मंगसिर
२४७२

आत्मधर्म

अशुभ भावसे बचने के लिये शुभ का अवलम्बन तो ठीक है, किन्तु उस शुभभावके द्वारा धर्म तीन काल और तीन लोक में नहीं हो सकता। यहां तो मान्यताको बदलनेका उपदेश है। धर्म तो आत्माका अविकारी स्वभाव है; गुरुगम से उस स्वभावको जानकर, सच्ची समझका अभ्यास करके विपरीत मान्यताको छोड़कर, विकारका कर्ता नहीं है, पुण्य के शुभ विकल्प मेरे स्वभावमें नहीं हैं, और न वह मेरा कर्तव्य ही है, यों मानकर तथा निर्मल पर्यायके भेदका लक्ष गौण करके अखण्ड, ज्ञायक ध्रुव स्वभावको श्रद्धाके लक्षमें उतार लेना सो शुद्ध नयका विषय है, और उसका फल मोक्ष है। शुद्ध नयका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। यह बात श्रावक और मुनि होने से पहले की है।

मैं आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक ही हूँ। मैं परका स्वामी; कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ। शुभ या अशुभ विकार मात्र भी करने योग्य नहीं हूँ। ऐसे स्वभावका अपूर्व भान गृहस्थ दशा में भी हो सकता है। बड़ा राजा हो या सामान्य आदमी, स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या आठ वर्ष का बालक; किन्तु सभी अपने अपने स्वभाव से स्वतत्र पूर्ण प्रभु हैं। इसलिये अन्तरंगमें सभी स्वभावका भान कर सकते हैं।

जब तक जीव व्यवहार-मग्न है, और बाह्य साधन में धर्म मानता है तथा क्रियाकाण्ड की बाह्य प्रवृत्तिमें गुण मानता है तब तक उसे ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्माका ज्ञान श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता कि परसे भिन्न अविकारी अखण्ड ज्ञायक आत्मा निरावलबी है।

इस बातका विशेषतः श्रवण—मनन करना चाहिये और परमार्थ निर्मल वस्तुका निरंतर बहुमान होना चाहिये। अपनी निजी सावधानी, उत्साह और पुरुषार्थ के विना अपूर्व फल नहीं मिल सकता।

मान्यता बदलो

श्रध्धा, रुचि और वीर्य

समयसार बंध अधिकार गाथा २८७

परपदार्थ के निमित्ताधीन होने वाले भावोंसे आत्मा में बंधन होता है। स्वाधीन स्वभाव से च्युत हुआ और आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थ के आधीन भाव हुये कि आत्मगुणों की हीनता हुई। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें परके प्रति रुचि या प्रीति का होना ही बंध का कारण है। वह परकी रुचि क्योंकर छूटे और निर्मल भूमिका कैसे बढ़ती जाय तथा किस प्रकार के संयोग छूटते चले जायँ, यह सब मुनि के दृष्टान्त से समझाते हैं।

शरीर से भिन्न आत्मा पुण्य-पाप का कर्ता नहीं है, ऐसा भान होने पर छट्ठी भूमिका की बात है। आत्मा ज्ञाता ही है, और शुभाशुभ का अनुभव (लागणी) होना उपाधि-भाव है—मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं तो ज्ञान से ही परिपूर्ण हूँ, इस प्रकार का निर्णय सर्व प्रथम करना चाहिये। वस्तु स्वभाव में परिपूर्णता ही है। और जो वर्तमान कमी मालूम होती है वह पराधीन भावके कारण दीखती है। पराधीन भाव उस वस्तुका स्वभाव नहीं है इसलिये, वस्तु में कमी नहीं है। जिसने परिपूर्ण ज्ञान स्वभावको माना उसने यह मान लिया कि रागद्वेष अपने नहीं हैं।

आत्मा का स्वभाव ही है जानना। जानने में जो तीन लोक और तीन काल नहीं ज्ञात होते अथवा आन्तरिक अनन्तगुण प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते, इस प्रकार ज्ञानकी वर्तमान दशा में जो कमी दिखाई देती है वह कमी स्वभाव में नहीं है। आत्मा जानने वाला है; और जिसका स्वभाव ही जानना है, वह आगामी कालकी बात न जान सके, ऐसा उसका स्वभाव तो नहीं हो सकता। 'नहीं जानना' यह उसके स्वभाव में आ ही नहीं सकता। वर्तमान अवस्था में जो ज्ञान की शक्ति हीन मालूम होती है वह विकार के कारण रागद्वेष भाव को लेकर जो हीन ज्ञान ज्ञात होता है उनके कारण है। रागद्वेष स्वभाव नहीं है। जब यह निर्णय हो जाय कि ज्ञान स्वभाव परिपूर्ण है तब कहलायगा कि समस्त ज्ञान स्वभाव जान लिया गया।

जिसका स्वभाव ही जानना है उस में नहीं जानना या कम जानना आ ही कैसे सकता है? फिर भी विकार के कारण वर्तमान अवस्था में कम ज्ञात होता है। विकार ज्ञान स्वभाव में नहीं हो सकता; इस लिये विकार का नाश करके जो परिपूर्ण ज्ञान स्वभाव प्रगट करूँ वह मैं हूँ। मुझ में विकार नहीं है; जो परिपूर्ण ज्ञान है वही मैं हूं।

आत्मा में त्रिकाल की बात को एक ही समय में जाननेकी शक्ति है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। उसका स्वभाव है तीन लोक तीन काल और आत्माके अनन्त गुणों को एक ही समय में जानना। वर्तमानमें जो कुछ परिज्ञात नहीं होता वह विकार के कारण ज्ञानकी हीन दशा है; किन्तु वह हीन दशा मैं नहीं हूं, और रागादि भी मैं नहीं हूं, मेरा ज्ञान-स्वभाव परिपूर्ण है। स्वभावमें हद-मर्यादा, कमी या रागद्वेष नहीं हैं। जिसने ज्ञान को परिपूर्ण माना उसने यह भी माना कि रागद्वेष नहीं हैं; और जिसने अपने को रागादिरूप माना उसने परिपूर्ण ज्ञान स्वभावको नहीं माना यह सुनिश्चित है।

ज्ञान:—निमित्ताधीन, विकारके कारण जो अधूरा ज्ञान है वह मैं नहीं हूँ। मैं तो परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव ही हूँ।

दर्शन:—जो देखने की परिपूर्ण-शक्ति है वही मैं हूँ।

श्रद्धा:—श्रद्धा नामकगुण आत्मा को परिपूर्ण ही मानता है। यों मानना सो मानने का विषय परिपूर्ण और मान्यता भी परिपूर्ण कहलायगी।

चारित्र:—जो वर्तमान में रागादिको कम कर सकता है उसका चारित्र द्वारा पूर्ण स्थिरता करके वीतराग होने का स्वभाव है। जो स्थिरतामें बाधक है ऐसा रागादि आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता।

आनंद:—संसारादि तथा सुख-दुखकी कल्पना विकारी है, वह मैं नहीं हूँ, मैं उससे मुक्त एकमात्र परिपूर्ण हूँ; इस प्रकारकी प्रतीति करना सो वही आत्माके परिपूर्ण गुणको स्वीकार करना है।

वीर्य:—मैं आत्मबलसे परिपूर्ण हूँ; आत्मबलसे ज्ञानकी पूर्णता—केवल ज्ञान प्रगट करनेका जो स्वभाव है, उसमें जो वर्तमान में कमी मालूम होती है वह मैं नहीं हूँ। (वीर्य-आत्मबल)

यह तो अभी प्रथम श्रद्धा करने की बात है। पहले परिपूर्णकी श्रध्धा किये बिना वीतरागता आयगी कहां

से ! अनन्त कालसे आत्माको यथार्थ रूप में माना ही नहीं है। अभी तक मात्र विकारी अवस्था को और रागादि को ही माना है, उसके परिपूर्ण स्वरूपको नहीं माना। परिपूर्ण स्वरूप की श्रध्धा प्रगट हुये बिना धर्मकी गंध भी नहीं हो सकती। अखण्ड परिपूर्ण की श्रद्धाके विना व्रत या महा व्रत भी सच्चे नहीं हो सकते।

दान और लाभ:—एक-एक समय में मेरी जो परिपूर्ण शक्ति है उसे प्रगट करके लाभ प्राप्त करने का मेरा स्वभाव है; एक क्षणभर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि समस्त परिपूर्ण गुणों का लाभ ले सकता हूं और अपने को दान (अर्थात् आत्म स्वरूपकी परिपूर्णता का आदान प्रदान) कर सकता हूं तथा एक क्षण में "जैसा देना वैसा लेना" कर सकता हूँ—जिसने ऐसा माना उसने परिपूर्ण आत्माको माना है। जिसे अभी परिपूर्ण स्वभावकी श्रद्धा ही नहीं है उसे परिपूर्ण की रुचि नहीं है और रुचि के बिना वीर्य नहीं हो सकता। परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा और प्रतीति के विना परिपूर्ण का पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

जैनधर्म [२

लेखक: रामजी माणेकचंद दोशी

[गतांकसे आगे]

९—आत्मस्वरूप की विपरीत मान्यता को जैनधर्म में मिथ्यात्व कहा गया है। और वह मिथ्यात्व संसार की (अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरुप से चलित होने की) जड़ है, वही जीवके दुःखका कारण है। पर सुखदुख का कारण नहीं है। किन्तु जीव परावलंबी सुखदुखकी कल्पना कर लेता है। सम्यग्दर्शन मोक्ष की (आत्माकी पूर्ण पवित्रताकी) जड़ है।

१०—आत्माज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥
[समयसार कलश]

अर्थ—आत्मा ज्ञान स्वरुप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञानके सिवा और करेगा क्या? आत्मा परभावका कर्ता है यह मानना व्यवहारी जीवों का केवल मोह (अज्ञान) है।

११—अत्यन्त वीतराग हुये विना आत्यंतिक मोक्ष नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के बिना वीतराग नहीं हो सकता। विना सम्यग्दर्शन के ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। वस्तु की स्थिति जिस स्वभाव रुप है उसे उसी स्वभाव रुप में समझना सो सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से प्रतीत तथा ज्ञात आत्मा में आत्मभाव से वर्तन करना सो चारित्र है। इन तीनों की एकता से मोक्ष होता है।

१२—जीवो चरित्त दंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गल कम्म पदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥
(समयसार)

अर्थ—जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है, उसे वास्तव में स्वसमय (शुद्ध आत्मा) जानो; और जो जीव पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित है उसे परसमय (अशुद्ध आत्मा) जानो।

१३—ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

अर्थ:—व्यवहारनय अभूतार्थ है, और शुध्धनय भूतार्थ है यह ऋषिवरोंने बताया है। जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टी है।

[नय का अर्थ दृष्टि—View Point है]

१४—अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥३४॥

अर्थ:—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमित आत्मा यों जानता है कि मैं वास्तव में एक हुँ, शुद्ध हुँ, दर्शन-ज्ञानमय हूं, सदा अरूपी हूं, कोई भी अन्य द्रव्य पर-माणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चित है।

१५—आत्मा अपने भावोंका कर्ता भोक्ता है परके भावों का नहीं, यह बताया जाता है:—

णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गल कम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्व भावाणं॥८२॥

अर्थ-जीव न तो कर्म के गुणोंको करता है और न कर्म जीवके गुणोंको करता है, किन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम जानो। इसलिये आत्मा अपने ही भावोंका कर्ता है; पुद्गलकर्मकृत सर्व भावों का कर्ता नहीं है।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

अर्थ-वास्तव में आत्मा अपने ही भावको करता है, और अपने ही भावको भोगता है, यों तू निश्चय से जान।

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्ण ह्मिदु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कहतं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

अर्थ-जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणरूप है वह अन्य द्रव्य तथा गुण में संक्रमण नहीं कर सकती। जो अन्य-रूप सक्रमण नहीं पा सकती वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमित कर लेगी?

१६—पुण्य पापका स्वरूप—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणइ सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

अर्थ—अशुभ कर्म कुशील (खराब) है और शुभ कर्म सुशील (अच्छा) है, यह तुम जानते हो; तब फिर वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है जो जीवको संसार में प्रवेश कराता है?

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥१५४॥

अर्थ-जो परमार्थ से बाह्य हैं वे मोक्ष के हेतु को नहीं जानते हुये अज्ञान से पुण्यको (मोक्षका हेतु जानकर) चाहते है; यद्यपि पुण्य संसार गमन का कारण है।

१७-जीवके विकारी भावोंका स्वरुप—

णादूण आसवाणं असुचित्तंच विवरीयभावं च।
दुक्खस्सकारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

अर्थ-आस्रवों की (विकारी भावोंका) अशुचिता, विपरीतता, तथा दुःखकारणता जानकर जीव उनसे निवृत्त होता है।

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

अर्थ- जब यह जीव अपनी आत्मा और आस्रवों के बीचका अन्तर जानता है तब उसे बंध नहीं होता। (आत्मा और जीव एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं)

१८—जीव के शुभाशुभ भावों के रोकनेवाले (संवर) का स्वरुप—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

अर्थ—शुद्ध आत्माको जानने और अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही पाता है; और अशुद्ध आत्माको जानने तथा अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्माको पाता है।

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को जायदि अप्पाणा मप्पणा अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१८८॥

अर्थ-आत्माको आत्माके द्वारा दो पुण्यपापरूप शुभाशुभ योगों से रोककर दर्शन ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य (वस्तु) की इच्छा से विरम कर जो आत्मा (इच्छा रहित होने से) सर्व संग रहित होता हुआ, अपनी आत्मा को आत्माके द्वारा ध्याता है; कर्म और नोकर्म (शरीर) को नहीं ध्याता। ज्ञातादृष्टा होने से एकत्वका ही चिन्तवन करता है, जानता है, अनुभव करता है। उस आत्मा को ध्याता हुआ दर्शन ज्ञानमय होकर और अन्य रूप नहीं होकर अल्पकाल में ही अविकारीपन को पा लेता है।

१९—पूर्व के विकारी भावों को दूर करने (निर्जरा) का स्वरूप—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिको ॥१९८॥

अर्थ—कर्मों के उदय का विपाक (फल) जिनवरोंने अनेक प्रकार का वर्णन किया है, वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक भाव हूँ।

एवं सम्मदिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्माको (निजको) ज्ञायक स्वभाव जानता है, और तत्त्वको (यथार्थ स्वरूप को) जानता हुआ कर्म के विपाकरुप उदयको छोड़ता है।

२०—बंधः--मिथ्या अभिप्रायपूर्वक के रागद्वेष से होता है—

जो मण्णादि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ॥२४७॥

जो ण मरदि ण य दुहिदो सोत्ति य कम्मोदयेण चेव खलु।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥
एसा दु जा मई दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेत्ति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५९॥

अर्थ—जो यह मानता है कि मैं पर जीवोंको मारता हूँ (हनन करता हूँ) और पर जीव मुझे मारते हैं वह मूढ़ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत (अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता) वह ज्ञानी है।

और जो नहीं मरता और न दुखी होता है वह भी वास्तव में कर्मोदय से ही होता है; इस लिये 'मैंने नहीं मारा या मैंने नहीं दुखी किया' ऐसा जो तेरा अभिप्राय है वह क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है?

तेरी जो यह बुद्धि है कि मैं जीवोंको सुखी दुखी करता हूँ, तेरी यही मूढ़ बुद्धि (मोह स्वरूप बुद्धि ही) शुभाशुभ कर्मका बंध करती है।

२१—सम्पूर्ण विकारी भावोंको दूर करने से मोक्ष होता है:—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणइ ॥२९३॥

अर्थ—बंध और आत्माका स्वभाव जानकर जो बंध भाव से विरक्त होता है, वह विकारी भाव से मुक्त होता है।

—सत् (वास्तविक) और असत् (अवास्तविक) का भेद जाने बिना चाहे जैसा (यद्वानुकूल) मान लेने वाला ज्ञान विचार शून्यता की उपलब्धि है, और वह उन्मत्तवत् होने से अज्ञान है।

यदि प्रकारान्तर से कहा जाय तो जीवके अनादिकालकी ७ भूलें हैं उन्हें समझे जाने बिना दूसरा चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करे, और अन्य चाहे जो करे तो भी जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। इसलिये यहां यह बताया जाता है कि वे सात भूलें कौन कौन सी हैं:—

[१] शरीर को जीव समझना—शरीर की कोई क्रिया जीव कर सकता है यह मानना। [यह है जीव तत्त्वकी मिथ्या श्रद्धा]

[२] शरीरकी उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और शरीर के वियोग में अपना वियोग मानना। (यह है अजीव तत्त्वकी मिथ्या श्रद्धा)

(३) रागादि प्रगट रूप में दुःख देते हैं, फिर भी उन्हें सुख मानकर सेवन करना (यह है आस्रव तत्त्वकी मिथ्या श्रद्धा)

(४) शुभ बंध के फलमें खुश होना और अशुभ बंध के फलमें नाखुश होना। (यह है बंध तत्त्वकी मिथ्याश्रद्धा)

(५) आत्महितका हेतु स्वरूपका ज्ञान और इस ज्ञान पूर्वक वैराग्य है; उसे कष्ट दायक मानना। (यह है संवर तत्त्वकी मिथ्याश्रद्धा)

(६) शुभाशुभ भावकी इच्छा को नहीं रोक सकना। (यह है निर्जरातत्त्व की विपरीत श्रद्धा)

(७) निराकुलताको मोक्षका स्वरूप नहीं मानना (यह है मोक्षतत्त्व की उल्टी श्रद्धा)

इन तमाम मान्यताओं की भूलें एक ही साथ जाती हैं; और इनके दूर हुये बिना किसीके सुख हो नहीं सकता, इसलिये इस बातको बराबर समझ लेना चाहिये।

इसी बातको प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं कि जीवके साथ अनादिकालसे सात व्यसन लगे हुये हैं, जीव जब उन्हें छोड़े तब ही वह सुखी हो सकेगा, इसलिये उन सप्त व्यसनों का स्वरूप यहां संक्षेप में लिखा जाता है:—

१—अशुभ में हार और शुभ में जीत मानना सो जुआ है।

२—शरीर में लीन होना (एकत्व बुद्धि) सो मांस भक्षण है।

३—भ्रमणा से मूर्छित होकर, स्वस्वरूपको भूल जाना सो मदिरापान है।

४—कुबुद्धि के मार्ग पर चलना सो वेश्यासेवन है।

५—कठोर परिणाम से प्राणघात करना (भावमरण करना) सो शिकार है।

६—देह-रागादिमें एकत्वबुद्धि (आत्मबुद्धि) रखना सो परनारी का संग है।

७—अनुरागपूर्वक परपदार्थों का ग्रहण करनेकी अभिलाषा सो भावचोरी है।

जो आत्मा शुद्धस्वरूपको पहचानता है वही इन सप्त व्यसनों को टाल सकता है और वही सुखी हो सकता है।

'अहिंसा परमो धर्मः'—यह लोकप्रचलित सूत्र है। सामान्य लोग 'अहिंसा' का अर्थ करते हैं 'परजीवका मरण नहीं करना;' किन्तु यह स्थूल अर्थ है। अहिंसाका वास्तविक अर्थ निम्नप्रकार है:—

१–आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणाम को घातनेवाला भाव सो हिंसा है, इसलिये अपनी आत्माका शुद्ध उपयोग सो अहिंसा है। वह अहिंसा ही परम धर्म है। तत्त्वज्ञानकी दृष्टि से अहिंसाका दूसरा अर्थ संभवित नहीं होता।

२–वास्तव में रागादि भावों का प्रगट न होना सो अहिंसा है, और रागादि भावोंकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है। यह जैनशासनका संक्षिप्त रहस्य है।

जीव स्वाश्रय और पराश्रयरूप दो प्रकारके भावकर सकता है। इनमें स्वाश्रय भाव शुद्ध हैं और वही धर्म है। पराश्रय (पराधीन) भाव दो प्रकार का है--एक शुभ और दूसरा अशुभ। यह दोनों संसारके कारण है। लोगों में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'स्वाधीनता समान सुख नहीं और पराधीनता समान दुख नहीं है'। तत्वज्ञानी उक्तप्रकार से स्वाधीनता और पराधीनता का अर्थ करते है।

पराश्रयभाव सदा परालंबन चाहते हैं। जैसे किसीके मारनेका विचार हुआ, तो वह परकी ओर लक्ष दिये विना नहीं हो सकता, किसीको सुविधा देनें का भाव भी परकी ओर उन्मुख हुये विना नहीं हो सकता, इसलिये वे दोनों ही विकारी हैं। इनमें से जैन सब जीवों को 'पाप' (अशुभभाव) करने की मनाही करते हैं। समस्त पापों में से अपने स्वरूपका भ्रम महा पाप है। उसे दूर किये विना किसी जीवके धर्म नहीं हो सकता। इसलिये मिथ्यात्वकी संक्षिप्त व्याख्या यहां दी जाती है।

१:–स्व–परं एकत्वका अभिप्राय, अर्थात् आत्मा और राग (भलेही वह पुण्य का हो या पापका) तथा देह इत्यादि की एकत्व बुद्धि।

२:–जीवकी जिस मान्यतानुसार जगत में होता नहीं हो वह मान्यता मिथ्यात्व है।

३:–आत्मस्वरूपका जूठा अभिप्राय, सो मिथ्यात्व है। जब जीवको मिथ्यात्व या भ्रम होता है तब उसे निमित्त भी कुगुरु, कुदेव या कुशास्त्रका मिल जाता है। किन्तु जिसे सच्चे निमित्त मिलते हैं वह सम्यग्दृष्टि होता ही है यों नहीं मान लेना चाहिये। इस लिये कुगुरु और कुदेवादिको जानने के लिये सुगुरु और सुदेवादिका स्वरुप जान लेना चाहिये। इनका स्वरुप जैन शास्त्रोमें प्रसिद्ध जो 'नमस्कारमंत्र' है उसमें बताया गया है। वह मंत्र है–

'णमो अरिहंताणं; णमो सिद्धाणं; णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाण; णमो लोए सव्व साहूणं।'

इस में प्रथम के दो पद सुदेव का स्वरूप सम्पूर्ण वीतरागता बता रहे हैं। अरिहंत अशरीरी वीतराग हैं और सिद्ध अशरीरी वीतराग हैं। अन्तिम तीन पद उनके द्योतक हैं जिनने सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक आंशिक वीतरागता प्रगट कर ली है और जो अल्प समय में ही सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त करनेकी योग्यता पा चुके हैं। प्रथम को आप्त भी कहते हैं।

'जैनधर्म वीतराग प्रणीत है,' यह आगे कहा जायगा। यदि उसका रहस्य एक शब्द में कहा जाय तो वह 'वीतरागता' है। इसलिये जिनने यह गुण प्राप्त कर लिया हो वही सुगुरु और सुदेव हो सकता है; और आप्त प्रणीत शास्त्र सुशास्त्र कहे जाते हैं। जीवको पात्रता प्राप्त करके यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिये। इससे यह भी ज्ञान हो जायगा कि जैनधर्म गुणपूजाको स्वीकार करता है, व्यक्तिपूजा को नहीं। विना गुणी के गुण हीं नहीं हो सकता इसलिये गुणी की पूजा ही जैन शास्त्रोंको मान्य है।

धर्मात्माको आत्मस्वरूपका भान हो जाने पर पूर्ण वीतरागता प्राप्त नहीं हुई हो तब वह स्वरूपमें रहनेका पुरुषार्थ करता है, किन्तु वह जब रह नहीं सकता तब अशुभ भाव दूर करने के लिये शुभभाव में आता है; किन्तु वह शुभभावको कभी धर्म नहीं मानता। क्रमश

१. विश्वकी कोई भी शक्ति सत्य को नहीं रोक सकती।
२. जैनधर्म वस्तुस्वरूप को बतानेवाला विश्वधर्म है।
३. परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही होती है।
४. जैन कर्मवादी नहीं, अपितु स्वभाववादी है।
५. आत्मधर्म की सदा उन्नति हो, उन्नति हो।
६. धर्म वस्तु का स्वतंत्र स्वरूप है, धर्म पराधीन नहीं।
७. जिन्होंने शासन का गौरवगान (जयध्वनि) सर्वत्र गुंजादिया है, ऐसे स्वरूपस्थित श्री सद्गुरुदेव के प्रभावका उदय जगत का कल्याण करे, जयवन्त रहे।

उपदेश में निमित्त का कथन किस लिए बताया ?

कहाँ तो चैतन्य भगवान आत्मा का स्वभाव और कहाँ जड़ कर्म का स्वभाव! आत्मस्वभावकी सामर्थ्य का ज्ञान न करेगा और मात्र जड़ कर्मोंको मानेंगे तो बन्धनों को किसके बलसे तोड़ेगा? जो जड़में आत्मबुद्धि करता है उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति कैसे हो सकती है? ज्यों ही आत्मस्वरूप का अनुभव हुआ, निमित्त का आश्रय छूटा, त्यों ही जन्म मरण का अभाव हो जाता है। परन्तु मात्र निमित्त का ही लक्ष करे और उपादान को न जाने तो मुक्ति कदापि नहीं हो सकती। उपादान के लक्षित हो जाने पर शुध्ध चैतन्य स्वभाव या ज्ञान स्वभाव की स्थायी श्रध्धा, ज्ञान और स्थिरता का प्रादुर्भाव होने पर बन्ध का नाश अवश्य होता है।

बन्ध के स्वरुप को जान लेना और उनका विचार करना ही बन्धन मुक्ति का उपाय नहीं हैं, अपितु बन्धन से मुक्ति का उपाय तो पूर्ण सामर्थ्य की दृष्टि पूर्वक पुरुपार्थ ही है। निश्चित कर्म भी जड़ हैं, वे आत्माके पुरुपार्थ को रोक नहीं सकते। आत्मा के जिस वीर्यने विपरीत पुरुपार्थ कर कर्मबन्ध किया है वह वीर्य सुलटा होवे तो क्षण मात्र में कर्म को तोड़ सकता है। तू उत्कृष्ट स्थिति वाला है या कर्म? किसकी स्थिति अधिक है? हे आत्मा! सर्वशक्ति तुझ में ही भरी है।

परन्तु अनादिकाल से तूने पर का ही आश्रय धारण किया है, अतः तुझे स्वाश्रयकी प्रतीति ही नहीं। घर में विवाहोत्सव के समय "भंगी जीम गया या नहीं" इस तरह भंगी को तो याद करे परन्तु घर के भाई जीम गए या नहीं, इस बातको याद न करे; तो क्या यह योग्य है? भाई को भूल कर भंगीको याद करना मूर्खता ही है। इसी प्रकार अनन्त गुण के पिण्डरूप, सर्वदा सहचारी बन्धुरूप चैतन्य भगवानका तो आदर न करे, पहिचान न करे और अल्प काल वर्ती कर्म से मैत्री स्थापित करे तो ऐसा करने वाले सिवाय मूर्ख के और क्या कहे जावेंगे? ऐसे अज्ञानी प्राणी मुक्ति नहीं पा सकते।

तुझे निमित्तका जो ज्ञान बताया, वह इसलिए नहीं था कि निमित्त को तू प्रवल मान बैठ और तू उसका दास हो जावे। बल्कि उसका कथन इसलिए था कि उसके आधीन होकर तू जो विकार करते है, वह तेरा स्वरूप नहीं। इस प्रकार सत्य पुरुपार्थ जागृत करने के लिए ही वह कथन था। इसलिए नहीं कि तू उस से चिपट कर अपने को नगण्य मान बैठ। इसलिए कर्म की दृष्टिको त्याग और शुद्धस्वरूपकी तरफ लक्ष्य रख। भगवान का उपदेश धर्म-वृद्धि के लिए है। उसे तद्रुप न समझ कर विरुद्ध मानेंगे तो वीतराग वाणी के निमित्तका भी उसे ज्ञान नहीं, यह स्पष्ट है। "सब जीवोंको शासन प्रेमी बनादूं" इस शुभ भाव पूर्वक बांधे गए तीर्थंकर नामकर्म के उदय होने पर जो वीतरागकी दिव्यध्वनि प्रगटती है, वह स्वभाव धर्म (आत्मधर्म) की वृद्धि के लिए ही है। वह ध्वनि उद्बोधित करती है कि हे प्राणी! 'तू जाग, जाग। तेरी मुक्ति अल्पकालमें ही होनेवाली है। तेरा स्वभाव परिपूर्ण पुरुपार्थमय है। इसकी पहिचान कर'। इसलिए निमित्तका उपदेश तुझे किया गया है।

(पू. सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामीका समयसार गाथा २८८, ८९, ९०, विषयक प्रवचनसे)

पुण्य की हद कहाँ तक ?

पुण्यकी हद पाप से बचने मात्र तक ही सीमित्त है। चाहे जितना उत्कृष्ट पुण्योपार्जन किया जावे तो भी पुण्य से कभी धर्म नहीं होता है, मात्र बाह्य जड़ पदार्थों का ही संयोग प्राप्त हो सकता है। पुण्यकी मर्यादा जानने के लिये पहले यह जान लेना जरूरी है कि पुण्य क्या वस्तु है? पुण्य आत्मा का एक विकारी भाव है। आत्मा के भावों के भेद निम्न प्रकार हैं—
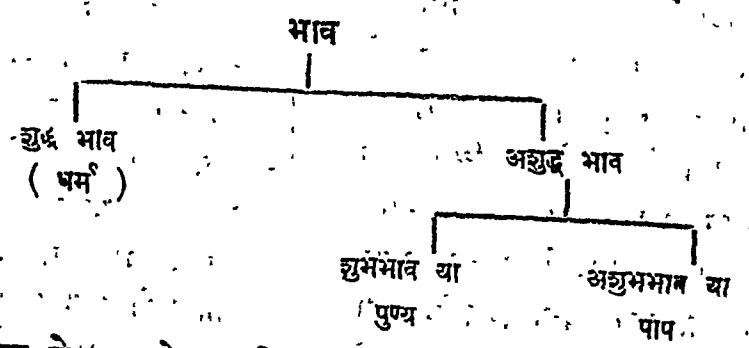
इस कोष्टक से ज्ञात होगा कि पुण्य धर्म नहीं है बल्कि आत्मा का एक अशुद्धभाव है। पर लक्ष से पैदा हुए शुभभाव पुण्य हैं और अशुभभाव

पाप हैं। इनदोनों से सर्वथा पृथक् जो आत्माश्रित शुद्धभाव हैं, वे ही धर्म हैं। पुण्य, पाप शरीरादि की बाह्य क्रिया से नहीं होते परन्तु आत्मा के भावों से होते हैं। उपवास किया भोजन का त्याग किया, परन्तु यह पुण्य का कारण नहीं, उसमें जितनी कषायकी मन्दता होगी, उतना ही पुण्य हैं। बाह्यरूपमें अन्न का त्याग करना आत्मा के वश की बात नहीं। यदि बाह्य क्रिया से ही पुण्य पाप होता हो तो ओपरेशन करनेवाले डोकटर को पाप ही लगना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। ओपरेशन करते समय उसके भावों के अनुसार पाप पुण्य होगा। शरीरादि की किसी भी क्रिया को आत्मा नहीं कर सकता, आत्मा तो मात्र भावों का ही कर्ता है। अतः सिध्ध है कि पुण्य पाप दोनों आत्मा के विकारीभाव हैं। अब पुण्य की मर्यादा का विचार करना चाहिए।

पुण्य आत्मा का विकारी भाव है। धर्म आत्माका अविकारी भाव है। विकारी भाव से अविकारीपने की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः स्वतः सिद्ध है कि पुण्यसे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। न पुण्य धर्म में सहायक है। पुण्यका फल संसार है। पुण्य से जड़वस्तु का संयोग होता है जड़वस्तु से आत्मा का कल्याण और सहाय नहीं हो सकता। संयोगाधीन शुभाशुभ विकारी भाव यदि जीव करे तब होता है परन्तु उनका फल संसार ही है। पाप से बचनेके लिये पुण्य का आश्रय ग्रहण करने का निषेध नहीं है, परन्तु दृष्टि में उसका आदर न होना चाहिए। आत्मस्वरुप के ज्ञान के पश्चात् तथा वीतरागता के पूर्व मध्यावस्था में पुण्य का शुभ भावोंकी विद्यमानता होती है; ऐसा जानकर पुण्यको कोई वीतरागता का सहायक मान बैठे तो यह उचित नहीं क्योंकि पुण्य पाप का अभाव होने पर ही वीतरागता प्रगट होती है। पुण्यका सद्भाव रहते हुए कोई वीतराग नहीं बना। अतः वीतरागता में पुण्य तो विघ्नरूप है न कि सहायक रूप।

इससे यह तात्पर्य नहीं कि पुण्य करना ही छोड़दो। पाप से बचने के लिये पुण्य का निषेध नहीं है। परन्तु 'पुण्य करते करते धर्म होगा'। इस मान्यता का निषेध है। "पुण्य से न धर्म होता है न आत्मा का हित' यह दृष्टिमें पुण्यका ऐसा तदन अस्वीकार हुये बिना धर्मकी शुरुआत भी नहीं हो सकती। इससे निश्चित हुआ कि—

१. पुण्य धर्म नहीं, धर्म का अंग नहीं, धर्मका सहायक भी नहीं।

२. जबतक अन्तरंग में पुण्येच्छा विद्यमान है तबतक धर्म की शुरूआत भी नहीं। अतः पुण्य की रुचि धर्ममें विघ्न कारिणी है।

३. पुण्य की हद मात्र पाप से बचने तक ही सीमित है। चाहे जितना उत्कृष्ट पुण्य बांधे परन्तु उस से धर्म नहीं होता, मात्र बाह्य जड़ संयोग होता है। सारांश यही कि पुण्य का प्रवेश अन्तरंग आत्मस्वरुप में नहीं, आत्मा के बाहर ही उसका स्थान है, इसलिए उसका फल भी बाह्य पदार्थ का संयोग ही हो सकता है।

★ वस्तुका शाश्वत स्वभाव ★

वस्तु अकृत है; अर्थात् किसी के द्वारा बनाई नहीं गई है। वस्तु स्वयं सिद्ध है अर्थात् अनादि अनन्त है। वस्तुका स्वभाव वस्तु से अभिन्न है। चूंकी वस्तु अनादि अनन्त है इसलिये वस्तुका स्वभाव जो धर्म है वह भी अनादि अनन्त है। 'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तुका स्वभाव ही धर्म है। क्यों कि स्वभाव वस्तुका धर्म है, इसलिये यह स्वतः सिद्ध है कि धर्म किसीने नया नहीं ढूंढ निकाला, वह तो अनादि काल से ही चला आरहा है। अनादिकालसे आगत धर्मका प्रकाश सत्पुरुषोंने किया है, अर्थात् उनने धर्मको समझाया है—उसका निर्माण नहीं किया है। किसीने विचारों के द्वारा उत्पन्न नहीं कर दिया है, किन्तु वह जैसा है वैसा ही सर्वज्ञ भगवानकी वाणीद्वारा बताया है।

वस्तुका स्वभाव (अर्थात् गुण) स्थिर एक रूप रहता है, इसलिये तीनलोक और तीनकालमें धर्म एकरूप ही है, वह बदलता नहीं है। गुणकी अवस्था समय समयपर बदलती रहती है। चूंकि वस्तु स्थिर रह कर भी बदलती रहती है इसलिये यदि अखण्ड एकरूप वस्तु के प्रति लक्ष जाये तो शुद्धता प्रगट होती है। और यदि अवस्था के प्रति लक्ष जाता है तो अशुध्धता प्रगट होती है। वस्तु और उसका धर्म अभिन्न है इसलिये धर्म अन्तरमें से प्रगट होता है, बाहर से नहीं आता। धर्म प्रगट होने के लिये मात्र आन्तरिक स्वभावकी प्रतीति और प्रतीतिके अनुसार स्वरूप स्थिरताकी आवश्यकता है।

भव भ्रमण का कारण

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का प्रवचन : लाठी, चैत्र सुद १४ : २४७०

पर पदार्थ से मुझे लाभ होता है अथवा कर्म मुझे भव भ्रमण कराते हैं, यह मान्यता ही जन्म मरण का कारण है। त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से एक तत्त्वकी अन्य तत्त्व में नास्ति है। "आत्मा है" ऐसा कहने पर अनन्त पर पदार्थों की (रागद्वेष और कर्म की) आत्मा में नास्ति है ऐसा हुआ। जो पर रूपावस्था वाला है वह स्व (आत्मा) का क्या लाभ या क्या हानि कर सकता है? जो पर से आत्मा का हानि लाभ समझते हैं, उन्हें यथार्थ में परतत्त्व से पृथक् आत्मतत्त्वकी श्रद्धा ही नहीं है।

प्रश्न—ऊपर कहा गया है कि एक तत्त्व में पर तत्त्वकी नास्ति है। किन्तु आत्मा में यदि कर्म न हो तो आत्माकी परिभ्रमण कैसे?

उत्तर—कर्म की तो आत्मा में त्रिकाल नास्ति है। परन्तु आत्माकी क्षणिक विकारी मान्यता है कि परसे मुझे लाभ होते हैं; और कर्म मुझे भवभ्रमण कराते हैं। यह मान्यता ही जन्म मरण का कारण है। इस उल्टी मान्यता से ही आत्मा रुलता फिरता है, कर्म ने नहीं रुलाया। आत्मा के स्वभाव में तो जन्म मरणकी नास्ति है। आत्माका लाभकारी उसका अंतर स्वभाव हैं और नुकसानकारी क्षणिक विकारी पर्याय है। विकार क्षणिक पर्याय में है, आत्मा के मूल स्वभाव में नहीं। आत्मा को पर से हानि या लाभ नहीं हो सकता।

प्रश्न—जो परसे आत्मा की हानि या स्वरूप का लोप नहीं तो फिर आत्मा की हानि किससे होती है?

उत्तर—अपने स्वतन्त्र स्वभाव को न मानकर परसे मुझे लाभ होते है ऐसा मान बैठने से ही आत्माकी हानि होती हैं यथा—वज्रवृषनाराच संहनन-वाला शरीर होवे तो केवलज्ञान होवे, इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यताओं द्वारा उत्पन्न क्षणिक विकारीभाव ही हानि का हेतु है। इतना होनेपर भी रागद्वेषादिक क्षणिक विकारी भाव आत्माके त्रिकालवर्ती चैतन्य स्वभाव की हानि नहीं कर सकते।

प्रश्न— आत्माका संसार भ्रमण क्यों होता है?

उत्तर—पर तत्त्व मुझे लाभ हानि पहुंचाता है इस नास्तिकी अस्ति होना तथा मेरा स्वरूप ही मुझे लाभ पहुंचाता है, इस अस्ति की नास्ति होना ही भवभ्रमणका कारण है।

रागद्वेष क्षणिक हैं। दो समयके रागद्वेप कभी एकसाथ नही होता है। एक क्षणवर्ती रागद्वेप की अन्य क्षणमें सत्ता नहीं परन्तु आत्माका त्रिकालवर्ती स्वरूप तो सर्वदा ही एकरूप है, अबाधित हैं। क्षणिक रागद्वेप भाव-त्रिकालिक स्वरूपका कैसे नाश कर सकते हैं? त्रिकालवर्ती भाव ही क्षणिक विकारका नाश करता है।

यह त्रिकाल स्वरूपकी दृष्टि ही सम्यगदर्शन है। नित्यका बल से ही अनित्यका नाश हो सकता है किंतु अनित्य कभी नित्यको नुकसान नहि पहुंचाता है। प्रभु! तेरी प्रभुताकी बात एकबार तो कानपर पड़ने दे! तूने अपनी प्रभुताको पहिचाना ही नहीं। और अनादि से अपना लक्ष क्षणिक-भाव पर ही रखा है। नित्य स्वरूप पर जोर ही नहिं दिया, यही जन्म-मरणका मूल है।

स्वभाव में न तो जन्म मरण है और न जन्म मरण के कारण रागद्वेपादि भाव ही हैं। जन्म-मरण का कारण परतत्त्व भी कदापि नहीं है। जन्म मरणका कारण तो क्षणिक पर्याय में भ्रान्ति होती है। यह है इस भ्रान्ति का नाश होते ही यह ज्ञान हो जाता है कि जन्म मरणादि भाव मेरे स्वरूपमें हैं ही नहीं। ऐसी श्रद्धा जागृत होने पर जन्म मरण रहता ही नहीं।

दुनिया माने चाहे न माने परन्तु यह त्रिकाल सत्य है। सत्य पराश्रयी नहीं, अपितु वस्तु स्वभाव ही सत्य है। सम्यक्त्वी इस स्वभाव को स्वीकार करता है और विभावका नकार करता है। 'मैं सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त गुणोंका पिण्डरूप एक स्वतंत्र तत्त्व हूं' ऐसी श्रद्धा जिसे हो जाती है, उसे जन्म मरण की शंका ही नहीं। आत्मा! अपने स्वरूप को स्वीकार तो सही। अन्यथा आंखें मींचकर कहीं का कहीं पहुँच जाएगा। सत्यस्वरूपज्ञान के ऐसे अवसर दुर्लभ होते हैं, अतः इसी क्षण स्वरूप की पहिचान करले।

महान उपकारी भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य

पौष कृष्णा अष्टमी भगवानश्री कुंदकुंदाचार्यदेवको आचार्य पदवी मिलनेका महा मांगलिक दिन है। जैनशासन पर आचार्यदेव का महान उपकार है इस से सुवर्णपुरी में वह मांगलिक दिन बहुत ही उल्लासपूर्वक उजवाया था। भगवानश्री कुंदकुंदाचार्यदेव का पूजन एवं अपूर्व उल्लास से भक्ति भी हुई थी।

हे जगत के जीवो! मानो, मानो!

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥
(समयसार कलश)

अर्थः-इस प्रकार वास्तवमें अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है। परभाव (पुद्‌गलभाव) का कर्त्ता कदापि नहीं है। इसीबात के समर्थनमें कहा है कि-

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

अर्थ-आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है। वह आत्मज्ञानके सिवाय किसी वस्तु का कर्ता कैसे हो सकता है? आत्मा परभाव का कर्ता है, ऐसा मानना और कहना व्यवहारी जीवों का मोह है, अज्ञान है।

हे भाई! तू ज्ञानस्वरूप है। जानना, यही तेरा कार्य है। जानने के सिवाय अन्य कुछ करना तेरा स्वरूप ही नहीं। यह देह तेरी नहीं, देह की क्रिया भी तेरी नहीं; फिर तू देह की क्रिया का कर्ता कैसे हो सकता है? हे आत्मा! तेरे ज्ञायक स्वभाव में पुण्य पाप का अस्तित्व ही नहीं। पुण्यभाव भी तेरे ज्ञायक स्वभावसे विरुद्धभाव है इसलिए तू पुण्य में धर्म न मान। पुण्य से आत्मा का कल्याण नहीं होता, इस भेद को दुनिया वाले क्या जानें?

ज्ञानी फरमाते हैं कि हे आत्मा! तू ज्ञानस्वरूप है। तू अपने को समझ। तू तेरा आत्माको प्रभु स्थाप, अन्य भावों का आदर छोड़ तो तेरी मुक्ति निश्चित है। समयसार की प्रथम गाथा में ही आचार्यदेवने फरमाया है कि मैं और तू सिद्ध हैं। तेरी और अपनी आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता हूं। इसलिए सिद्धों को जो भाव नहीं होते, उनका आदर छोड़ दे। तेरी आत्मा सिद्ध सदृश ही है। उसमें सिद्धत्वकी स्थापना करने पर तेरे अन्दर अन्य भावों का समावेश न हो सकेगा।

यह संसार महाभयानक दुख से भरा हुआ है, आत्मधर्म की पहिचान के बिना इस भव भ्रमण का अंत नहीं। इसलिए दुखके आत्यन्तिक क्षय के लिए धर्म का ही सेवन करो। प्रत्येक आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप स्वतंत्र हैं, वीतराग स्वरूप है, सिद्ध समान है। जैसा सिद्ध भगवान का स्वरूप है वैसा ही तेरा स्वरूप है। ऐसे स्वरूपको पहिचान कर उसी में स्थिर होजा-यही मोक्ष है। तेरा स्वरूप तो सर्वदा पूर्ण है, परन्तु तुझे उसकी खबर नहीं, इसीलिए तू उसका आनन्दानुभव नहीं कर सकता। इसीलिए ज्ञानी तुझे अपने स्वरूप को पहचानने के लिए कहते हैं।

तू स्वसे स्वस्वरूपी है, पर स्वरूपसे नहीं। पर रूप को अपना रूप मानकर हे जीव! अनादिकाल से तू संसारमें भटक रहा है। श्री सर्वज्ञदेव फरमाते हैं कि तू ज्ञायक है। जानने के सिवाय तेरा अन्य कुछ स्वरूप नहीं। रागद्वेष तेरा स्वरूप नहीं, मात्र तू उनका ज्ञाता ही है। शरीर में रोग आने पर भी रोग का मात्र तू ज्ञाता ही है। शरीर तेरा है ही नहीं। त्रिकाल और तिन लोककी प्रतिकूलता आजाय तो भी तू उसका ज्ञाता ही है। तेरे ज्ञायक स्वभाव को रोकने में कोई भी समर्थ नहीं। ऐसे अपने ज्ञायक स्वभावको जान और उसमें स्थिर होजा। तभी तुझे दुःख नहीं रहेंगे और तेरा स्वरूपका अपूर्व सुख तेरा अनुभवमें आयेंगे, तेरे अपूर्व आत्मिक आनन्द के सामने इन्द्र का पद या चक्रवर्ती की ऋद्धि सड़ा हुआ तृण के समान तुच्छ है। तेरा स्वरूप तो आनन्द-उर्मियों से तरंगित हो रहा है। यह आनन्द प्रतिक्षण तुझमें भरा है। इसका उपभोग कर। परके भोगने की इच्छा छोड़दे।

हे भव्य! हे वत्स! तू अपने को घोर दुःखरूपी संसार में न परिभ्रमित कर। तेरे अज्ञानमय क्रूर परिणामका फल तुझे ही महा दुःखकारी और अनिष्ट कारी होगा। अज्ञानभाव से जिन कर्मों को हँसता हँसता बाँध रहा है, उनसे रो रो कर भी छुटकारा न मिलेगा। इसलिए ऐसे अज्ञानमय दुष्टकृत्यों को छोड़दे, छोड़दे। अब सावधान हो, सावधान हो, सर्वज्ञप्रणीत जिनधर्म अंगीकार कर। और जिनधर्मानुसारी होकर आत्मभान प्राप्त कर।

हे भाई! तू उत्तम जीव है। अत्यंत भव्य है। तेरी मुक्ति का अवसर समीप आया है। इसीलिए की सद्‌गुरुओं का यह उपदेश तुझे प्राप्त हुआ है।

अहा! कैसा पावन, हितकारी, निर्दोष और मधुर यह उपदेश हैं। ऐसे परम हितकारी उपदेश को कौन अंगीकार न करेगा, कौन न मानेगा।

दुनिया तो न मानेगी, न मानेगी। जिसे दुनियामें रहना है, जिसे जन्म मरण करना है, जिसे पापपुण्य

रूपी कीच में फंसना हो, वह इस बातको नहीं मान सकता। परन्तु जिसे दुनिया से पार होना है, जन्म मरण रहित होना है, जिसे आत्मस्वरूपकी दरकार है, वह इस बात को जरूर मानेगा। माने बिना चलेगा ही नहीं।

दुनिया माने चाहे न माने। आज माने कल माने या वर्षों बाद माने। परन्तु दुनिया से पार होने वाले अनन्त ज्ञानियोंने यह बात स्वीकारी है। जिन्हें अज्ञानियों की दुनियामें रहना है, संसार की रुचि है, जन्म मरण का भय नहीं है, ऐसे अज्ञानी की दुनिया इस बात को नहीं मानेंगे। और जो इस बात को मानेगा, वह अज्ञानी नहीं रहेगा।

दुनिया के न मानने से ही सत्य को अन्यथा नहीं किया जा सकता। सत्य तो त्रिकाल सत्य है और वह वस्तु के आश्रय से टिका है। 'सत्' वस्तुका स्वरूप है। वस्तु त्रिकाल है तो सत् भी त्रिकाल है। 'सत्' के मानने वालों की संख्या थोड़ी है, इससे सत् की कोई हानि नहीं। क्योंकि सत को संख्या की आवश्यकता नहीं और न काल, क्षेत्रके परिवर्तन से ही सत् में कोई परिवर्तन होता है। क्योंकि सत् काल या क्षेत्रके सहारे नहीं रहा हुआ।

सत् के माननेवालोंकी संख्या हमेशा ही कम रही है। एक बार भी सत् को यथार्थरूप से जो जान लेता है, वह दीर्घकाल तक संसारमें नहीं रह सकता। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य समयसारमें भव्यजीवों को उद्बोधन करते हैं कि—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंते।
तं गिण्हणियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।२०५।

-सोरठा-

ज्ञानगुणों से हीन, बहुजन इसे न पासकें ॥
तू पहचान प्रवीण, जो मोक्षेच्छा है तुझे ॥

अन्वयार्थ—ज्ञानगुण से हीन बहुत से लोग इस पद को नहीं पा सकते। यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो नियत ऐसा इस ज्ञान को ग्रहण कर।

टीका—कर्म में (कर्मकाण्ड) में ज्ञानका प्रकाश न होने से इन सबसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञानमें ही ज्ञानका प्रकाश होने से मात्र ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसवास्ते बहु संख्यक जीव क्रियाकाण्ड करते हुए भी इस ज्ञान पदको प्राप्त नहीं कर सकते। इस वास्ते कर्म से मुक्त होने की इच्छा रखनेवालोंको मात्र ज्ञानके आलम्बन द्वारा ही यह नियत ऐसा एक पद प्राप्त करना योग्य है।

भावार्थ—ज्ञान से ही मोक्ष होता है, कर्म से नहीं। इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिए। यही उपदेश है—

"एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्च मेदह्मि"
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

-सोरठा-

वह ही सुख की रीति, इसमें ही तू तृप्त रह ॥
इसमें कर तू प्रीति, इसमें ही सन्तुष्ट रह ॥

अन्वयार्थ—हे भव्य प्राणी! तू इसीमें (ज्ञानमें) नित्य रत हो, प्रीतिवान हो, इसी में सन्तुष्ट रह, इसी में तृप्त हो। इस तरह करने से तुझे उत्तम सुख होगा।

टीका—हे भव्यजीव! यथार्थरूप से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा निश्चय कर ज्ञानमात्र में ही प्रीति कर। यह ज्ञान ही सत्य कल्याण है, यह ही यथार्थ अनुभवनीय है, ऐसा जानकर सर्वदा ज्ञानमात्र से ही तृप्त हो। इस तरह वचनातीत सुख प्राप्त होगा। उसी क्षण वह सुख स्वानुभवयुक्त होगा, दूसरे से क्या पूछता है?

भावार्थ—ज्ञानमयी आत्मा में लीन होना, उसमें ही सन्तुष्ट होना, उसमें ही तृप्त होना परमध्यान है। इससे वर्तमान में भी आनन्द की प्राप्ति होती है और कुछ समय पश्चात् केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे सुख को प्रति प्राणी स्वानुभव से ही जानता है, अन्य का उसमें प्रवेश नहीं। ★

★ प्रश्नोत्तर ★

प्रश्न—संसारी जीवों को पुण्य भला आत्मा का सहायक या उपकारी क्यों प्रतीत होता है?

उत्तर—अनादिकालसे इन जीवोंने आस्रव का स्वरूप या लक्षण नहीं जाना है, इसीलिए उन्हें ऐसा प्रतीत होता है।

प्रश्न—क्रोधादिक भाव मेरा कार्य है, ऐसा कौन मानता है?

उत्तर—अज्ञानी संसारी जीव ही ऐसा मानता है कि मैं कर्ता और क्रोधादि भाव मेरा कार्य है।

प्रश्न—क्रोधादि भाव मेरा कार्य है ऐसा अज्ञानी जीव मानते है इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर—अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि काम लेते समय नौकर, चाकर, स्त्री, पुत्र आदि से सख्ती से काम

होंगे तो वे ठीक-काम करेंगे अन्यथा लापरवाही करेंगे।

प्रश्न—गृहादिकी व्यवस्थामें ऐसी सख्ती का लाभ तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। तो फिर उपर्युक्त मान्यता वालों को दोषी कैसे मानें?

उत्तर—इस सख्ती को वीतरागता मानते हो या कषाय मानते हो? प्रश्नकारः इसे वीतरागता तो कह नहीं सकते। कषाय ही कहा जाएगा। उत्तरः—और कषाय तो पाप या दोष है ही। फिर पापसे बाह्य लाभ प्राप्त होता है, यह मान्यता में महा दोष है। क्योंकि यदि पाप से ही बाह्य पदार्थादिका लाभ हो सकता हो तो सबसे बड़े पापी को संसार में सबसे बड़ी सुविधा होनी चाहिए। वास्तव में पाप का फल से सुविधा हो ही नहीं सकती।

प्रश्न—तो हमारी मान्यता की त्रुटि स्पष्ट समझाइए।

उत्तर—सांसारिक सगवडता पूर्व-पुण्य का फल है। संसारकी व्यवस्था पूर्वपुण्य से ही होती है। मिथ्यादृष्टि का पुण्य ही पापानुबन्धी पुण्य होता है। उससे उसकी संसारकी सारी व्यवस्था होती नहीं। पूर्वजन्ममें पापानुबन्धी पुण्यका उपार्जन किया और अज्ञान भावका नाश किया नहीं अतः पुण्यका फल भोगते समय क्रोधादि पापभाव करते हैं। ध्यान रहे कि वर्तमान संसारकी सहूलियतें या बाधाएँ धर्म करने में सहायक या विघ्नरूप नहीं। परन्तु अज्ञानी अज्ञानवश ऐसा मान बैठता है कि मेरे क्रोधादि की सख्ती से व्यवस्था ठीक हो रही है, मैंने होशियारी से काम निकाल लिया। वास्तव में सुव्यवस्थादि पूर्व पुण्य से स्वयमेव हो रही है, न कि क्रोधादि भावों से। अतः स्पष्ट है कि क्रोधादि भावों को जो आत्मा का कार्य मानता है, वह अज्ञानी है।

प्रश्न—"क्रोधादि" इस शब्द में आदि शब्द से क्या प्रयोजन है?

उत्तर—इस आदि शब्द में मिथ्यात्व (मोह) और रागद्वेषका समावेश है।

प्रश्न—जो व्यक्ति क्रोधादिको आत्मा का कार्य मानते हैं, उन्हें शास्त्रीय परिभाषा में क्या कहते हैं?

उत्तरः—अज्ञानी, पर्यायदृष्टि, दीर्घसंसारी तथा मिथ्यादृष्टि।

प्रश्न—जो क्रोधादिक भावों तथा आत्माको यथार्थ लक्षणों द्वारा भिन्न भिन्न मानते हैं, उन्हें शास्त्रीय परिभाषा में क्या कहते हैं?

उत्तर—ज्ञानी, अल्प संसारी, सम्यग्दृष्टि, आत्मज्ञानी।

प्रश्न—What is the cause of continuous cycle of excistence? नित्य प्रवर्तित होनेवाले संसारचक्र का क्या कारण है?

उत्तर—It is wrong belief and erroifeeding passions which are the cause of continuous cycle of excistence.

विपरीत श्रद्धा एवं मूल पोषक कषाय ही नित्य प्रवर्तित संसार-भ्रमण का कारण है। (मूल पोषक कषायको शास्त्र परिभाषा में अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं।) ★

मनुष्य भव व्यर्थ चला जायगा

भृगु पुरोहित के दो लड़के कह रहे हैं कि-माता! हमें दूसरा भव नहीं करना है।

"अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि सद्धाखमं ने, विणइत्तु रागं"॥

दो लड़के छोटी उम्र के हैं, उन्हें अवधिज्ञान नहीं है किंतु जाति-स्मरण-ज्ञान हुआ है, आत्मा का ज्ञान हुआ है। वैराग्य होने पर वे दोनों लड़के मावाप से कह रहे हैं कि-"हे माता! हे पिता! हम आज ही आत्माकी निर्मल शक्तिको अंगिकार करेंगे। पूर्ण विश्राम, पूर्ण निश्चय से हम कह रहे हैं कि हमें दूसरा भव धारण नहीं करना, संसार में पुनः नहीं आना। आत्मशक्ति के बल से हम कह रहे हैं कि संसार में पुनः शरीर नहीं धारण करना। आत्माकी शुद्ध चिदानंद स्वरूप का जहां भान होते हैं वहां दूसरा भव करना नहीं होता। इस भव के बाद अब न किसी से माता-रूप सम्बन्ध होगा, न पिता का सम्बन्ध। हे माता! तुझे दुःख होगा, हमारे वियोग में तू रोएगी। परन्तु आगे से अन्य किसी माता को हम रुदन का अवसर न देंगे। हम अशरीरी सिद्ध हो जावेंगे, हमें फिर संसार में नहीं आना।"

यह कौन कह रहे हैं! छद्मस्थ जीव! केवलज्ञान नहीं हुआ परन्तु सम्यग्दर्शन के बल से ऐसा कह रहे हैं।

माता कह रही हैं—"बेटा! अभी छोटे बालक हो, इसलिये संसार का सुख भोगकर पिछे जाना हम सब साथ जायेंगे। तुमने विषयों देखा नहीं है इस से तृष्णा रह जायगी। इसलिये भुक्तभोगी होकर पिछे निकलो।"

पुत्र कह रहे हैं "माता! जगत में नहीं पामी हुई ऐसी कई चीज रह गई है? आत्म स्वभाव के सिवाय सभी वस्तुएँ हमने प्राप्त की हैं। पूर्वे एक

नहीं प्राप्त हुआ ऐसा एक आत्मा ही रह गया है। अहमिन्द्रादि पद तक प्राप्त किये, अब शेष प्राप्तव्य क्या रह गया? हे माता! आज्ञा दे, हमारे प्रति रागभाव को छोड़, आत्मा में सच्ची दृष्टि जागृत कर, यही तेरे कल्याण का कारण होगी'।

कौन कह रहे हैं ये वचन? जागृत हुए दो बच्चे! आत्मोद्धार हित तत्पर हुए ये बालक रुकेंगे नहीं। रण के लिए उद्यत हुआ वीर क्या कभी पीछे कदम हटाता है। लड़के कह रहे हैं कि माता! हमें तो आज ही आज्ञा दे, हम तो आज ही धर्म को अंगीकार करेंगे।

इस प्रसंग पर विचारणीय है कि जो पहले से ही कहने लगते हैं कि आत्मा क्या करे, कर्म विकास नहीं होने देते, कर्म की बाधा हटे तो धर्म हो। इस तरह जो प्रथम ही कायरता दिखाते हैं वे क्या खाक आत्मा का हित करेंगे। अरे भाई! तू चैतन्यमूर्ति! अनन्तशक्तिका धनी, तुझे ऐसे कायरपन की बात शोभा नहीं देती। आचार्यदेव कहते हैं कि "हमने जो इस समयसार में भेदज्ञान की बात कही है वह निर्भय और निःशंक बनाने वाली है और वह तीन कालमें फरनेवाली नहीं है ऐसी अप्रतिहत भावकी यह बात है। उसे सुन कर जिसे दृढ़ श्रद्धा जागेगी उसे पुनर्जन्मका भय नहीं रह सकता। उसका पुरुषार्थ अवश्य जागृत होगा।"

इस मनुष्य भवको पाकर कुछ आत्माका हित करले। इस पंचरंगी दुनियां में क्यों मोह करते है? भाई! शरीरका एक पुद्गल परमाणुका भी बिगाड़ होने लगेगा तो तू उसे रोक नहीं सकेगा। तेरी मिथ्या धारणा है कि तू उस बिगाड़को रुक सकेगा। लेकिन तू तेरी मूढताका सेवन कर रहा हो। पुद्गल की अवस्था जिस समय जिस प्रकार होने लायक है वह नहीं फिरेगी। पाँचसौ या हजार का वेतन पाने पर ही फूलकर कुप्पा हो जाता हैं। किंतु अरे प्रभु! बालुका गढ नहीं हो सकता, और धूमको नहीं पकड़ा जा सकता; ताट के कपडेमें वायु नहीं रह सकता इस तरह परको अपना नहीं किया जाता! अनन्तशक्ति के भण्डार चैतन्यदेवको भूल परको अपनाता है तो यह मनुष्य भव व्यर्थ चला जाएगा। प्राणी! दुर्लभ समागम मिला है, कुछ आत्माका हित साधले।

अन्तिम पृष्ठ का शेष

समय बीचमें सीमधर परमात्माको उतारता है कि हे परमात्मन! आपने पूर्ण परिणतिको प्राप्त की है, और आपको साक्षी रखके हमें भी साधकमें से पूर्ण होगा, बीचमें विघ्न है ही नहीं-बीचमें विघ्न आयगा ही नहीं। जो भावसे साधक दशामें ऊपडा है वही भावसे पूर्णता करेंगे उसमें फरक नहीं है-शंका नहीं है।

ॐकार ध्वनिमेंसे कुंदकुंदभगवान वस्तुका स्वभाव ले के आया और उसकी कुछ प्रसादी यहांपर भव्य मुमुक्षुओं को पीरसाती है, यह तो बीज बोया गया है, इस बीजमेंसे ही केवलज्ञानका पाक पकनेका है; ऐसा स्वभावकी प्रतीत हुई है वह ही महा मंगल है।

व्याख्यान सुनते समय शेठजी अनेकवार उल्लसित हो जाता था और बोला था कि, "महाराज! मेरे आनंदका पार नहीं है, आप तो श्री वीरभगवान और कुंदकुंदाचार्यका मार्ग प्रकाशित कर रहा हो, मेरा आनंदकी क्या बात करु!"

व्याख्यानके उपरांत तत्त्वचर्चा होती थी, चर्चाका मुख्य विषय उपादान-निमित्तके संबंधमें था। चर्चाके विषयका स्पष्टीकरण हो रहा था उस समय शेठजी बोल ऊठा कि-"आप निमित्तका निषेध नहीं करते हो किन्तु आप तो ऐसा दीखलाते हो कि जब उपादान स्वयं कार्यपरिणत होता है तब निमित्तद्रव्य स्वयं हाजर होता ही है"।

दोपहरका व्याख्यानके बाद हंमेशां जिन मंदिरमें भक्ति होती थी, भक्तिमें भक्तोंका उल्लास देखकर शेठजी भी उल्लसित हो जाता था।

छेल्ले दिन (मगसिर सुद ११ के रोज) जब शेठजीने शामको जानेकी इच्छा प्रदर्शित की तब प्रमुखश्रीने शेठजीको विशेष रुकनेकी आग्रहपूर्ण विनति की, उस समय शेठजीने कहा कि 'मैं महाराजजीके उपदेशका लाभ अनेकवार अवश्य उठाउंगा, और मेरी तो भावना है कि मेरा समाधि मरण भी महाराजकी समीपमें हो...'

प्रातःकालका व्याख्यानके बाद शेठजीने नेमनाथ भगवानके वैराग्यका "बारहमास" का स्तवन गाया था।

अंतिम व्याख्यानमें जब आया कि-"जो भावसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है वह भावसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती लेकिन उस भावको स्वभावका जोरसे छेदकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।" यह सुनते ही शेठजी उल्लसित हो गया और बोला कि "अहो! सम्यग्दृष्टिके सिवाय यह बात कौन समझ सकता है? आपकी पास तो मोक्ष जानेका सीधा रास्ता है।" इस तरह तीनों दिन शेठजी व्याख्यान आदिमें अत्यंत उत्साहसे भाग लेते थे।

मगसिर सुद ११ के दिन रात्रिचर्चा पूर्ण होने के बाद कुंदकुंदभगवानका जयजयकार के साथ शेठजीकी मोटर रवाना हुई।

With the permisson of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

सुवर्णपुरीमें मुक्तिका मंडप

पवित्र जैनदर्शनका परम सत्य अध्यात्म तत्त्वोंका अद्वितीय प्रचार स्थानरूप प्रसिद्ध सुवर्णपुरी (सोनगढ) में मगसिर सुदी १० रविवार के दिन तत्त्वप्रेमी मुमुक्षुओंका महान समूहका अति-अति उत्साहपूर्वक जो महान शासन प्रभावक प्रसंग बना हुआ है उसकी संक्षिप्त माहिती यहां पर दी जाती है।

'भगवान् श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप'का शिलान्यासमुहूर्त प्रसंगपर इन्दोरसे श्रीमन्त शेठ सर हुकमीचंदजी और उन्होंकी साथ शेठ नाथालालजी, पं. बंसीधरजी, पं. जीवन्धरजी, और पं. नाथुलालजी मार्गशीर्ष सुदी नवमीके दिन आया था। उन्होंका भावभरा स्वागत करके स्वाध्याय मंदिरमें लाया गया था, उसके बाद 'प्रवचनसारजी' का व्याख्यान हुआ था।

'व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका परमार्थ (निश्चय) कारण नहीं हैं क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय विकल्परूप है। शुभराग है, इससे पुण्य है लेकिन धर्म नहीं है'—यह बात जब व्याख्यानमें आया तब शेठजीने कहा कि–'पुण्य से धर्म नहीं होता' यह कहकर आप पुण्य से जीवोंको छूडाते नहीं हो, लेकिन धर्म और पुण्यका सच्चा स्वरूप दर्शाकर धर्ममें आगे बढनेके लिये फरमाते हो......'

आगे चलकर व्याख्यानमें ऐसा आया कि–"पूर्ण स्वभावका सामर्थ्यद्वारा विकारको जीतकर पूर्ण स्वभाव जो प्रगट करता है वही जैन हैं। जीव जब पूर्ण स्वभावका निर्णय करता है तबसे उसको जैनत्वकी शुरूआत होती है; उसके सिवाय जैनपना नहीं है।" इस समय शेठजी बोल ऊठा कि "बिलकुल ठीक है, जैन कोई संप्रदाय, लिंग या वेश नहीं है लेकिन आत्मस्वरूप ही जैन है–यह आपका कहना है"। इस तरह शेठजी व्याख्यानकी बिचमें अनेकवार उत्साहमें आकर बोलते थे।

पहले दिन शेठजीने अपनी तरफसे रू. ५०१ का दान जैन अतिथि सेवा समितिको जाहेर किया था।

दूसरे दिन (मार्गशीर्ष सुदी १० के दिन) प्रातः ८ बजे मंडपका शिलान्यासमुहूर्त था। प्रथम श्री सिद्धचक्रका पूजन हुआ। पूजनके बाद पूज्य गुरुदेवश्रीने मांगलिक प्रवचनमें कहा कि–"आज कुंदकुंदप्रवचनमंडपका मुहूर्त है। कुंदकुंद भगवानका कहाहुआ शास्त्रका प्रवचनको जो समझेगा उसकी मुक्ति अवश्य होगी–यह 'मुक्तिका मंडपका' आज मंगलमुहूर्त है। सेंकडो मुमुक्षुओं अब तो तैयार हो गया है।"......

उसके बाद मुमुक्षुओंका जयजयकार ध्वनिके बीचमें शेठजी द्वारा खातमुहूर्त विधि हुआ था। खातमुहूर्त विधि पूर्ण होते ही शेठजीने कहा कि–यह भगवान श्री कुंदकुंद-प्रवचन मंडपका शिलान्यास करनेका सुअवसर प्राप्त होनेसे मैं मुझको भाग्यशाली मानता हूं। यह महाराजजीका उपदेशके प्रभावसे बहोत जीवोंको लाभ हुआ है। मेरा भी महाभाग्य है कि मुझे महाराजश्री के चरणोंकी सेवाका लाभ प्राप्त हुआ है। आप सब लोग महाराजजीसे प्रकाशित सच्चा मोक्ष-मार्गके उपदेशका निरंतर लाभ ले रहा हो, इसलिये आपको धन्य है। भविष्यमें सेंकडो जीवों इस तत्त्वका लाभ ले ऐसी हमारी भावना हैं। यह कार्यकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये मैं रू. ११००१ (अग्यार हजार एक) अर्पण करता हूं। यह कार्य शीघ्र पूर्ण हो वह मेरी भावना है।

इसके बाद स्वाध्यायमंदिर ट्रस्टकी ओरसे आभार व्यक्त किया गया और शिलान्यास मुहूर्तविधिका कार्य समाप्त हुआ। तुरंत ही स्वाध्याय मंदिरमें व्याख्यान हुआ। पूज्य गुरुदेवका व्याख्यानका आजका ढंग कोई अजब ही था, सीमंधर प्रभु और कुंदकुंदाचार्य देव प्रति उन्होंकी आंतरिक भक्ति आज बहारमें व्यक्त हो जाती थी। उन्होंने किया हुआ मांगलिक प्रवचनका एक छोटा भाग यहां दिया जाता है–

"आज मुक्तिमंडपका मांगलिक है। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा श्री सीमंधरदेवकी पास कुंदकुंद-भगवान गया था, आठ दिन रहा था और साक्षात् दिव्य-ध्वनि सुनकर अंतरसे विशेष अनुभवमें स्थिरता कर, जो शास्त्र रचा है उसमें अपूर्व अप्रतिहतभावों उतारा है, उसकी जो जीव प्रतीत करें वह अपनी मोक्ष परिणति को लेते

शेष पिछले पृष्ट पर

॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वर्ष : १
अंक : ७

पौष
२४७२

आत्मधर्म नियमित निकलेगा

हम यह भली भांति जानते हैं कि किसी भी कार्य में अनियमितता बहुत कष्टकर होती है, और उसमें भी पत्र संबंधी अनियमितता तो बहुत ज्यादह आकुलता का कारण बन जाती है। किन्तु अभीतक हम आत्मधर्म को नियमित प्रगट नहीं कर पानेके लिये लाचार थे।

लेकिन अब यह प्रगढ करते हुये हमें हर्ष हो रहा है कि आत्मधर्मकी नई व्यवस्था हो गई है, जिससे अब 'आत्मधर्म' नियमित प्रगट हुआ करेगा।

आत्मधर्मका यह सातवाँ अंक है। आठवाँ अंक फाल्गुन कृष्णा ३० तक और नोंवाँ फाल्गुन शुक्ला ५ तक प्रगट हो जायगा। इसके बाद १०, ११, १२ वां संयुक्तांक चैत्र शुक्ला १३ तक 'महावीर जयन्ती अंक' के रूपमें ५० पृष्ठका निकलेगा।

इस प्रकार पूरे एक वर्ष के भीतर ही पाठकों के पास बारहों अंक पहुंच जायंगे। आशा है, इस नियमित व्यवस्था से ग्राहकों को संतोष होगा, और वे अभी तक की अनिवार्य अनियमितता के लिये हमें क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

आत्म तत्त्वका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पांच आना

❀ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ काठियावाड ❀

शुद्ध के लक्षे शुभ रागकी मर्यादा

[प. पू. सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामीके प्रवचनमें से]

चार ज्ञानके स्वामी श्री गणधरदेव भी निरंतर निर्विकल्प ध्यानमें स्थिर नहीं रह सकते, इस लिये वे अशुभ में नहीं जाने के लिये और विशेष ज्ञानका मनन करनेके लिये साक्षात् तीर्थंकर प्रभुका उपदेश बारंबार सुनते हैं। तथा वे अपने पदानुसार शुभ भावमें (जब वे छठ्ठे गुणस्थान में होते हैं तब) भी प्रवर्तमान रहते हैं। गृहस्थों को तो अशुभ राग के निमित्त बहुत हैं, इस लिये उन्हें अशुभ रागसे बचने के लिये बारबार यथार्थ तत्त्वका उपदेश और उपर्युक्त शुभ व्यवहार अंगीकार करना चाहिये। किन्तु याद रहे कि उस शुभरागकी मर्यादा पुण्यबंधन तक हैं; उससे धर्म प्राप्ति नहीं होती। फिर भी परमार्थ रुचिमें आगे बढ़नेके लिये बारंबार धर्मका श्रवण और मनन करना होता हैं।

जिसे संसार रुचि है वह बारबार नाटक-सिनेमा देखता है, उपन्यास पढ़ता और सुनता है, नर्तनकी जल्दी से जल्दी जानकारी प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार जिसे धर्म रुचि है वह धर्मात्मा यथार्थ तत्वका बारबार परिचय प्राप्त करके अशुभ से बचने और स्वस्वरूपमें और स्थिर होने के लिये बारबार शास्त्र स्वाध्याय करता है, उपदेश सुनता है, जिन प्रतिमाका दर्शन, पूजन करता है, गुरु-भक्ति आदि शुभभाव में प्रवृत होता है, और रागको दूर करने की ओर दृष्टि रख कर उसमें प्रवृत्ति करता है।

विशेष राग दूर करने के लिये पर द्रव्यावलंबन का त्यागरूप अणुव्रत, महाव्रतादि का ग्रहण करके समिति गुप्तिरूप प्रवृत्ति, पंच-परमेष्ठीका ध्यान और सत्संग तथा शास्त्राभ्यास इत्यादि करता है। यह सब अशुभ से बचने और वीतरागी गुणकी रुचि बढाने के लिये है।

आपसे इतनी आशा की जाती है

हमें आत्मधर्म के पाठकों से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आत्मधर्म पत्र कैसा है? इसका प्रत्येक लेख पाठकों को अध्यात्मरत बना देता है, और वे इस में वह पाते हैं जो उनने पहले कभी कहीं नहीं पाया था।

जब कि यह बात है तब आप अकेले ही क्यों अध्यात्मरस का पान करें? दूसरों को भी इसका स्वाद लेनेमें निमित्त बनिये। बस, इसी लिये आपसे इतनी आशा की जाती है कि आप एक नया ग्राहक बनाकर उनका पता 'आत्मधर्म कार्यालय सोनगढ (काठियावाड़)' भेज दीजिये।

मुद्रक-चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय: दासकुंज, मोटा-आंकड़िया-काठियावाड. ता. १९-२-४६.
प्रकाशक:-जमनादास माणेकचंद रवाणी, मोटाआंकडिया-काठियावाड.

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक
मासिक पत्र

आत्मधर्म

पौष
२४७२

ज्ञान सम्यक् कब हुआ?

सम्यक्ज्ञानका और दर्शनका कार्य क्या है?

रात्रिचर्चा ता. २४-२-४४

आत्मा वस्तु है, उसमें अनन्त गुण है, उसमें दर्शनका विषय अभेद निर्विकल्प है। ज्ञान विशेष अर्थात् स्वपर को जानने वाला है। जब शास्त्रमें ज्ञानकी मुख्यता को लेकर अधिकार चलरहा हो तब भेद से कथन आता है। दर्शन अभेद है। अर्थात् दर्शन निजको (दर्शनगुण को) या परको नहीं जानता। दर्शनका विषय अखण्ड द्रव्य है। एक समयमें सर्व गुणोंका पिण्ड जो द्रव्य है वह दर्शन का विषय है। एक समय के दर्शन के विषय में समस्त द्रव्य है।

ज्ञानकी पर्यायमें दर्शनको और दर्शन के विषय (अभेद द्रव्य) को जानने पर उसमें (ज्ञानकी पर्यायमें) सारा द्रव्य और सभी संयोग ज्ञात होते हैं। ज्ञान अनन्त गुणों को और निजको जानता है इस लिये ज्ञानकी स्वपर प्रकाशक सामर्थ्य है। ज्ञानको निश्चित करते हुये उसकी एक समयकी पर्याय में सारा द्रव्य और द्रव्यके दर्शनादि अनन्तगुण आजाते हैं,–ज्ञात होते हैं।

ज्ञान के एक समयमें पर्याय और पूर्ण द्रव्य आजाता है। जैसा केवलज्ञान में प्रतिभासित होता है वैसा ही ज्ञानकी एक समयकी पर्यायमें ज्ञात होता है। लोकालोकको जाननेकी ज्ञानकी शक्तिको भी ज्ञानकी एक समयकी पर्यायने निश्चित किया है।

एक ज्ञानकी पर्यायमें वस्तुरूपेण तो कृतकृत्य हूँ (पुरुपार्थकी अशक्ति के कारण पर्यायमें क्रमका होना गौण है) यों निश्चित करने वाला ज्ञान स्वपर प्रकाशक है।

दर्शनके स्वभावको निश्चित करनेवाला ज्ञान सच्चा ज्ञान है। जहां दर्शनकी प्रधानता से वर्णन चल रहा हो वहां वह भी ज्ञानका ही विषय है, कारण कि दर्शन स्वयं निजसे नहीं जाना जाता, किन्तु दर्शनको जानने वाला ज्ञान है।

जो दर्शनका विषय निश्चित करता है वह ज्ञान सम्यक् है; दर्शनका विषय अखण्ड है; वह निमित्त, पर्याय अथवा भेदको स्वीकार नहीं करता; और यदि ज्ञानमें निमित्तको नहीं माने तो ज्ञानकी भूल होती है; फिर भी ज्ञान तो दर्शन को जानता है, और 'दर्शनमें निमित्त पर्याय अथवा भेदको स्वीकार नहीं किया गया है' यह भी जानता है। इस प्रकार जो समस्त गुणों से वस्तु को निश्चित करे वह ज्ञान सम्यक् है।

आत्माका लक्षण चेतना है। चेतना के दो प्रकार है १-दर्शन और २-ज्ञान (उसे ग्रहण करना, एकाग्र होना सो चारित्र है)

दर्शनने अभेद वस्तु लक्षमें ली है, और ज्ञानने दर्शनके सारे

विषयको निश्चित किया है। ज्ञानने दर्शन गुणको निश्चय करते हुये उसमें दर्शन के विषय को भी निश्चित किया है। इस प्रकार, ज्ञानने दर्शनको जाना और दर्शन के विषय में सारा द्रव्य आ जाता है, इस लिये ज्ञान में सभी आ जाता है।

पर्याय अथवा निमित्त ज्ञानमें भी गौण हो जाता है पर्याय विकसीत हुई है या विकसित होने वाली है इस भेदको ज्ञान जानता है; दर्शन तो मात्र 'निर्विकल्प अस्ति' है।

जो उपयोगरूप दर्शन गुण है उसका सामान्य विषय है। उसे (दर्शनको) भी ज्ञानने निश्चित किया है, और उसके अभेद विषयको भी ज्ञानने निश्चित किया है। यद्यपि ज्ञान सविकल्प कहलाता है लेकिन उसका मतलब 'राग-युक्त' ऐसा नहीं है। किन्तु स्व-पर को जानने की उसकी शक्ति है। ज्ञानमें दर्शन का निश्चय करने पर दर्शनका अभेद विषय भी निश्चित हो जाता है।

दर्शन के विषयमें तो शुद्ध पर्याय होनेकी बात ही नहीं है, और ज्ञानके विषयमें भी शुद्ध पर्याय गौण है। आत्मा में जो अनन्त गुण है उन सबको जाननेवाला तो ज्ञान ही है, शेष सब तो अस्तिरूपमें ही हैं। ज्ञानने जो जाना उसमें सारी वस्तु एक ही क्षणमें आजाती है। जो वर्तमान अपूर्ण पर्याय है उसे भी ज्ञान जानता है और ज्ञानकी एक समयकी पर्याय परिपूर्ण द्रव्य को भी जानती है; इस प्रकार ज्ञान द्रव्य और पर्याय दोनों को जैसे है तैसे जानता है।

जिस समय ज्ञान सम्यक्रूपमें परिणत हुआ उस समय भी निमित्त और रागका ज्ञान करनेकी उसकी शक्ति है। दर्शनका निश्चय करने वाला ज्ञान ही है। किसी भी गुणको जाननेवाला ज्ञान ही है। दर्शन स्वयं अस्ति-रूप गुण है।

सर्वत्र ज्ञान की ही महिमा है। सर्वत्र चैतन्यज्योति चमक रही है। (समयसारमें) जहां जहां 'प्रज्ञा'से वर्णन होता है वहां सर्वत्र ज्ञान को इसी (उपर्युक्त) प्रकार से कहा गया है।

भले ही अपूर्ण ज्ञान में निमित्त हो किन्तु दर्शनके विषयको लक्ष्यमें लेने वाला ज्ञान है। एक समयमें विकल्प रहित जानने का ज्ञानका स्वभाव है। जब वह दर्शनके अभेद विषयको लक्ष्यमें लेता है तभी ज्ञानकी पर्याय खिलती है। यों निश्चय करने वाली भी ज्ञानकी पर्याय ही है।

'ज्ञान निमित्तको जानता है' इसमें परकी ओर झुकाव होता है किन्तु 'ज्ञानने दर्शनका विषय निश्चित किया तब ज्ञान सम्यक् हुआ है' यों सामान्यतया जो ज्ञान हुआ उसका जोर (भार) होना चाहिये।

ज्ञानगुणको विशेष, सविकल्प या साकार कहा जाता है। ज्ञान स्व-परको जानता है इसलिये 'विशेष' कहा गया है। सविकल्प कहने से 'ज्ञानमें रागविकल्प है' यह नहीं कहा है, किन्तु ज्ञानका स्वपर प्रकाशपन कहा गया है। और 'साकार' कहनेका मतलब जड़ के आकार वाला नहीं है, किन्तु उसका स्वपर को जाननेवाला स्वभाव बताया है।

प्रत्येक वस्तु समान्य-विशेषपन को लिये हुये अर्थात् द्वैतपन से होती है। चेतना भी द्वैत को लेकर अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप सामान्य-विशेषरूप से है। विशेष में सभी अन्तर्हित है, विशेष दर्शनको निश्चित करता है।

शंका हो सकती है कि यहां सामान्य विशेष लेनेका क्या कारण है? उसका समाधान—

(१) विशेष में सब समाविष्ट (ज्ञात) हो जाता है।

(२) यदि कोइ पुण्य-पाप या राग-द्वेष को 'आत्माका विशेष' कहे तो यह नहीं हो सकता किन्तु जो पर्याय है सो विशेष है और जो अखण्ड द्रव्य है सो सामान्य है।

(३) चेतना सामान्य विशेष स्वरूप है। सामान्य विशेष (दर्शन ज्ञान) के बिना चेतना नहीं हो सकती, और चेतना के बिना आत्मा नहीं हो सकता। क्यों कि व्यापक चेतना है और व्याप्य आत्मा है। व्यापक के बिना व्याप्यका होना संभव नहीं है।

ज्ञान तो निज स्वरूप है। उसका स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। उसकी एक समयकी एक पर्यायमें सारा स्व-भाव और अवस्थादि सब आजाता है। ❀ ❀ ❀

❊ परमसत्यका हकार और उसका फल ❊

परम सत्य सुनने पर भी समझ में क्यों नहीं आता? 'मैं लायक नही हूं, मैं इसे नहि समझ सकता' ऐसी दृष्टि ही उसे समझनेमें अयोग्य रखती है। सत् के एक शब्द का भी यदि अंतरसे सर्व प्रथम 'हकार' आया तो वह भविष्य में मुक्ति का कारण हो जाता है। एक को सत् के सुनते ही भीतरसे बडे ही वेग के साथ हकार आता है और दूसरा 'मैं लायक नहीं हूं-यह मेरे लीए नहीं है' इस प्रकारकी मान्यता का व्यवधान करके सुनता है, वही व्यवधान उसे समझने नहीं देता। दुनियां विपरीत बातें तो अनादि कालसे कर ही रही है, आज

इसमें नवीनता नहीं है। अंतर्वस्तु के भान के विना बाहर से त्यागी होकर अनंतवार सुख गया किन्तु अंतर से सत् का हकार न होने से धर्म को नहि समझ पाया।

जब ज्ञानी कहते है कि 'सभी जीव सिद्ध समान है और तू भी सिद्ध समान है, भूल वर्तमान एक समय मात्र की है, इसे तू समझ सकेगा; इसलिये कहते है,' तब यह जीव 'मैं इस लायक नहि हूं, मैं इसे नहि समझ सकूंगा' इस प्रकार ज्ञानियों के द्वारा कहे गये सत्का इनकार करके सुनता है। इसलिये उनकी समझ में नहीं आता।

भूल स्वभावमें नहीं है, केवल एक समय मात्र के लिये पर्यायमें है, वह भूल दूसरे समय में नहीं रहती। हां, यदि वह स्वयं दूसरे समयमें नई भूल करे तो बात दूसरी है (पहले समय की भूल दुसरे समयमें नष्ट हो जाती है)। शरीर अनंत परमाणुओंका समुह हैं और आत्मा चैतन्य मूर्ति है। भला, इसे शरीरके साथ क्या लेना देना? जैन धर्मका यह त्रिकालाबाधित कथन है कि एक द्रव्य दुसरे द्रव्य की पर्याय को उत्पन्न नहि कर सकता, इसे न मानकर 'मेरेसे पर की अवस्था हुई अथवा हो सकती है' यों मानता है, यही अज्ञान है। जहां जैन की कथनी को भी नहीं मानता वहां जैनधर्म को कहां से समझेगा? यह आत्मा यदि परका कुछ कर सकता होता तभी तो परका कुछ न करनेका अथवा परके त्याग करने का प्रश्न आता!

विकार परमें नहीं किन्तु अपनी एक समयकी मान्यता में है। यदि दूसरे समयमें नया विकार करे तो वह होता है। 'रागका त्याग करूं' ऐसी मान्यता भी नास्ति से है, अस्तिस्वरूप शुद्धात्माके भान के विना रागकी नास्ति कौन करेगा? आत्मामें कोई परका प्रवेश है ही नहीं तो फिर त्याग किसका? पर वस्तुका त्यागका कर्तृत्व व्यर्थ ही विपरीत मान रखा है, उसी मान्यता का त्याग करना है।

प्रश्नः–यदि सत्य समझमें आजाय तो वाह्य वर्तनमें कोइ फर्क न दिखाइ दे अथवा लोगों के ऊपर उसके ज्ञान की छाप न पडे?

उत्तरः–एक द्रव्यकी छाप दुसरे द्रव्य पर कभी तीन लोक और तीन कालमें पडती ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र हैं। यदि एक की छाप दुसरे पर पडती होती तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान की छाप अभव्य जीव पर क्यों नहीं पडती? जब जीव स्वयं अपने द्वारा ज्ञान करके अपनी पहिचान की छाप अपने ऊपर डालता है तब निमित्तमें मात्र आरोप किया जाता है। बाहरसे ज्ञानी पहिचाना नहीं जा सकता। क्योंकि यह हो सकता है कि ज्ञानी होने पर भी वाह्य में हजारो स्त्रीयां हों और अज्ञानी के बाह्य में कुछ भी न हो। ज्ञानीको पहिचानने के लिये यदि तत्त्वदृष्टि हो तो ही वह पहचाना जा सकता है। ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर बाह्य में कोइ फर्क दिखाइ दे या न दे किन्तु अंतर्दृष्टि में फर्क पड ही जाता है।

सत् के सुनते ही एक कहता है कि अभी ही सत् बताइये, यों कहनेवाला सत्का हकार करके सुनता है, वह समझनेके योग्य हे और दुसरा कहता है कि 'अभी यह नहीं, अभी यह मेरी समझ में नहीं आ सकता' यों कहने वाला सत् के नकारसे सुनता है, इसलिये वह समझ नहीं सकता।

श्री समयसार जी की पहली गाथामें यों स्थापित किया गया है कि मैं और तू दोनों सिद्ध हैं; इसके सुनते ही सबसे पहली आवाज में यदि हां आगई तो वह योग्य है–उसकी अल्पकालमें मुक्ति हो जायगी और यदि उसके वीचमें कोइ नकार आगया तो वह समझने में अर्गला समान है।

प्रश्न–यदि अच्छा सत्समागम हो तो उसका असर होता है या नहीं?

उत्तर–बिल्कुल नहीं, किसी का असर परके ऊपर हो ही नहीं सकता। सत्समागम भी पर है। परकी छाप तीन काल और तीन लोकमें अपने ऊपर नहीं पड़ सकती।

आह! यह परम सत्य बोधिदुर्लभ है। सच्ची समझ के लिये सर्व प्रथम सत् का हकार आना चाहिये।

मुख्यगति दो है–एक निगोद और दूसरी सिद्ध। यदि सत्का इनकार कर दिया गया तो कदाचित् एकाद अन्य भव लेकर भी बादमें निगोद में ही जाता है। सत्के विरोध का फल निगोद ही है। और यदि एक बार भी अंतरसे सत्का हकार आगया तो उसकी मुक्ति निश्चित है। हकार का फल सिद्ध और नकार का फल निगोद है।

यह जो कहा गया है सो त्रिकाल परम सत्य है। तीन काल और तीन लोकमें यदि सत् चाहिये हो तो जगत को यह मानना ही पडेगा। सत्में परिवर्तन नहीं होता, सत् को समझने के लिये तुझे ही बदलना होगा। सिद्ध होने के लिये सिद्ध स्वरूप का हकार होना चाहिये। ★

अज्ञानी जीवकी विपरीत चाल और पुद्गलकी सरलता

पुद्गल परमाणुओं का ऐसा स्वभाव है कि यदि कोई जीव विकार नहीं करे तो वह जीवके साथ नहीं लगते है, किन्तु यदि कोइ जीव उल्टा चलकर परमाणुओं को बताता है, अर्थात् उनकी और लक्ष करता हैं तो वे आये विना नहीं रहते। अज्ञानी जीव स्वयमेव राग-द्वेष करता है, फिर भी वह परमाणुओं का व्यर्थ ही दोष निकालता है कि इनने मुझे राग द्वेष कराया है। किन्तु सच तो यह है कि उसी अज्ञानी जीवने राग-द्वेष करके पुद्गलों को बुलाया है। कोई रागद्वेष करके पुद्गलोंको बुलाये और वे नहीं आयें यह कैसे हो सकता है ?

बेचारे पुद्गल तो जीवका कुछ नहीं बिगाडते, किन्तु जीव ही स्वयं रागादिद्वारा अवरुद्ध होता है, तब पुद्गल मात्र उपस्थित रहता है; फिर भी अपने रागमें दूसरे का दोष निकालना, यह जीवकी विपरीत चाल है।

गतांकसे आगे—

:जैनधर्म:-३

लेखक: रामजी माणेकचंद दोशी

जैन शास्त्रोंकी कथन पद्धति

जैन शास्त्रों में दो प्रकार का कथन है-एक वास्तविक (परमार्थ यथार्थ, निश्चय) दृष्टिसे, दूसरा अवस्था (भंग, भेद, निमित्तादि) दृष्टिसे। जहां व्यवहारदृष्टिसे कथन किया गया हो वहां यदि शब्दानुसार अर्थ किया जायगा तो वह गलत है। जैसे 'इंग्लेण्ड जर्मनी के विरुद्ध लड रहा है' यह कथन लोक प्रसिद्ध है; किन्तु यदि इसका शब्दानुसार अर्थ किया जायगा तो यह असत्यार्थ है। इसलिये उसका परमार्थ क्या है, यह जानकर परमार्थ अर्थ किया जाय तो ठीक होगा, अन्यथा वह गलत है। और जब गलतको सही माना जायगा तो अनादिकालीन भ्रम बना ही रहेगा। और ऐसी स्थितिमें वह व्यवहार वचनों को ही निश्चय वचन मान कर शास्त्र का अर्थ करेगा, तथा उस भ्रम को पुष्ट करेगा, तो उसे ऐसा अभिमान हुये विना नहि रहेगा कि मुझे शास्त्र का अभ्यास है।

जैन शास्त्रका अर्थ किस प्रकार करना चाहिये, इसकी रीति श्री मोक्ष मार्ग प्रकाशक (पृष्ट २५६) में इस प्रकार कही गई है:-

"जिनमार्ग में कहीं तो निश्चय नय (वास्तविक दृष्टि) की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो यों ही जानना चाहिये कि 'सत्यार्थ' इसी प्रकार है;' तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यताको लेकर कथन है उसे यों जानना चाहिये कि 'ऐसा है तो नहीं किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षा से उपचार किया गया है,' और इस प्रकारसे जाननेका नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'इस प्रकार भी है और इस प्रकारभी' यों भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों को ग्रहण करना कहा नहीं है।"

इस पद्धति से यथार्थ अर्थ करना, और यथार्थ स्वरूप क्या है यह जानना, और व्यवहार अर्थात् विकार भेदभंग, निमित्त, अवस्था, बाह्य इत्यादि जो जिस रूपमें है उसे उसी रूपमें जानना, और इस प्रकार जानकर, फिर व्यवहार परसे लक्ष छोडकर निश्चय पर लक्ष देना; ऐसा करनेसे शुद्ध अवस्था प्रगट होती है, किन्तु भेदभंग, विकार, निमित्त आदि पर लक्ष देनेसे विकारी अवस्था प्रगट होती है।

निमित्तसे लाभ-हानि मानी जाय तो प्रतीति (दृष्टि)का दोष आता है, और जो यों जाने कि निमित्त है ही नहीं तो वह ज्ञानका दोष है। इसलिये दर्शन और ज्ञान दोनों दोष रहित होना चाहिये अर्थात वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानरूप होना चाहिये। ऐसा होने पर ही जीवके त्रिकाल टीकनेवाले ध्रुवस्वरूप पर लक्ष (झुकाव) रहा करता है; जिससे सम्यक्चारित्र प्रगट होता है।

जैन शास्त्रो में जीव, उसकी विकारी दशा, अविकारी दशा, कर्मो के साथ निमित्तनैमित्तिक संबंध, अजीव इत्यादि सब वैज्ञानिक रीतिसे सिद्ध किया गया है। जैन दर्शन कर्मवादी नहीं किन्तु आत्मवादी दर्शन है।

जैन दर्शनकी अनादिअनंतता

वर्तमान में जितने क्षेत्र तक जाया जा सकता है उतना ही मनुष्य क्षेत्र नहीं है। इसलिये तमाम मनुष्य क्षेत्र को लक्ष में रखकर विचार करना चाहिये कि विश्व में जैसे अज्ञानता अनादिकालसे है उसी तरह सच्चा ज्ञान भी अनादिकालसे है। यदि इस जगतमें 'ज्ञान' नहीं हो तो 'अज्ञान' भी नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान कहो या जैनधर्म, दोनो एक ही है, इसलिये जैनधर्म अनादि कालसे है, और अनन्त काल तक रहेगा। यह हो सकता है कि वह (ज्ञान) अमुक मनुष्य-

क्षेत्र में अमुक कालमें नहीं हो, किन्तु सर्व मनुष्य क्षेत्र में और सर्व काल में अज्ञान का बना रहना नहीं हो सकता। यदि यह हो सकता हो तो यह निश्चत किसने किया कि यह 'अज्ञान' है? सम्यग्ज्ञान ही सत्यज्ञान और मिथ्याज्ञानका निश्चय करता है।

यह हो सकता है कि अमुक मनुष्य क्षेत्रमें कितने ही समय तक सम्यग्ज्ञान नहीं हो, किन्तु उस क्षेत्रमें और अमुक समय पर एक जीव अपनी उन्नतिको साधता हुआ उस मनुष्य क्षेत्रमें जन्म ले और वहां पर अपनी उन्नति को पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट हो उस समय उस क्षेत्रमें दूसरे पात्र जीवों को उनका उपदेश निमित्तरुपसे मिले, और वह पात्र जीवों अपनी योग्यतासे उस उपदेशको सुनकर अपना यथार्थ स्वरूप निश्चत करके यथार्थ धर्म (स्वभाव) में प्रवेश करता है। क्रम क्रमसे उन्नति में बढते हुये वैसे मनुष्य जिस भाव से संपूर्णज्ञानको प्राप्त करते हैं उस भाव को वे बताते हैं; इसलिये उन्हें 'तीर्थंकर' अर्थात् 'तैरने का मार्ग बताने वाला' कहा जाता हैं।

भरतक्षेत्रमें धर्मका प्रवाह कुछ समयके लिये रुक गया था; किन्तु उसके बाद श्री ऋषभदेवआदि चौवीस तीर्थंकर हुये। उनके उपदेशसे भरत क्षेत्रमें यथार्थ धर्म-प्रवर्तन हो रहा है। तीर्थंकर ज्ञान और पुण्य दोनों में पूर्ण होते हैं। उनके वीतराग होने पर इच्छाके दूर हो जानेसे सहजरीत्या (विना ही इच्छा के) वचन वर्गणा सर्वांग से खिरती है, जिसे दिव्यध्वनि कहा जाता हैं, अथवा जिसे ओम् भी कहते है। उनकी धर्मसभा (समवशरण) में आये हुये देव-देवांगनायें, मनुष्य-मनुष्यनियां, और तिर्यंच-तिर्यंचनियां सब अपनी अपनी भाषामें समझलिया करते हैं। इस दिव्यध्वनिको उपचार से तीर्थंकर का उपदेस कहा जाता है।

जैनधर्मके लिये सौराष्ट्रका भाग

सौराष्ट्र प्रदेशान्तर्गत गिरनार पर्वत पर बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान के दीक्षा, केवल और मोक्ष कल्याणक हुये हैं। उन्हीं के समयमें उन्हीं के कुटुम्बी श्री कृष्णवासुदेव और श्री बलभद्र शलाका पुरुष हुये थे। गिरनार पर्वत जैनोंका सुविख्यात तीर्थ है। इस गिरनार पर्वतकी गुफामें श्री धरसेनाचार्य विराजते थे। उनने अपना दिव्यज्ञान श्री भूतवली और श्री पुष्पदन्त मुनिराजों को दिया था। और उन मुनियोंने भविष्यमें होनेवाली बुद्धि की मन्दता को जानकर 'षट्खण्डागम' की रचना की थी। वे ग्रंथ अब हिन्दी टीका सहित मुद्रित हो रहे हैं। यह षट्खण्डागम वर्तमान जैन साहित्यमें सबसे अधिक प्राचीन हैं।

जैनोंमें 'तत्त्वार्थसूत्र' सर्वमान्यग्रंथ है। उसकी रचना भी सौराष्ट्र में श्री उमास्वामी आचार्यने की थी। भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव रचित परमागम श्री समयसार का गुजराती अनुवाद और प्रकाशन भी अभी (सन-१९४० में) इसी प्रदेशमें हुआ है।

'शत्रुंजय' भी सुप्रसिद्ध जैन तीर्थ-क्षेत्र है। वहां पर पाण्डवादि अनेक महापुरुषों को केवलज्ञानकी और मोक्ष की प्राप्ति हुई है। यह क्षेत्र भी सौराष्ट्र में है।

अभी निकट भूतकालमें ही ववाणिया बन्दर में श्रीमद् राजचंद्र हो गये है। वे जैनधर्म के एक महान तत्त्वज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध हुये है। अभी कुछ समय पूर्व ही उनका स्मारक ववाणिया में बना है। उनने गुजरात और काठियावाड में जैन धर्म की अध्यात्मविद्याके बीज बोकर उसका अच्छा प्रचार किया था। जैन धर्म के यथार्थ स्वरूपको समझानेवाले अनेक पत्र और नोंध जो उनने अपने शिष्योंको लिखे थे-प्रगट हुये हैं। मुमुक्षु उनका अच्छा लाभ ले रहे हैं।

—अन्तमें—

मैं युवक हूं, वृद्ध हूं, शूरवीर हूं, पण्डित हूं, सर्वश्रेष्ठ हूं, दिगम्बर हूं, बौद्धमतका आचार्य हूं, अथवा श्वेताम्बर हूं, इत्यादि शरीर के भेदों को मूर्ख आदमी अपना मानता है, यह भेद जीव के नहीं हैं। [परमात्म प्रकाश गाथा ८२]

जीव बौद्धका आचार्य नहीं, दिगम्बर नहीं, श्वेताम्बर नहीं, किसी वेष का धारी नहीं अर्थात एकदण्डी, त्रिदण्डी, हंस, परमहंस, संन्यासी, जटाधारी, मुंडी, रुद्राक्षमाला, तिलक, कुलक, घोष, इत्यादि किसी भी वेष का धारी नहीं है। वह एक ज्ञानस्वरूप है। (परमात्मप्रकाश, गाथा ८८)

जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र नहीं है। पुरुष, स्त्री या नपुंसक नहीं है; वह तो ज्ञानस्वरूप होने से समस्त वस्तुओं को जाननेवाला है।

इसप्रकार जैनधर्मका अर्थ, जैन तत्त्वका संक्षेप, जैनधर्मके शास्त्रोंकी कथन पद्धति, जैनदर्शनकी अनादि अनन्तता और जैनधर्म के लिये सौराष्ट्रका भाग, इन पांच विभागों द्वारा यह कथन समाप्त किया जाता है।

—संपूर्ण—

बंधन और पराधीनता

[परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामीका समयसार-पर-प्रवचन ता. २६-१२-४३]

—: बंधन क्या है ? :—

जिस भावसे आत्माकी स्वाधीनता नष्ट हो जाय और पराधीनता आजाय उस भावको बंधन कहते हैं। आत्मा में जो पराधीन भाव है वही आत्माकी हानिका कारण है। आत्मा अनादि अनन्त ज्ञानमूर्ति है। उसे जाने बिना किसीभी प्रकार के पुण्य पापके भावोंका होना आत्माके लिये बंधनकर्ता है—आत्मगुणों के लिये हानिकार है।

जीवने अनन्तकालसे संसारकी बातें सुनी है, किन्तु उसने यह आजतक नहीं जाना कि आत्माका क्या स्वरुप है और आत्माका बंधन क्या है। अज्ञानीको तो संसारका बंधन-दुःख ही नहीं मालुम होता।

—: आत्मा क्या है ? :—

शरीरके परमाणु आदि वस्तु है, उसीप्रकार आत्मा भी एक वस्तु है। शरीर मूल वस्तु नहीं है किन्तु वह बहुत से परमाणुओंका संग्रह है-सूक्ष्म मिट्टी है। यद्यपि परमाणुकी दशा बदल जाति है किन्तु वह परमाणुरूपसे तो कायम रहता ही है। शरीर आत्मा नहीं है, किन्तु शरीरमें रहनेवाला शरीरसे भिन्न एक आत्मा है।

आत्मा वस्तु है, जगतकी अनादि अनंत चीज है, उसमें अनन्त गुण है, जानना-मानना आदि आत्माके गुण है। ऐसे आत्मा के स्वरुप को न जानकर ऐसा भाव करना कि 'मैं शरीर हूं, पुण्य पाप मेरे है, पुण्यसे मुझे धर्म होता है' सो बंधनकर्ता है। वह आत्माके गुणों की शक्तिका घात करता है।

आत्मा एक वस्तु है, शरीरादि उससे पर (भिन्न) है। जब यह जीव माताके पेटमें आया तब उस शरीर को साथमें लेकर नहीं आया था, किन्तु वह पिण्ड तो माताके पेट में जड़ रजकणों से बना था।

—: बंधका कारण :—

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; कोइ भी वस्तु निर्गुण नहीं होती, यदि वस्तुमें गुण नहीं हो तो वह कैसे पहचानी जाय ? आत्मा को किन गुणों को लेकर जाना-पहचाना जाय ? ज्ञानगुण से ही तो आत्मा की पहिचान होती है। आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण है। 'मैं जाननेवाला शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ;' अपने इस स्वरुप को भूलकर यह मान लेना कि 'जो पुण्य पाप है सो मैं हूँ, जो शरीरादि है वह मैं हूँ' यही अज्ञान है-बंधका कारण है।

आत्मा क्या वस्तु है ? वह जाननेवाला अखण्डज्योति-ज्ञानस्वभावी है। जानना ही उसका स्वरूप है। वह अपने ज्ञायक (जाननेवाले) स्वभावकी ओर उन्मुख न होकर यदि यह मान बेठे कि 'मेरे आत्मस्वभाव को या गुण को मुझे कोई अन्य दे देगा, अथवा कोई दूसरा सहायता कर देता तो वह प्रगट हो जायगा' बस यही मान्यता बंधन और यही पराधीनता है।

जो यह मानता है कि किसी के श्राप या आशीर्वाद से मेरा बुरा-भला हो सकता है वह परसे अपना भला-बुरा मानने के कारण आत्मा के स्वतंत्र स्वभाव की हिंसा कर रहा है, उसे आत्माकी स्वतंत्रता पर विश्वास नहीं है। यदि उसे विश्वास हो तो उसकी यह धारणा होनी चाहिये कि 'मैं अनादि अनन्त स्वतंत्र वस्तु हूँ मुझमें पराधीनता नहीं है।'

—: बंधन क्यों होता है ? :—

प्रश्नः-तो फिर आत्मामें बंधन क्यों होता है ?

उत्तरः क्यों कि उसे अपने वस्तुस्वभावकी खबर नहीं है, इसलिये वह परसे लाभ मानता है। अर्थात् वह यह मानता है कि मुझमें तो शक्ति है ही नहीं। यही पराधीन भाव है। और यही आत्माके धर्मस्वभावको अधर्मदशारूप यानी बंधनरूप बना डालता है।

प्रश्नः-बंधन किसे कहा जाय ?

उत्तरः-जो भाव आत्माके गुणको रोकता है वह बंधन है। जिस भावसे आत्माके गुणोंकी शक्ति रुकती है वह बंधनभाव है। आत्मा एक पदार्थ है। कोई वस्तु बिना गुणके नहीं होती। आत्मा का स्वभाव—आत्माके गुण आत्मामें ही है; किसी पर के ऊपर आत्मगुण अवलम्बित नहीं है। यदि किसी परसे आत्माके गुण आवें तो इसका सीधा अर्थ यही हुआ कि आत्मामें गुण नहीं है। और जब आत्मामें गुण नहीं होंगे तो किसी भी कारणसे वे

प्रगट नहीं हो सकेंगे। और यदि वे हैं तो फिर उन्हे पर की सहायता की आवश्यकता ही क्यों रहेगी ?

जीवके लिये यह संसार नया नहीं है। अनादिसे यह जीव पराधीन मान्यताके कारण परिभ्रमण कर रहा है। यह कभी शुद्ध नहीं हुआ। यदि एकवार भी आत्मा-शुद्ध होजाय तो फिर कभी भी उसे संसार (अशुद्धता) न हो। (जैसे मक्खन का घी बन जाने पर फिर वह घी कभी भी मक्खन नहीं बन सकता।) किन्तु मान्यताकी भूल अनादिकालसे चली आ रही है। पुण्य पाप दोनों ही विभाव से उत्पन्न हुये है। वे स्वभाव नही है। यदि वे स्वभाव हो तो उनका कभी भी नाश नहीं हो। जो परवस्तु है उसे आत्मस्वभावकी मान लेना, यही अनन्त जन्म-मरणका कारण है।

आत्मा और परमात्मा

आत्मा स्वयं परमात्मा है। आत्मा और परमात्मामें सिर्फ इतना ही अन्तर है कि परमात्माने अपना अविकारी स्वरुप प्रगट करलिया है, और इस आत्माने विकार को अपना मान रखा है। जब कोइ आत्मस्वरूप को विकार रहित मानकर उसे प्रगट करता है तब वह आत्मा स्वयं ही परमात्मा कहलाने लगता है। किन्तु यदि कोइ अपने विकार रहित स्वरूप को नहीं माने और पराधीन भावको अपना मानकर यों कहे कि 'मुझे स्वतंत्र होना है' तो वह स्वतंत्र वस्तुको जाने बिना स्वतंत्र कहां से हो जायगा ?

यदि कोई आत्माको जैसा है वैसा नहीं माने तो भी वह कहीं भी किसी न किसी रूप में वस्तु को तो मानेगा ही ? उसे स्वभावकी खबर नहीं है इसलिये वह यह मानेगा कि जो पुण्य पाप है वही मैं हूँ ! किन्तु वह जब तक पुण्य पापको अपना स्वरूप मानता है, उसे अपना सहायक मानना है तब तक उसको बंधन है। और पुण्य पाप मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्य भी मेरा सहायक नहीं है इस प्रकारकी पराश्रय रहित श्रद्धा ही बंधन से छूटनेका उपाय है।

अविकार और विकार

जहांपर गुण होता है वहींपर उसकी विपरीत अवस्था [विकार] हो सकती है। लकड़ी में क्रोध नहीं है क्योंकि उसमें क्षमा गुण नहीं है। जहां क्षमा गुण होता है वहां उसके विपरीत होने से क्रोध भी हो सकता है। क्योंकि जल में शीतल गुण है इसलिये वह अग्नि के निमित्तसे गरम भी होता है, फीर भी उष्णता उसका वास्तविक स्वभाव नहीं है, किन्तु शीतल गुण का विकार है अर्थात् गुणकी विपरीतता है। आत्मामें जो क्रोधादि विकारी भाव है, वे यह सूचित करते है कि उनके पीछे क्षमा इत्यादि गुण त्रिकाल पड़े हुये हैं। विकारीभाव अविकारी गुणकी विपरीत स्थिति है, जितना विकार दिखाई देता है वह सब गुणकी विपरीत दशा है।

शरीरादि पर है यह तो सभी कहते हैं, किन्तु वास्तवमें उस प्रकार मानते नहीं हैं। आत्मा में क्रोधादि विकार मालूम होते है, यदि आत्मा का अविकारी स्वभाव न हो तो विकार हो कहां से ? क्षमा गुण के बिना क्रोध हो नहीं सकता। जो क्रोधादि विकार मालूम होते हैं वह आत्मस्वभावका गुण नहीं है किन्तु क्षमा गुणकी विपरीतता है। गुणकी विपरीतता अथवा परसे लाभ मानना ही बंधन है। पुण्य पाप के संपूर्ण विकारीभाव आत्मा के अविकारीगुण की विपरीततासे होते हैं। उन विपरीत भावों से (पुण्य पाप से) आत्मा के लिये लाभ मानना यही बंधन है।

पराधीनताकी व्याख्या

बंधन का अर्थ है पराधीनता-दुःख। सर्व साधारण लोग भी कहते हैं कि:-" पराधीन सपने सुख नाहीं " इसका अर्थ लोग यों कहते हैं कि नौकरी इत्यादि पराधीनता हैं, किन्तु पराधीनता की यह व्याख्या ठीक नहीं है। यह तो स्थूल अर्थ है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध, निर्दोष, वीतराग स्वरूप है, यों न मानकर उसे शरीरादि अथवा रागद्वेषयुक्त मानना यही वास्तविक पराधीनता है और उसमें स्वप्नमें भी सुख नहीं है। संसार के लाभ में (धन, स्त्री आदि तथा पुण्यमें) ही लीन हो जाते है किन्तु उससे अंतिम योग लाभ में तो मात्र शून्य और पापका ढेर ही हैं। पुण्य-पाप के बंधन भाव और उससे रहित स्वाधीन स्वभाव का विभाग करना जहां तक नहीं आता वहां तक सुख की गंध स्वप्नमें भी नहीं आ सकती।

अनादिसे पुण्य पाप के विकारी भावको तथा शरीर, मन और वाणी को अपना मानकर बंधन भाव उपस्थित किया गया है। स्वतंत्र तत्त्वमें पराश्रय को लेकर सुख बुद्धि करलेना यही स्वाधीनता की हत्या है। सम्यग्ज्ञान

के विना न तो सीधा भाव समझा जा सकता है और न बंधन टाला जा सकता है। आत्मा स्वयं ज्ञानानंद शुद्ध स्वरूपी है उसे भूलकर जितना परका आधार मानता है उतना ही बंधन है-दुःख है।

पात्रता और ब्रह्मचर्य

तत्त्व समझने के लिये प्रारंभमें ब्रह्मचर्य का रंग होना चाहिये। श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि:—

" पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिकज्ञान ।
पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान् ॥ "

जबतक आत्मामें पात्रता नहीं आती तबतक विना पात्रता के वस्तु कैसे टिक सकती है? इसलिये सबसे पहले असंयोगी तत्त्वकी रुचि-श्रद्धा करने के लिये पात्रता (योग्यता) आवश्यक है। पुण्य-पाप से आत्माका कल्याण नहीं होता ऐसी प्रतीति-श्रद्धा हुये विना त्रिकालमें भी मुक्ति नहीं हो सकती। ऊपर कहा भी है कि:—" पात्र थवा सेवो सदा ब्रह्मचर्य मतिमान् " इसमें सिद्धांत क्या है? यही कि आत्माके विना परकी ओर विषय (संयोगीभाव) में जो तीव्र आसक्ति के द्वारा सुख मान रहा है, उसे पृथक् तत्त्व-असंयोगी स्वभाव ख्याल में नहीं आसकेगा।

पर संयोग के निमित्त से आत्मा में जो भाव होता है उस संयोगी भावको अपना स्वरूप मानना सो 'अब्रह्म' है। इसमें दो बातें आई। (१) शरीरादि सब पर है और (२) पुण्य पाप के भाव भी पर है। क्योंकी जबतक परके ऊपर लक्ष्य करके उसमें अपनापन मानता है तबतक पुण्य पाप के भाव होते हैं, किन्तु वह स्वभाव में नहीं है इसलिये उन्हें दूर किया जा सकता है। यदि वे पुण्य पापके भाव स्वभावमें होते तो कभी भी उन्हें दूर करके मुक्ति नहीं किया जा सकता।

जिसके पर संयोगकी (विषयकी) वृत्ति तीव्ररूपमें मौजूद है, अर्थात् जो परका प्रीतिके साथ संवेदन करता है उसे आत्मतत्त्वका असंयोगी स्वभाव समज में नहीं आयगा।

आत्मा पर से बिल्कुल भिन्न है, पर्यायमें कर्म के (परवस्तुके) निमित्त से आत्मा स्वयं विपरीत हो कर जो भाव करता है वह स्वभाव भाव नहीं है, वह संयोगी विकारीभाव है। उससे रहित असंयोगी की श्रद्धा के लिये पहले ब्रह्मचर्य का रंग होना चाहिये; इसलिये जिसके अब्रह्मचर्य है अर्थात् जिसने परवस्तु में सुखबुद्धि मान रखी है उसके परसे भिन्न शुद्ध आत्माकी श्रद्धा होने की पात्रता नहीं है।

ज्ञानी और अज्ञानी

यहांपर पात्र होने के लिये "ब्रह्मचर्य का रंग" होने की बात कही गइ है। इसका मतलब यह है कि सभी ज्ञानीयों को ज्ञान होते ही पर का समस्त संग छूट ही जाय ऐसा नहि किन्तु परपदार्थ के प्रति जो तीव्र आसक्ति है वह अंतरमें नहीं रहती। मेरा सुख आत्माके सिवाय किसी पर पदार्थ में—स्वर्गमें अथवा राजपद में कहीं भी नहीं है ऐसी प्रतीति होने पर रागद्वेष विषयक अल्प अस्थिरता हो सकती है किन्तु संयोगमें सुखबुद्धि नहीं होती, जब कि अज्ञानी को तो भीतर ही भीतर पर संयोग में सुख की तीव्र आसक्ति बनी रहती है, उसे पुण्यकी मिठास का अनुभव होता रहता है, उसमें ऐसी श्रद्धा की पात्रता नहीं है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य परसे अलग ही है।

सुख

आत्माके सिवाय पर पदार्थ का संयोगी सुख सच्चा सुख नहीं है वह तो केवल अपनी एक खोटी कल्पना है। जो सुख भगवान आत्मामें त्रिकाल परिपूर्ण भरा है उसे न माने और परमें (जहां कमी भी सुख नहीं हो सकता) सुख माने उसने अपने को नाचीज मान रखा है, उसे आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं है इसलिये उसने परमें सुख मान लिया है। किन्तु असंयोगी आत्मा की श्रद्धा के विना सच्चा सुख हो ही नहीं सकता।

समजण और त्याग

"आत्मा परसे भिन्न, निर्दोष, निर्लेप तत्त्व है तथा अपने गुणोंसे जीनेवाला स्वतंत्र है। पुण्य पापसे आत्मा को कोई लाभ नहीं" ऐसी यथार्थ मान्यता के विना त्यागी होकर यदि मर जाय तो भी कोई लाभ नहीं होता। और समझ लेनेके बाद तत्काल ही त्यागी हो जाय यह सबके लिये संभव नहीं है। आत्माका यथार्थ स्वरूप समझ लेनेके बाद भी पूर्व पुण्यके योग से ज्ञानी भी चक्रवर्ती होते है। भरत, श्रेणीक और भगवान ऋषभदेव इत्यादि राज्य के धनी राजा थे और उन्हें स्वरूप का भान भी था। संसारमें होने पर भी और अमुक रागद्वेष (पुरुषार्थकी कमजोरी के कारण) होने पर भी 'यह

मेरा स्वरूप नहीं, मैं चिदानंद निर्विकारी पूर्ण शुद्ध स्वरूप हूं' इस प्रकार शुद्धदृष्टिका उन्हें भान था। यदि कोई बिना भान के हजारों रानीयों और राजपाट को छोड़कर त्यागी (बाह्यमें) होजाय तो भी धर्म नहीं हो सकता। पुण्य पाप रहित स्वरूप की स्वतंत्र पहिचान के बिना वह सब बिना इकाई के शून्य के समान हैं। ज्ञानी जीव संसारमें राजपाट, स्त्री आदि के संयोगमें रहने पर भी उन सबको रोग समान ही मानता है। वह अपने स्वरूपकी पैनी दृष्टि से यह जानता है कि मेरे स्वभावका सुख मुझमें ही है शेष सब (पर संयोगीभाव) स्वतंत्रता का खून करने वाले हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टिमें बड़ा अंतर

इससे निश्चित हुआ कि 'जो समझते हैं वे सब छोड़कर चले ही जाते हैं अथवा जो छोड़ते हैं वे सब समझते ही हैं' ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि बाहर से ही नहीं देखना है किन्तु भीतरमें कितनी आसक्ति है इसका माप लेना है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की बाह्य क्रियाऐं एकसी दिखाई देती हैं किन्तु भीतर के आसक्ति भावमें बहुत बडा अंतर है। उदाहरण के रूपमें—बिल्ली अपने बच्चोंको मुंह से पकडती है और चुहे को भी मुंह से ही पकडती है; फिर भी उसे अपने बच्चे पर प्रेम होता है और वह चूहे को खा डालने के लिये पकडती है। इस प्रकार बाह्य में एकसा होने पर भी भीतर से "पकड पकडमें अंतर है।"

मेरा स्वरूप स्वतंत्र है, कोई भी परवस्तु मुझे लाभ या नुकसान करनेके लिये तीन लोक और तीनकालमें समर्थ नहीं है। ऐसी तत्त्व बुद्धि जिन्हें प्रगट हुई है उन ज्ञानियों में और जो परवस्तु से लाभ और हानि मानते हैं ऐसे अज्ञानियों में कितना बडा अंतर है, यह मुमुक्षुओंको ज्ञात हुये बिना नहीं रहता। सगी माता और धाई माँ दोनों पुत्र का पालन एक समान करती हैं। फिर भी अतरंगमें अतर है। एक का उस पर सच्चा प्रेम है जब कि दूसरी पैसे के लिये प्रेम करती है और समझती है कि "यह पुत्र मेरा नहीं है, यह मुझे कमाकर नहीं खिलायेगा"। उसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् धर्मबुद्धिवाले को अंतरंगदृष्टि से परवस्तु के प्रति इस प्रकार नकार भाव होता है कि "यह शरीरादि मेरे घरकी वस्तु नहीं है और पुण्य-पापके कोई भाव मेरे स्वभावसे नहीं आते, इसलिये वे मेरे नहीं है। किन्तु अज्ञानी जीव पर संयोग में लाभ और हानि मानता है अर्थात् वह परको अपना मान रहा है इसप्रकार दोनों की दृष्टिमें बहुत बडा अंतर है. कहा भी है कि "बालः पश्यति लिंगं"—देखने की दृष्टिमें अंतर है।

(१) बिल्कुल अज्ञानी मात्र वेश को ही देखता है।

(२) दूसरे नंबर का अज्ञानी बाह्य प्रवृत्ति (क्रिया) को देखता है और–

(३) ज्ञानी उसके अंतरंग भावको देखता है कि उसके भीतर कैसी बुद्धि है और स्वपरका विवेक कैसा है? वास्तवमें अंतरंग से ही ज्ञानी का माप होता है। ज्ञान होने के बाद परकी मालिकी का भाव ही उसकी दृष्टिसे उठ जाता है। आत्मा स्वाधीन वस्तु है, उसमें दृष्टि की विपरीतता से बंधन होता है।

मिथ्यात्वका लक्षण

प्रश्न–विपरीत मान्यता का लक्षण क्या है?

उत्तर–एक आत्मा के सिवा कोई भी परवस्तु मुझे लाभ या हानि करती है इसप्रकार की मान्यता ही परको निज मानने के कारण विपरीत मान्यता है। वह इसमें दो तत्त्वों को एक मानता है। एक तत्त्व को दूसरी वस्तु से लाभ और हानि मानता है। उसे असंयोगी तत्त्व की खबर ही नहीं है। जब तक उसे संयोग में मिठास मालूम होती है तब तक उसके मनमें असंयोगी आत्मा के स्वतंत्र सुख स्वभावकी बात जमती ही नहीं है, इसलिये श्रीमद् ने कहा है कि "पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान्"

ब्रह्मचर्य और आत्मभान

बिना समझ के मात्र शील के प्रति अपना ध्यान रखना शुभ भाव है किन्तु इस प्रकार बिना समझ के ब्रह्मचर्य तो जीवने अनंतबार पालन किया है। इसलिये यहांपर मात्र 'ब्रह्मचर्य' ही नहीं कहा है किन्तु साथ ही 'मतिमान्' शब्दका प्रयोग किया है। बिना मति के—परसे भिन्न आत्मा की श्रद्धा के बिना ब्रह्मचर्य पालन करके नवमें ग्रैवेयक तक हो आया किन्तु साथ ही 'परवस्तु सहायक है' ऐसी विपरीत मान्यता के कारण चौरासी के जन्म मरणमें से एक भी दूर नहीं हुआ. इसलिये यहां पर कहा है कि-परसे भिन्न स्वरूप के भान के साथ जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह मतिमान् है। और फिर उन्होंने कहा है कि—

'जे नव वाड विशुद्धथी धरे शियळ सुखदाइ।
भव तेनो लव पछी रहे तत्त्व वचन ये भाई'

इसमें भी विशुद्ध शब्द का प्रयोग किया है। विशुद्ध अर्थात् चैतन्य आत्मा; परसे भिन्न ज्ञाता-दृष्टा; उसके भान के साथ जो नव कोटिसे [मन बचन कायसे विषय सेवन नहि करता, मनवचन कायसे विषय सेवन नहीं कराता और मन वचन कायसे, कोई विषय सेवन करता हो तो उसके प्रति अनुमोदन नहीं करता इन दोनों प्रकारों से] ब्रह्मचर्य पालन करता है वह, 'नव वाड विशुद्ध थी' है। जो ऐसे शील का सेवन करता हैं उसके भव नहीं रह सकता है अथवा 'लव अर्थात् एकाध भव रहता है। सबसे पहेले इस पात्रताकी आवश्यकता है आत्मा तो त्रिकाल आनंदमूर्ति ही हैं, उसमें पुण्य पाप तो क्षणिक विकार हैं, उसे स्वभाव मान लेना यही तत्त्वको विपरीत मानना है और यही बंधका कारण है।

पर पदार्थ के साथ आत्मा के बंधन भावका निमित्त नैमित्तिक संबंध है। यदि आत्मा अपने ज्ञानस्वभावमें रहे तो बंधन भाव होता ही नहीं है और पराश्रय बुद्धिमें बंधन हुये विना रह ही नहीं सकता। बंधन भाव पराश्रयसे होता है, वह आत्माको लाभ नहीं कर सकता। शुभ भावसे यदि स्वर्ग या राज्यादिक का संयोग हो जाय तो वह आत्मा की चीज तो नहीं है, आत्मा की सुख शांति तो अंदर ही मौजूद है। उसकी रुचि विना-सत्य प्रतीति के विना अथवा स्व लक्ष्य के विना वह प्रगट नहीं हो सकती। बंधन नहि टूट सकता। जितनी हद तक एक आत्मा अपने लिये पर का आधार मानता है उतनी ही हद तक बंधन है।

पहले तो आत्मा में अनंतगुण स्वतंत्र रूपमें मौजूद है जो उन्हें नहीं समझ सकते ऐसे कुदेव, कुगुरु, और कुशास्त्र को जबतक माना जायगा तबतक मिथ्या श्रद्धा दूर नहीं हो सकती और जबतक सच्चे देव और सच्चे गुरुका निमित्त नहीं मिलता तबतक सच्ची श्रद्धा नही हो सकती। कोई देवी देवता मुझे संसारका (धन पुत्रादिका) कोई लाभ प्राप्त करवा देंगे, जिसकी ऐसी धारणा बनी हुई है उसे तो पुण्य के प्रति भी श्रद्धा नहीं है; अर्थात् उसकी दृष्टि बिलकुल विपरीत है। जहां देखो वहां उसका पैसे पर लक्ष है किन्तु पैसा और पुण्य का यहां क्या मूल्य है? पुण्य के एक कण मात्र की इच्छा करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को पुण्य की रुचि नहि होती जैसे एक म्यानमें दो तलवारें नही रह सकती उसी प्रकार स्वरूप की श्रद्धा और पुण्य की रुचि दोनों एक साथ नहीं रह सकती। फिरभी ज्ञानी जबतक वीतराग नहीं हो जाता तबतक उसके शुभ राग तो होता है किन्तु उसके अंतरमें रुचि नहीं होती। जिसके यह विवेक या श्रद्धा नहीं है कि जब पुण्यभाव को दूर करुंगा तभी वीतरागता प्राप्त होगी, उसके किंचित् मात्र भी धर्म प्रगट हुआ नहीं कहा जा सकता।

सच्ची श्रद्धामें सत्देव सद्गुरु और सत्शास्त्र को निमित्त कहा गया है उनका स्वरूप निम्न प्रकार हैः—

सत्देव—जिनके आत्मा की त्रिकाल परमात्म पूर्ण दशा प्रगट है वे सत्देव हैं।

सत्गुरु—जिनके आत्ममान के साथ निर्ग्रंथ दशा वर्तमान है वे सत्गुरु है।

सत्शास्त्र—प्रत्येक आत्माकी स्वाधीनता और अनंत गुणों की पूर्णता का जिस शास्त्रमें प्ररुपण हो वह सत् शास्त्र है।

धर्म—आत्मा का स्वरूप जैसा है उसी प्रकार यथार्थ जाने, मेरी आत्मा में ही मेरा लाभ है, सत्देव, गुरु, शास्त्र भी परवस्तु है, इस प्रकारकी प्रतीति का होना सो धर्म है।

सच्ची श्रद्धा होने के बाद क्या करना चाहिये; ऐसा संदेह नहीं रहता। मैं परसे भिन्न ज्ञाता, सहजात्म स्वरूप पुण्य पाप रहित हूं ऐसा इस प्रकारके भान सहित आत्म प्रतीति का होना सो सम्यग्दर्शन है। उसके प्रगट होने पर ही क्रमशः वीतरागता होती है।

अंतमें आचार्यदेव कहते है कि एक तत्त्वको दूसरा तत्त्व कुछ हानि या लाभ कर सकता है यों मान लेना ही पराधीनता है और स्वतंत्र स्वाधीन तत्त्व की श्रद्धा ही सुख का उपाय है।

—: भूल सुधार :—

'आत्मधर्म' अंक ६ पृष्ट ८४ कोलम २ लाइन १० में 'अरिहंत अशरीरी वीतराग है' ऐसा छपा है, यहां पर 'अरिहंत सशरीरी वीतराग है' ऐसा पढना चाहिये.

—आत्मधर्म के ग्राहकों को उपहार ग्रंथ—

मुक्ति का मार्ग

यह प्रगट करते हुए हर्ष होता है कि आत्मधर्म के ग्राहकों को फाल्गुन मासमें 'मुक्ति का मार्ग' नामक उपहार ग्रंथ भेंट दिया जायगा।

मुक्ति का मार्ग सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा 'सत्ता स्वरूप' ग्रंथ पर किये गए कुछ प्रवचनों का सार है। 'मुक्ति का मार्ग' पाकर आप आत्मविभोर हो जायेंगे। आपके अन्य साथी जो इस ग्रंथ को पाना चाहें उन्हें शीघ्र ही 'आत्मधर्म' का ग्राहक बनाकर आत्मधर्म कार्यालय-सोनगढ (काठियावाड) के पते पर सूचित करने की कृपा करें।............

धर्म संवाद : : १

: लेखक :
रामजीभाई माणेकचंद दोशी

कर्मचंद—मेरा छोटा भाई कहता है कि यदि हम चौवीसों घंटे न खायें न पियें तो यह धर्म कहलायेगा?

धर्मचंद—मेरे बडे भाई कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता; जैसा कि तुमने कहा है यदि वैसा हो और इसमें शुभ भाव रखा जाय तो उस शुभभाव से पुण्यबंध होगा धर्म नहीं होगा। क्योंकि धर्म तो अबंध है।

कर्मचंद—किन्तु छोटाभाई कहता है कि जैसा मैं कह चुका हूं यदि वैसा किया जाय तो वह तप होगा और तपसे निर्जरा होती है ऐसा शास्त्रों में कहा है। इसलिये उक्त कथन में तुम्हारे बडे भाईकी भूल तो नहीं हो रही है न?

धर्मचंद—मैंने अपने बड़े भाई के साथ इस संबंधमें खूब चर्चा की है। वे कहते हैं कि यह सच है कि तपसे निर्जरा होती है; किन्तु यह देखना चाहिये कि वह सम्यक् (यथार्थ) है या असम्यक्। तब मैंने विचार करके जवाब दिया कि वह सम्यक् तप ही होना चाहिये।

कर्मचंद—मेरा छोटाभाई कहता है कि भाई देखो हमें अन्न जल सब प्राप्त है और हम स्वयं ही अन्न जल को भोक्तव्य शक्ति होने पर भी अपने आप छोड़ रहे हैं इसलिये वह धर्म होगा और सम्यक् तप कहलायेगा। हां! जिसे खाने को नहीं मिलता और इसलिये जो पर-वश होकर अन्न जल नहीं ग्रहण करता उसके धर्म नहीं होगा।

धर्मचंद—मेरे बड़े भाई तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के ही तप होता है दूसरे के नहीं। जैसा कि तुम्हारे छोटे भाई कहते हैं उसे भगवानने सम्यक् तप नहीं कहा। उसकी व्याख्या तो "इच्छा निरोधस्तप" है और वह परिभाषा तुम्हारे बताये हुये तप के साथ संगत नहीं है इसलिये वह तप नहीं कहा जा सकता।

कर्मचंद—मेरा छोटा भाई कहता है कि देखो! इस तपमें भी रोटी खाने और पानी पीनेकी इच्छा रोकी जाती है इसलिये वह शास्त्रोक्त व्याख्या के अनुसार भी तो तप हुआ न?

धर्मचंद—मेरे बड़े भाई कहता है कि देखो उसमें 'रोटी न खानेकी' इच्छा की गई इसलिये इच्छा तो आही गई, इसलिये वह तप नहीं कहलायेगा। किन्तु यदि उसमें शुभभाव होगा तो पुण्य कहलायेगा। मुझे यही बात ठीक मालूम होती है।

कर्मचंद—मेरा छोटा भाई कहता है कि यह तो केवली के लिये शक्य हैं, हम जैसे अपूर्ण प्राणियों के लिये तो शकय नहीं हो सकता।

धर्मचंद—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि केवलीके तप होता ही नहीं है। तप तो साधक—अपूर्ण दशा में होता है।

कर्मचंद—तो फिर अपूर्ण दशामें शुभ और अशुभ दोनों इच्छायें कैसे रोकी जा सकती हैं? यह मेरी समझमें नहीं आया।

धर्मचंद—मैं अपने बड़े भाई से पूछकर और उसे ठीक समझकर बादमें आपको जवाब दूंगा। आज हमने सुंदर चर्चा की है। अब जब आप कहेंगे तब फिर मिलेंगे। यों कह कर दोनों अपने-अपने स्थानको चले गये।

प्रकरण दूसरा

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

कर्मचंद—क्यों भाई! अब हम तप संबंधी चर्चा और आगे करेंगे? आप अपने बडे भाईसे ठीक-ठीक समझ आये हो न?

धर्मचंद—हां! किन्तु इस चर्चा को आगे बढाने से पहले मैं आपसे कुछ जान लेना चाहता हूं! यदि आप कहें तो पूछूं?

कर्मचंद—बडी खुशीसे पूछिये भाई साहब!

धर्मचंद—आप तो बडे हैं तब फिर अपने छोटे भाईसे धर्म संबंधी बातें क्यों पूछा करते हैं?

कर्मचंद—मेरा छोटाभाई उत्साही युवक है। उसे धर्म-संगठनमें विश्वास है, उसे धर्मका ज्ञान है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, यद्यपि उसकी उमर छोटी है किन्तु वह बहुत ही समझदार है। उम्र और समझ का कोई संबध नहीं होता, इसलिये मैं उससे धर्मसंबंधी बातें पूछा करता हूं।

धर्मचंद—मैंने आपकी बातको समज लिया। अब हम अपनी चर्चा को आगे बढायें।

कर्मचंद—साधकदशामें शुभ और अशुभ इच्छा कैसे दूर होती होगी क्या आप मुझे यह बतायेंगे?

धर्मचंद—देखो भाई! भगवान ने कहा है कि "सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय" इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले यह जानना चाहिये कि प्रथम जीव स्वयं 'सिद्धसम' कैसे है? जो इसे समझेगा वह 'इच्छा रहित' होगा।

कर्मचंद—यह ठीक है किन्तु यह बात कुछ अधिक स्पष्ट होनी चाहिये, क्योंकि तुमने जो कहा है उसमें भी जीवको आत्म स्वरूप समझने की इच्छा करने की बात तो आती ही है।

धर्मचंद—भाई सुनो! इच्छा रहित होने की विधि आपसे कहता हूं। वह विधि यों है कि जब जीव आत्म स्वरूप समझने के लिये पुरुषार्थ करता है तब पहले उसके राग (इच्छा) होती है। किन्तु पहले जीव को यह निश्चित करना चाहिये कि 'आत्मस्वरूप चेतनामय है और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है' और यह निश्चय करते हुये रागमिश्रित विचार आता है किन्तु वह राग मेरा नहीं है। इस प्रकार की प्रतीति होने से उतने अंशमें राग कम हो जाता है।

कर्मचंद—यह ठीक है किन्तु क्या इतना निश्चय करनेसे काम चल सकता है कि इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है?

धर्मचंद—इतने से काम नहीं चल सकता, क्योंकि जब तक अपना 'हकार' स्वरूप नहीं समझा जायगा तबतक 'नकार' स्वरूप भी नहीं समझा जा सकता। इसी बात को प्रकारांतर से यों भी कह सकते हैं कि जब तक जीव अपने 'अस्ति' स्वरूप को नहीं जानता तब तक वह 'नास्ति' स्वरूप को भी यथार्थ रूपमें नहीं जान सकता। यथार्थ जानलेने पर 'अस्ति नास्ति' बराबर समझा जा सकता है। जब तक दोनों पहलू समझ में नहीं आजाते तबतक अपना अस्तित्व बराबर नहीं समझा जा सकता।

कर्मचंद—इस बात को मैं भी स्वीकार करता हूं, किन्तु इसमें 'इच्छा निरोध' कैसे आगया?

धर्मचंद—देखिये, वह इस तरह आगया। जिसने अपना अस्तित्व निश्चित किया उसने यह निश्चित किया कि मैं निजरूपसे हूं और पररूपसे नहीं हूं। जीवका स्वभाव ही चैतन्य स्वभाव है, जब उसकी समझमें यह आजाता है तब वह स्वयं पररूपमें नहीं है अर्थात् जड़-रूपमें नहीं है,-'इच्छा' रूपमें नहीं है यह भी निश्चित कर लिया।.......

कर्मचंद—आपकी यह बात ठीक है, किन्तु उसमें भी इच्छा मौजूद है।

धर्मचंद—भाई! आपका प्रश्न ठीक है किन्तु मैंने अभी अपना कथन पूरा नहीं किया है। आपको यह शंका हुई और प्रश्न पूछा, यह ठीक किया। किन्तु मेरे कथन को यदि क्रमशः सुनेंगे तो उसमें सब स्पष्टीकरण हो जायगा। इसलिये क्या मैं अब अपनी बात आगे कहूं?

कर्मचंद—भाई! अभी तो बहुत देर होगई है और मुझे अन्यत्र जाना है, इसलिये फिर कभी मिलेंगे।

धर्मचंद—बडी खुशी की बात है। अब फिर हम अनुकूलता होने पर मिलेंगे।

[दोनों अपने अपने स्थान को चले गये]

प्रकरण तीसरा

[दोनों मित्र पुनः मिलते हैं]

कर्मचंद—भाई अब हम अपने उस सम्यक् तप की चर्चा को चलाएं।

धर्मचंद—बहुत अच्छा! मैं जो कहूं उसे बराबर ध्यान में रखियेगा। मैंने आपसे पहले कहा था कि जीव

को अपना 'अस्ति' और 'नास्ति' स्वरूप पहले निश्चित कर लेना चाहिये। और अपने अस्ति स्वरूपका निश्चय करते हुये यह जान लेना चाहिये कि 'इच्छा' मेरा स्वरूप नहीं है, वह क्षणिक है, और वह दूर की जा सकती है। इस प्रकार राग सहित प्रथम विचारमें निश्चित करने के बाद जीव जब अपने लक्ष्यको परसे हटाकर अपने त्रिकालिक 'अस्ति' स्वरूपकी ओर लक्ष्य करता है तब उसे आत्म स्वरूपकी प्रतीति प्रगट होती है। और मैं त्रिकालिक शुद्ध अखंड चेतन स्वरूप हूं, ऐसी प्रतीति होने पर तथा राग (इच्छा) होने पर भी उस परका स्वामित्व अभिप्राय में से निकल जाता है। क्यों समझमें आया?

कर्मचंद—हां! विचार करने पर तो यह बात समझ में आती है और मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि यह बात सच है। इसलिये अब आप इसे और आगे कहिये।

धर्मचंद—उपर्युक्त कथन के अनुसार जिस जीवको यथार्थ प्रतीति होती है, वह जीव अपनी प्रतीति को बल पूर्वक दुहराया करता है तब उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के गृद्धिपना नहीं होता और वह हमेशा परावलम्बन को दूर करने के लिये तत्पर रहता है। इसलिये वह शक्ति के अनुसार तप करनेका निश्चय करके २४ घंटे तक आहार इत्यादिक नहीं लेने की प्रतिज्ञा करता है, उस समय उसकी मान्यता निम्न प्रकार होती है।

(१) आहार नहीं लेने का जो रागमिश्रित विचार होता है वह शुभ भाव है। और उसका फल पुण्य बंध है। मैं उसका स्वामी नहीं हूं।

(२) अन्न जल पर वस्तु है इसलिये उसके त्याग करनेका मेरा अधिकार नहीं है। किन्तु जब सम्यग्दृष्टि पर वस्तु परसे आलंबन छोड़नेका निश्चय करता है तब पुद्गल परावर्तन के नियमानुसार ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है कि उसके उतने समय तक आहार पानी के साथ संयोग नहीं होता। अन्नजलका संयोग नहीं होने से न तो धर्म होता है और न बंध होता है।

(३) राग के अस्वामित्वका जो मेरा अभिप्राय है वह दृढ़ होता है। और इसलिये जो आहार इत्यादि लेने का अशुभराग सच्चे अभिप्राय पूर्वक दूर किया जाता है वह धर्मका एक अंश है। अर्थात् वह वीतरागता का अंश है और आहार नहीं लेनेके शुभ विकल्प का वहां स्वामित्व नहीं, क्यों कि वह अंश है इसलिये उतनी हद तक शुभाशुभ इच्छा का निरोध हुआ और वह भाव सम्यक् तप है।

कर्मचंद—आपने जो कहा है उसके लिये गंभीर मनन की आवश्यकता है। मुझे मनन करने का अभ्यास है इसलिये मैं बराबर उसका मनन करूंगा। साथ ही मैं परीक्षा करके यह निश्चय कर लेना चाहता हूं कि यह बात ठीक है या नहीं।

धर्मचंद—मैं आपकी इस बातका अनुमोदन करता हूं। क्योंकि भगवान की भी ऐसी ही आज्ञा है कि यदि किसी तत्त्वकी बातका प्रतिपादन किया जाय तो उसका संपूर्ण पहलुओंसे विचार करके, परीक्षा करके निर्णय करे, तभी जैन धर्मका यथार्थ स्वरूप समझमें आता है। इसलिये आप बराबर विचार करके अपने निर्णयसे सूचित करना। अब हम फिर मिलेंगे।

[यों कह कर दोनों अपने अपने स्थान को चले गये]

प्रकरण चौथा

कर्मचंद—भाई! आपने जो कहा था उस पर मैंने खूब विचार किया है, वह मुझे ठीक मालूम होता है। सर्व प्रकारकी इच्छा का स्वामित्व अभिप्रायमें से निकल जाने के कारण केवल चारित्रको सदोष करने वाली इच्छा रह गई थी, उसमें अन्न जल नहीं लेने की प्रतिज्ञा के द्वारा जो शुभ विकल्प हुआ उसका जो 'नकार' होता है और जो आहार लेने के अशुभ भाव को रोका गया उससे शुभाशुभ इच्छाका आंशिक निरोध हुआ और उससे सम्यक्तप हुआ, इस प्रकार मैं बराबर समझ गया हूं। फिर भी एक प्रश्न उपस्थित होता है:—

तो फिर शास्त्रमें बारह प्रकारका तप क्यों कहा गया है?

धर्मचंद—शास्त्रका कथन उपादान और निमित्त दो अपेक्षाओंको लेकर होता है। निमित्तों को भिन्न भिन्न होने से निमित्तों में भेद हो जाता है किन्तु उपादान तो आत्माका शुद्ध भाव है इसलिये उसमें भेद नहीं हो सकता। निमित्तकी अपेक्षा से यह बारह भेद व्यवहार शास्त्रोंमें बताये गये हैं।

कर्मचंद—तो फिर निश्चय शास्त्रमें सम्यक् तपका स्वरूप क्या कहा गया है? यह बतायेंगे।

धर्मचंद—श्री प्रवचनसारमें उसकी व्याख्या निम्न प्रकार की गई है:—

" स्वरूप विश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रलपनाच्चतपः "

अर्थ—स्वरूप की स्थिरतारूप निस्तरंग (तरंग हीन, निर्विकल्प) चैतन्यका प्रलपन (देदीप्यमान होना) सो तप है। अर्थात् वही सच्चा तप है।

इतना ध्यानमें रखना कि सम्यक्‌दृष्टिके उपादान और निमित्त के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है।

कर्मचंद—हम जब स्वयं ही आहार का त्याग करदेंगे तो उससे आत्मस्वरूप न जानने पर निर्जरा क्यों न होगी?

धर्मचंद—इस संबंधमें हम फिर जब मिलेंगे तब विशेष चर्चा करेंगे। (यों कह दोनों अपने स्थानको चले गये)

सुवर्णपुरीमें मांगलिक दिवस
फाल्गुन शुक्ला द्वितीया

तीर्थधाम श्री सोनगढमें सां १९९७ की फाल्गुन शुक्ला द्विसीयाको सनातन जैनमंदिरमें विरहमान तीर्थंकर श्री सीमंधर भगवान की भाववाहिनी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा परम पूज्य श्री सद्‌गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के पवित्र करकमलों द्वारा की गई थी। वह प्रतिष्ठा महोत्सव एक सप्ताह तक हुआ था, और उसमें १५०० मुमुक्षु भाई बहिनोंने भाग लिया था।

उस मंदिरमें मूल नायक भगवान श्री सीमंधर स्वामी है। उनके दोनों ओर भगवान शान्तिनाथ तथा भगवान पद्मप्रभ स्वामी की भावपूर्ण प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की गई है। मंदिरके ऊपरी भागमें भगवान श्री नेमिनाथ प्रभुकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई है।

परमपूज्य श्री सद्‌गुरुदेव सां १९९५ में चातुर्मास के लिये राजकोट पधारे थे, उस समय आप १० महीने तक वहां रहे थे। तब सद्‌गुरुदेवके भक्त श्री. नानालाल कालिदास, श्री. बेचरदास कालिदास तथा श्री मोहनलाल कालिदास ने मंदिर बनवाने की अपनी इच्छा प्रगट की। और उस भावनाके परिणाम स्वरूप उक्त मंदिरकी प्रतिष्ठा हुई। उस मंदिरमें सभी मुमुक्षु भाई बहिन भगवानकी पूजा-आरती दर्शन और भक्ति का लाभ लेते हैं। इस प्रकार यह एक महान धर्मप्रभावना का कार्य सिद्ध हुआ है।

जब सद्‌गुरुदेव श्री कानजी स्वामी सोनगढ में विराजमान होते हैं तब शामको व्याख्यान के बाद सदा मंदिरमें नियमित पौन घंटा तक भक्ति का कार्य उनकी उपस्थिति में होता है।

प्रति वर्ष प्रतिष्ठा के मंगल दिनका महोत्सव होता है। उस समय बाहर से बहुत बडी संख्यामें मुमुक्षु भाई बहिन महोत्सव में भाग लेने आते हैं।

भगवान सीमंधर स्वामीका मंदिर शत्रुंजय क्षेत्र पर बहुत वर्ष पूर्व बना था, तथा भारत में और भी अनेक स्थानों पर है। जिन्हें यह ज्ञात नहीं है उनके मनमें यह प्रश्न उठा करता है कि भगवान सीमंधर स्वामीकी प्रतिमाजी क्यों विराजमान की गई हैं। किन्तु जो वास्तविकताको जानते है वे यह भी जानते हैं कि यह स्थापना केवल धर्मानुराग का निमित्त है.

इस वर्ष भी फाल्गुन शुक्ला द्वितीयाको वार्षिक प्रतिष्ठा महोत्सव सोनगढ में होगा।

सत् देव, सत्शास्त्र और सत् गुरुका यथार्थ स्वरूप प्ररूपक
सत् पुरुष श्री कानजी स्वामीकी जय हो।

॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

वर्ष : १ | अंक : ८

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

भा
२४

आत्मा स्वयं कर्ता है

आत्मा अपने ही भावों का ग्रहण करने वाला या छोड़ने वाला है। जड़ कर्म के आत्मा न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है। जड़ कर्म की अवस्था जड़ के कारण होती हैं; क्यों कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और प्रत्येक वस्तु के गुण-पर्याय दूसरी वस्तु से भिन्न है, इसलिये जड़की समस्त अवस्थाओंका कर्ता जड़ वस्तु और आत्माकी अवस्थाओंका कर्ता स्वयं आत्मा ही है।

× × ×

तू अपनी भूल से लुटा है, न कि कर्मों ने तुझे लूटा है! तू ही (अज्ञान भावसे) अशुद्ध भावको उत्पन्न करके अपने स्वरूप के खजाने को लुटा देने वाला है। और उस अशुद्ध भावको दूर करके निर्मल स्वरूपको प्रगट करने वाला भी तू ही है। कर्म तेरा कुछ नहीं कर सकते। निश्चय से तू लुटा ही नहीं है; तू शुद्ध ही है। स्वरूपमें प्रवृत्ति और पर द्रव्य से निवृत्ति यह आत्मा का स्वभाव है।

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पांच आना

❀ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ काठियावाड ❀

ज्ञानाभ्यास की आवश्यक्ता

ज्ञानपरिणाम से रहित पुरुष अपने चित्त (संकल्प विकल्प) का निग्रह करने के लिये समर्थ नहीं होता। ज्ञान मनको जीतने में उत्तम साधन है, उसके विना मन अन्य उपायसे नहीं जीता जा सकता। जैसे मत्त हाथी को अंकुश वशमें कर लेता है वैसे उन्मत्त हुये चित्तरूपी हाथी को वशमें करने के लिये ज्ञान अंकुश के समान है। ज्ञानसे ही मन जीता जाता है। उसके चार दृष्टांत यहां दिये जाते हैं।

ज्ञानकी और पूर्ण उपयोग लगाने से यह संकल्प रूपी पिशाच पुरुष के आधीन हो जाता है। वह संकल्प पिशाच की भांति अयोग्य कार्य करता है, परन्तु पुरुष ज्ञानोपयोग से उस संकल्प का नाशकर शुद्ध परिणामों में प्रवृत्त हो सकता है। इस लिये हे शिष्य ! ज्ञानाराधना करके तू शुद्ध परिणामों में तत्पर हो।

जैसे योग्य विधिपूर्वक सिद्ध किया गया मंत्र-प्रयोग कृष्ण सर्प को वश में कर लेता है उसी प्रकार यह संकल्परूपी कृष्ण सर्प भी भलीभांति प्रयुक्त ज्ञान परिणाम के द्वारा वश किया जा सकता है।

जैसे जंगलमें स्वच्छन्दता पूर्वक भ्रमण करता हुआ मत्त हाथी मजबूत सांकल से बांधा जा सकता है उसी प्रकार यह मनरूपी हाथी ज्ञानरूपी सांकल से बांधा जा सकता है।

बन्दर एक क्षण भरके लिये भी एक स्थानमें स्थिर अर्थात् निर्विकार नहीं रह सकता उसी प्रकार मन भी विषयों के विना स्थिर नहीं रह सकता; वह सदा विषयों में विचरता रहता है, अर्थात् वह सदा शब्द, रस, स्पर्श इत्यादि विषयों को निमित्त बनाके रागद्वेष युक्त होता ही रहता है। सतत ज्ञानाभ्यास न होने से उसकी सतत रागद्वेष में परिणति हो रही है। किन्तु ज्ञानाभ्यास करने से मध्यस्थ भाव उत्पन्न होता है।

मनोमर्कट को वश में करने का उपाय-ज्ञान

इस मनोमर्कट को दिनरात जिनागमके अभ्यास में तत्पर करना चाहिये; जिससे वह रागद्वेषादि विकारको छोड सके। मनोमर्कट का वश में करने के लिये सदा ज्ञानाभ्यास की आवश्यक्ता है।

ज्ञानाभ्यास के विना तत्त्व नहीं जाना जा सकता

विशुद्ध परिणाम युक्त जीवके हृदय में जो ज्ञान रूपी दीपक सतत् प्रकाशमान रहता है उसे जिनेन्द्रोक्त आगम में नष्ट होने का भय नहीं रहेगा। जीवादिक पदार्थों का जैन शास्त्रो में जो नयाधार से अनेक अपेक्षाओं को लेकर स्वरूप वर्णन किया है उसका सतत् ज्ञानाभ्यास करने से विशेष स्पष्टीकरण होगा। किन्तु जिसे ज्ञानाभ्यास नहीं है उसे जिनागमका रहस्य ज्ञात नहीं हो सकेगा।

ज्ञान उत्कृष्ट प्रकाश है

जो ज्ञानरूपी प्रकाश है वह उत्कृष्ट प्रकाश है। उसमें यह विशेषता है कि वह किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता। हवा इत्यादि पदार्थ दीपक का नाश कर देता हैं किन्तु ज्ञान दीपक को नष्ट करनेवाला कोई भी पदार्थ विश्व में नहीं हैं। यद्यपि सूर्यका प्रकाश अत्यन्त प्रखर होता है फिरभी वह अल्प क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु यह ज्ञानप्रदीप समस्त जगत् को प्रकाशित करता है। जगत् में ज्ञान समान दूसरा कोई प्रकाश नहीं है।

विना ज्ञानके चारित्र-तप की इच्छा व्यर्थ है

जो ज्ञानरूपी दीपक के विना मोक्षके उपाय-भूत चारित्र और तप की प्राप्ति करने की इच्छा करता है उसे उस अंध मनुष्य की भांति समझना चाहिये जो घोर अंधकार में वृथा तृणादि से व्याप्त दुर्गम प्रदेश में प्रवेश करनेका असफल प्रयत्न कर रहा है। जैसे जीवों से भरे हुये प्रदेश में हिंसादि का निवारण शक्य नहीं है उसी प्रकार ज्ञानके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं की जा सकती।

मुद्रक -चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय: दासकुंज, मोटा आंकडिया-काठियावाड: ता. २५-१-४६.
प्रकाशक:-जमनादास माणेकचंद रवाणी, मोटाआंकडिया-काठियावाड.

❀ शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र ❀

वर्ष : १
अंक : ८

आत्मधर्म

माघ
२४७२

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—संसारमें किसका राज्य चल रहा है?

उत्तर—अपने स्वरूपके भ्रम का।

प्रश्न—संसारमें बहुमति किसकी है?

उत्तर—स्वरूपके भ्रमवाले जीवों की।

प्रश्न—उस भ्रम में अगुआ कौन है?

उत्तर—द्रव्यलिंगीमुनि; उसे संसार तत्त्व कहा जाता है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी क्या परजीवकी हिंसा करता है?

उत्तर—बिलकुल नहीं; वह छह काय के जीवों की दया पालता है, और निरतिचार अहिंसा व्रत का पालन करता है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगीमुनि क्या असत्य बोलता है? चोरी करता है? मैथुन सेवन करता है? और परिग्रह रखता है?

उत्तर—बिलकुल नहीं; वह सभी व्रतोंका निरतिचार पालन करता है।

प्रश्न—इतना करने पर भी धर्म क्यों नहीं होता?

उत्तर—यह तो स्पष्ट ही है कि स्वरूपका भ्रम होने से धर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न—तब क्या वह जीव दया का पालन नहीं करे, असत्य बोले, चोरी करे, अब्रह्मचर्यका सेवन करे और खूब परिग्रह रखे तो धर्म होगा?

उत्तर—आपका प्रश्न अधैर्य और टेढ़ेपन (विपरीतता) का द्योतक है। आपने जो कहा वह तो सब स्पष्ट पाप है ही; उससे धर्म हो ही नहीं सकता, यह आर्यावर्त्तके सभी आबाल-वृद्ध जानते हैं

प्रश्न—तो फिर धर्म कब होता है?

उत्तर—आत्मस्वरूपकी यथार्थताको पहचानना और भ्रमको दूर करना, सो धर्मका प्रारंभ है; उस स्वरूपमें स्थिर रहना सो साधक दशा है, और सम्पूर्ण स्थिरता होना सो धर्मकी पूर्णता है।

प्रश्न—द्रव्यलिंगीमुनि भव्य होता है या अभव्य?

उत्तर—भव्य भी होता है और अभव्य भी।

प्रश्न—क्या कभी यह जीव पहले द्रव्यलिंगी मुनि हुआ होगा?

उत्तर—हाँ, अनन्तबार।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी मुनि को संसार तत्त्व कहा जाता है, क्या इसका कोई प्रमाण है?

उत्तर—हाँ, श्री प्रवचनसारमें पृष्ठ ३६२ पर इस प्रकार कहा है—"अब इन ५ में से प्रथम ही संसारतत्त्व को कहते हैं—

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये।
अत्यन्तफल समृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् ॥७१॥

अर्थ—जो पुरुष जिनमतमें द्रव्यलिंग अवस्था धारण कर तिष्ठते भी हैं, लेकिन अन्यथा पदार्थोका स्वरूप ग्रहण करते हुये जो पदार्थ हमने जानलिये हैं, ये ही वस्तुका स्वरूप हैं, ऐसा मिथ्यापना मानकर निश्चय कर बैठे हैं। ऐसे वे श्रमणाभासमुनि इस वर्तमान कालसे आगे अनन्त भ्रमणरूपी फलसे पूर्ण अनन्त काल पर्यन्त भटकते हैं।

भावार्थ—ये अज्ञानी मुनि मिथ्याबुद्धि से पदार्थका श्रद्धान नहीं करते हैं, अन्यकी अन्य कल्पना करते हैं और सदा महामोहमल्ल (मिथ्यादर्शन) से चित्तकी मलिनता के कारण अविवेकी हैं। यद्यपि द्रव्यलिंग को धारण कर रहे हैं। तो भी परमार्थ मुनिपने को प्राप्त नहीं हुये है और जो मुनिके समान मालूम होते हैं वे अनन्तकाल तक, अनन्त परावर्तन कर भयानक कर्मफलको भोगते हुये भटकते हैं। इसलिये ऐसे श्रमणाभास मुनिको संसार तत्त्व जानना चाहिये; दूसरा कोई संसार नहीं है। जो जीव मिथ्याबुद्धि युक्त हैं वे ही जीव संसार हैं।

प्रश्न—बाह्यलिंग से कया मुनित्व या ज्ञानीपन निश्चित हो सकता है?

उत्तर—कदापि नहीं हो सकता। यह ऊपर कहा जा चुका है। ★

शाश्वत सुख चाहने वाले को कैसा ज्ञान होता है ?

निर्जरा अधिकार चल रहा है अर्थात् सच्चा सुख कैसे मिलता है? सच्चे सुख का उपाय करनेवाले के ज्ञान और श्रद्धा केसी होती है? और जिसे सांसारिक सुख अच्छा लगता है, उसका ज्ञान और मान्यता कैसी होती है? जिसे संसारका–इंद्रियादिका सुख अच्छा लगता है उसे चोरासी के दुःख रुचते हैं और जिसे संसार सुख की रुचि नहीं है किन्तु स्वभावका वास्तविक सुख अच्छा लगता है उसकी पहिचान और ज्ञान कैसा होता है? उसका पहले निर्णय होना चाहिये। क्योंकि किस सुखकी रुचि है? यह जानना चाहिये।

पुण्यभावकी रुचि नहीं होती

हमें संसारका सुख नहीं चाहिये। हम सच्चा सुख पानेके लिये त्यागी हुये हैं, यों बहुत से लोग मान बैठे हैं। किन्तु वास्तवमें सच्चे सुखकी रुचि है या नहीं इसका लक्षण पहले समझ लेना होगा। जिन भावों से संसार सुख मिलता है इन भावोंकी रुचि भी सच्चा सुख चाहने वालोंके नहीं होती। समस्त राज्यादिक संसारसुख के निमित्त हैं, उसकी भी रुचि नहीं होती, जिसने जड़में सुख नहीं माना हो उसकी मान्यता कैसी होगी? जिस पुण्यभाव से स्वर्गादिक तथा यह स्त्री और रुपया पैसा आदि मिलता है उस पुण्य भावकी भी रुचि नहीं होती, जिसके पुण्यकी रुचि है उसके संसारकी रुचि है।

जड़ में कहीं भी सच्चा सुख नहीं है, अन्यत्र कहीं सुख है तो वह मात्र आत्मामें ही है; इसलिये जिसे सुख की प्रीति है उसे आत्मा की रुचि भी होना चाहिये। पुद्गलमें कहीं भी आत्माका सुख नहीं है, मात्र विपरीत मान्यता से ही उसमें सुख मान लिया गया है। शरीर, मकान, स्त्री, पैसा इत्यादि में सच्चा सुख नहीं है, आत्मा का सुख परमें हो ही नहीं सकता। फिर भी परमें सुख मान लिया है, यही मान्यता की भूल है। सच्ची बात उसकी समज में ही न आई। यदि सच्ची बात समज ली जाय तो संसारकी अनुकूलतामें भी सुख बुद्धि नहीं हो। जिस कारण से संसार की अनुकूलता प्राप्त होती है वह पुण्य है। पाप भावसे प्रतिकूलता और पुण्य भावसे अनुकूलता प्राप्त होती है। जिसे संसार की अनुकूलता की रुचि है उसे पुण्य की रुचि है और जिसे पुण्य की रुचि है उसे संसार की रुचि है। जिसे आत्मा के ज्ञान और श्रद्धा

✻ संसार और मोक्ष निर्माता

की रुचि है उसे आत्मा की रुचि है, और उसी को सच्चे सुख की रुचि है।

पहले पुण्य की रुचि है या आत्मा की, इसे जाने विना कोई उपाय नहीं होगा। यदि पुण्य भाव की रुचि होगी तो समजना चाहिये की उसके ज्ञान और श्रद्धा में भूल है। जिसे आत्मा की रुचि होगी उसे पुण्य की रुचि नहीं होगी।

धर्मी की रुचि, ज्ञान और श्रद्धा कैसे होती है ?

अब धर्मी की रुचि, ज्ञान और श्रद्धा कैसी होती है तथा संसार का सुख रुचता है अर्थात् पुण्य की रुचि है, उसकी श्रद्धा और दृष्टि कैसी होती है यह निम्न लिखीत चार गाथाओं द्वारा बताया जाता है—

गुजराती हरीगीत

ज्यम जगतमां को पुरुष वृत्ति निमित्त सेवे भूपने।
तो भूप पण सुख जनक विध विध भोग आपे पुरुपने ॥२२४॥
त्यम जीव पुरुप पण कर्म रजनूं सुख अरथ सेवन करे,
तो कर्म पण सुख जनक विध विध भोग आपे जीवने ॥२२५॥
वळी तेज नर ज्यम वृत्ति-अरथे भूपने सेवे नहीं
तो भूप पण सुख जनक विध विध भोग ने आपे नहीं ॥२२६॥
सुदृष्टिने त्यम विषय अरथे कर्म रज सेवन नथी
तो कर्म पण सुख जनक विध विध भोगने देतां नथी ॥२२७॥

दृष्टांत–इस जगतमें कोई पुरुप आजीविका के लिये राजाकी सेवा करता है उसकी यह दृष्टि रहती है कि जब कोई अच्छा अवसर आयगा तब जीमनवारमें मिष्ठ भोजन के थाल मिलेंगे इसलिये वह राजाकी सेवा करता है। राजा भी उसे सुखदाई अनेक प्रकारका भोग देता है (किन्तु यहां कहनेका तात्पर्य यह है कि यह सब ठीक नहीं है)।

इसी प्रकार उस पुरुषकी भांति यदि कोई आत्मा सुख बुद्धि से पुण्य पापका सेवन करता है और यह मानता है कि इससे मुझे सुख मिलेगा तो इसका मतलब यह हुआ कि उसे पौद्गलिक सुख की रुचि है–पुण्य की रुचि है। पुण्यकी रुचिवाला त्यागी हो या साधु हो किन्तु 'यह क्रिया रागयुक्त है या राग विहीन, दया आदिक शुभरागकी है या हिंसा आदिक तीव्र रागकी–पापकी है, उस राग की क्रिया से आत्मा को लाभ नहीं हो सकता।'

भावों का विश्लेषण

श्री समयसार, निर्जरा अधिकार, गाथा २२४ से २२७ पर परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामीका

प्रवचन

जड़के सुख चाहने वालों के लक्षण

जिसे पांच इन्द्रियोंके—जड़के नाशवान सुख रुचते हैं उसका लक्षण क्या है?

आत्माका सुख जड़में नहीं है, आत्मामें जो शुभराग होता है वह यदि रुचता है तो समझना चाहिये कि उसे संसार-सुखकी, जड़ सुखकी रुचि है। फिर भले ही वह त्यागी कहलाता हो या मुनि। और जो गृहस्थ दशा में रह रहा है फिर भी 'मेरा स्वभाव पुण्य पाप के विकारी भावों से रहित अविकारी है' इस प्रकार आत्म भान सहित जिसे पुण्य पापके भावकी रुचि नहीं है वहां समझना चाहिये कि उसे संसार सुखकी–पौद्गलिक सुखकी रुचि नहीं है। और उसे आत्माकी रुचि है।

खवास राजाकी सेवा करता है उसमें उसे निरंतर यही रुचि बनी रहती है कि 'राजा कैसे खुश हो' उसके निस्पृह रहनेका भाव ही नहीं है, उसकी रुचि ही राजा को खुश करने की है, इसी प्रकार जीवको बाह्य क्रिया करते हुये जो रागका विकल्प उठता है उसे जो ठीक मानता है, उसे सर्व प्रथम सांसारिक सुख की इच्छा है और यही उसकी रुचि है। जीव जो पुण्य या पाप का रागभाव करता है उसमें पाप तो दुःखका कारण है ही, उसकी तो यहां बात ही नहीं है, उसकी रुचि तो हो ही नहीं सकती किन्तु जो शुभ राग की रुचि पूर्वक कर्म रज का सेवन करता है और वे कर्म भी उसे सुख उत्पन्न करने वाले भोगोपभोग देते हैं अर्थात् राग की क्रिया करते समय जिसे शुभराग की रुचि है, उस शुभ राग के फल में भविष्य में उसे अनुकूल सामग्री मिलेगी और उसे राग की रुचि है इसलिये वह राग रंजित हो कर सामग्रियों को भोगेगा और पाप बंध करके नरक में जायगा।

राग की व्याख्या और उसका फल

ज्ञानमूर्ति आत्मा में कुछ करने कराने का जो भाव है वह राग है उसमें से अशुभ राग तो छोड़ने योग्य है ही किन्तु क्रिया के समय जिसने शुभ राग को अच्छा माना है उसे भविष्यमें ऐसे पौद्गलिक संयोग मिलेंगे कि वह उन्हें राग पूर्वक भोगकर नरकमें जायगा। इस प्रकार जिसे राग रहित आत्मा की श्रद्धा या रुचि नहीं है वह जो कुछ भी व्रत, तप, दान, भक्ति, पूजा आदि करता है उसमें मंदकषाय से जो पुण्य होता है वह उस पुण्य को संसार-सुख के लिये सेवन करता है। अर्थात् उसके पुण्य की रुचि है। किन्तु, पुण्य का फल= संसार सुख भोगने का जो भाव है वह तो पाप ही है। पौद्गलिक जड़ की जो नाशवान–क्षणिकसुख रुचि है अर्थात् पुण्यभाव की जो रुचि है वह जड़ की रुचि है; पुण्य पाप रहित आत्माकी रुचि नहीं।

खवास का दृष्टांत और उसका सिद्धांत

जैसे खवास राजा की सेवा करता है किन्तु वह उसमें निस्पृह नहीं है किन्तु उसे मिष्टान्न भोजन की रुचि है, इसलिये वह सेवा करता है। इस प्रकार जिसे पुण्य की रुचि है उसे पुण्य पाप रहित ज्ञान मूर्ति आत्मा की रुचि नहीं है। क्योंकि पुण्य पाप की समस्त क्रियायें आत्मा के लिये बंधन हैं। जिसे आत्मा के पवित्र ज्ञान स्वभाव का भान नहीं है वह उसमें पुण्य का भाव सुख मानकर करता है। जिस भावसे पुण्यबंध होता है यदि उसे कोई अच्छा माने तो समझना चाहिये उसे जड़ की रुचि है, आत्मा की नहीं!

जिसे पुण्य की रुचि है उसे जड़ की रुचि है

पचास पचास वर्ष तक खाया पिया और भोग भोगे, किन्तु उनसे सुख नहीं मिला, संसार के भोगों में सुख है ही नहीं; इस प्रकार लोग कहते तो हैं, किन्तु यदि उस जड़ के सुख की रुचि वास्तव में दूर हो गई हो तो जिस भाव से वह संसार सुख की सामग्री मिलती है उस पुण्य भाव की रुचि भी दूर होनी ही चाहिये और जिस भावसे रुचि दूर होती है उस भावका सेवन करना चाहिये। जो लोग 'साधु' या 'धर्मी' ऐसा नाम मात्र रखते हैं किन्तु जिन्हें पुण्यपाप रहित आत्मा के स्वरूप की खबर नहीं है उन्हें पुण्यकी रुचि रहती है। यहां हम यह नहीं कह रहे हैं कि पुण्य करना ही छोड़ दिया जाय, किन्तु पापसे बचने के लिये पुण्य करना ठीक है फिरभी उसकी रुचि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जिसे पुण्यकी रुचि है उसे जड़में सुख बुद्धि मौजूद है अर्थात् उसके जड़ की रुचि है।

प्रकार उसके (शुभ-राग की रुचि वाले के) न तो वर्तमान में धर्म है और न भविष्यमें। सच्चे सुख के (पुण्य पाप रहित) उपायका और पौद्गलिक सुख के उपाय (पुण्य) का विवेक सर्व प्रथम होना आवश्यक है।

सच्चे सुख के इच्छुक के पुण्यकी रुचि ही नहीं होनी चाहिये। पुण्य पाप दोनों राग ही हैं। जिसके राग करते समय उसकी रुचि है-उसमें सुख बुद्धि है, और जो उसमें धर्म मानता है, तथा शुभ कहां होता है और धर्म कहां होता है इसकी जिसे खबर नहीं है वह पुण्यमें सुख माने विना नहीं रह सकता। जिस पुरुष के ज्ञाता दृष्टा स्वरूपको भूल कर क्रिया के समय होने वाले शुभ रागकी रुचि है उसको भविष्यमें नाशवान राज्यादिक प्राप्त करनेकी रुचि है, जिसके पीछे नरकादि अवश्यंभावी हैं। यहांपर पुण्य छोड़देने की बात नहीं है, किन्तु पुण्यकी और तेरी रुचि नहीं होनी चाहिये। राग के बिना बाह्य क्रिया नहीं हो सकती। यदि अंतस्वंरूपकी रुचिको छोड़कर बाह्य स्वरूपमें होने वाली रागकी रुचि की जायगी तो समझना चाहिये कि उसके पुद्गल की रुचि है।

चापलूसी करनेवाले का दृष्टांत

जिस प्रकार वही पुरुष (खवास) यदि आजीविका के लिये राजा की सेवा नहीं करता तो राजा भी उसको सुखदाई भोगोपभोग नहीं देता; क्योंकि यदि हां में हां मिलाये और चापलूसी करे तो राजा प्रसन्न रहे। चापलूसी कैसे की जाती है यह एक दृष्टांत द्वारा बतलाते हैं।

एक राज्याधिकारी था, एकबार उसने अपने नौकर से कहा कि जा पांच तोला घी ले आ। नौकर गया और घी लेकर वापिस आया तब राज्याधिकारीने पूछा "कितना घी लाया?" नौकरने कहा कि 'साहिब एक छटांक'। किन्तु राज्याधिकारी को तो यह भान ही नहीं था कि ५ तोला और एक छटांक एक ही बात है; इसलिये यह क्रोधमें आकर बोला कि क्यों रे! 'मैंने पाँच तोला घी लानेको कहा था लेकिन तू एक छटांक क्यों लाया?' तब पासमें ही बैठे हुये एक जी हुजूर-चापलूसने कहा,—'बिलकुल ठीक है साहिब! इस बेवकूफ ने गलती करदी।' यह सुनकर घी लाने वाला नौकर भी (हां में हां मिलाने वाले होने के कारण) अपनी भूल न होने पर भी बोला हां साहिब! भूल तो होगई। इस दृष्टांत से स्पष्ट हो गया कि चापलूसकी दृष्टि केवल राजा को खुश करनेकी ही होती है।

सिद्धांत

इसीप्रकार अज्ञानी पुण्यक्रिया को करते हुये उसके राग की जो रुचि करता है और उसे ठीक मानता है तो वह राग रहित स्वभाव को नहीं जानता। रागकी रुचि से उसे सांसारिक जड़ पदार्थ मिलेंगे और वह रागपूर्वक उनका उपभोग करके नरकादिक गतिमें चला जायगा। नौकर चाकर यह नहीं जानते कि निस्पृह होकर रहेंगे तो भी राजाको जितना देना होगा देगा। राजाको खरी सुनानेवाला रुच नहीं सकता और यदि चापलूसी नहीं की जाय तो कुछ मिलेगा नहीं ऐसा उनने मान रखा है। यहां तो आचार्यदेव कहते हैं कि हां में हां मिलाने वालों को मिष्टान्न थाल तो मिल जायेंगे किन्तु सच्ची पूंजी नहीं मिलेगी अर्थात् जिसे आत्माकी रुचि छोड़कर शुभरागकी रुचि है और जो उसे ठीक मानता है यदि वह मंद कषाय करेगा तो पुण्यबंध करेगा, किन्तु उसे आत्माका सच्चा सुख नहीं मिलेगा।

धर्मी के राग रुचि नहीं है

धर्मीको अपनी आत्मामें ही संतोष होता है। नौकरीमें उसे जो पचास-सो या जितना भी वेतन मिलता है वह उतना ही लेता है, वह उससे अधिक प्राप्त करने के लिये कभी भी दगा नहीं करता. उसी प्रकार धर्मी जीव जब जो क्रिया करता है तब उस समय भी उसे शुभरागकी रुचि नहीं होती। वह सुखबुद्धि से कर्मरज का सेवन नहीं करता। कमजोरी के कारण उदासीन भावसे शुभमें प्रयुक्त होता हुआ भी अंतर में वह उसमें रुचि नहीं रखता।

जिसे आत्माकी खबर नहीं है उसे रागकी रुचि है

कोई यह कहे कि हमको स्वर्गादिक की रुचि नहीं है और हम विना ही रुचि के पुण्य करते हैं तो जिसे आत्माकी निस्पृहता की खबर नहीं है रुचि नहीं है उसके राग की रुचि अवश्य ही होती। और जिसे राग की रुचि नहीं है उसे आत्मा के ज्ञान भावकी रुचि है अर्थात् उसके शुभराग का फल ऐसा नहीं हो सकता कि जिसको भोगने पर फिरसे नया बंधन हो।

टीका—जैसे कोई आदमी फलके लिये राजाकी जितनी चापलूसी करके उसे प्रसन्न करता है राजा उसको उतनाही फल देता है उसी प्रकार जो जीव शुभ क्रियाको अपनी मानता है उसके रागकी रुचि का ही परिणाम

समझना चाहिये। ज्ञानी के अंतरमें यह भान है कि मैं शुद्धमें नहि रह सकता, इसलिये यह शुभ (अशुभ से बचने के लिये) करना पड़ता है। और यदि कोई विना समझे ही त्यागी होजाय, घरबार छोड़कर जंगल में चला जाय तो भी उसके भीतर पुण्यकी पकड़ है अर्थात् संसार सुख की रुचि है। जिसके अंतरमें ज्ञाता, दृष्टा, पूर्णनिर्मल, स्वतः स्वभावी आत्माकी रुचि नहीं है तथा जिसे रागके पृथकत्व की खबर नहीं है वह भले त्यागी हो या धर्मी नामधारी हो, किन्तु वह कर्म को (रागको) अपना मानकर उससे फलकी रुचि किये बिना नहीं रहेगा।

जिसके आहारादि की रुचि है-परमें सुखबुद्धि है उसके लिये एक जगह कहा है कि—

'मुंह मंगलिये उदराणु गीद्धे' अर्थात् चापलुस को 'मुख मंगलिया' कहा है और उसे पेट के लिये गृद्धि-वाला अर्थात् अच्छे आहारादि के लिये हां में हां मिलाने वाला कहा है। वापने छल कपट करके धन इकठ्ठा किया हो और उसका लड़का छल-कपट करनेमें उससे सवाया निकले तो वह कहता है कि लड़का बहुत होशयार है। और यदि वह लडका स्पष्ट कहदे कि पिताजी! मेरे पास दगाबाजी की बात मत करना, दगा प्रपंच करना हराम है तो वह उससे कहेगा कि मूर्खराज! हमारे कुल का दीपक बन अर्थात् हमसे भी सवाया पाप कर। इसमें जो लड़का दगा प्रपंचकी हां में हां मिलाता हैं वह केवल रागके कारण करता है, नहीं तो वह स्पष्ट इनकार करदे कि इस राग के लिये इतना दगा-प्रपंच। इस देहसे कितने समय तक जीना है? और हम कहां जांयगे? यदि पुण्य होगा तो आवश्यक वस्तुएं जहां चाहे से मिल जांयगी, आयु होगी तो रोटियां चाहे जहां से मिल जांयगी और यदि आयु नहीं होगी तो रोटियां खाते खाते भी यदि भुखसे अधिक खा लिया गया और पेट फुल गया तो मर जांयगे। मैं तो नीतिपूर्वक ही काम करुंगा। अरे! राग के लिये इतनी अनीति। नहीं भाई! नहीं, मैं अनीति नहीं कर सकता। यों कह देनेसे उसका अधिकार नहीं चला जाता।

धर्मीका स्वरुप

धर्मी जीव रागके लिये—फलकी भावना से पुण्यका सेवन नहीं करता। वह जानता है कि शुभ भावके द्वारा आत्माकी शांति नहीं होती; इसी समझसे वह पुण्य भावको अपना समझकर या रुचिपूर्वक नहि करता।

संसारी सुखकी रुचि नहीं है यों कहदेनेसे वह रुचि दूर नहीं हो जाती

जिसके सच्चे सुखकी रुचि है उसके संसारके सुख की रुचि अवश्य दूर हो जायगी। यदि कोई मात्र यह कहा करे कि हमें संसार की रुचि नहीं है और वह यों कहकर रुचि पूर्वक राग किया करे तो वास्तवमें उसके सच्चे सुखकी रुचि उत्पन्न ही नहीं हुई है। छपन के अकाल के समय रंक भिखारी गांवके बहार जाकर पानीमें मछलियों को मारते हों और वेही गांव में आकर अपने कपाल पर साधुओं जैसा तिलक करें और कहें कि "यह संसार असार है, यहां कोई किसका नहीं है"। यदि वे ऐसा न कहें तो उन्हें कोई कुछ दे नहीं, इसलिये वे अपने को कुछ प्राप्त हो जाय इसी राग के कारण वे ऐसा कहते हैं।

उसी प्रकार कोई कहे कि हमें सच्चे सुखकी रुचि जागृत हुई है तो पहले पुण्य पाप का राग आत्माका नहीं है, इस प्रकार राग रहित आत्माकी पहिचान उसने की है? सुख स्वरूप आत्मा की पहचान किये विना कभी भी सुख नहीं मिलेगा और पुण्य पापकी रुचि नहीं दूर होगी। और जिसके रुचि बदल गई कि यह विकार मात्र मेरा स्वरूप नहीं है, राग रहित ज्ञान स्वभाव ही मैं हूं, इसप्रकार जहां स्वभाव की रुचि होगई और पुण्य की रुचि दूर होगई वहां वह राजपाटका उपभोग करता हुआ भले दिखाई दे किन्तु अंतरंगमें उस ओर उसे रुचि नहीं है

भविष्यमें अल्पकालमें हीं वह त्यागी होकर, मुनि होकर पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा और जिसके पुण्यकी रुचि हैं वह यदि यह मान बैठे कि बाह्य आचरण करते हुये अंतर स्वभाव प्रगट होगा इस मान्यतामें सांसारिक सुख की रुचि अर्थात् विपाक्त रुचि मौजुद विद्यमान है। आत्माका ज्ञान स्वभाव का भान हुये विना पौद्गलिक सुखका स्वाद कभी भी दूर नहीं हो सकता।

सत्य त्यागका स्वरूप

भीतर ज्ञाता स्वरूप आत्माकी रुचि को जाने विना जो त्याग है वह दुख गर्भित और मोह गर्भित है। वह ज्ञान के विवेक भावसे नहीं किन्तु द्वेष भावसे हैं। सच्चे सुखस्वभाव का भान हुये विना वास्तविक त्याग और वैराग्य नहीं हो सकता।

त्याग कब कहलाता है? जब कि यह भान हो जाय कि मैं

ज्ञानमूर्ति, निर्मलचैतन्य घन आनंद स्वरूप हूं। मेरा सुख मुझमें ही है इसी दृष्टि बलसे राग दूर किया जाय और रागको दूर करते हुये रागके निमित्तभी सहजमें दूर हो जाय वही त्याग ज्ञान गर्भित है और वही सत्य त्याग है। और जिसे आत्माका भान नहीं है वह तो केवल इसी द्वेष भावसे त्याग करता है कि इस स्त्री पुत्र आदिमें सुख नहीं है। इसलिये अब इन्हें छोड़ दूं। सचमुचमें वह त्यागी नहीं है किन्तु उसके अंतरमें भोग की रुचि विद्यमान है।

आत्माका भान हुये बिना निर्विकारी क्रिया किसे कहा जाय और राग की विकारी क्रिया किसे कहा जाय इसकी पहचान नहीं हो सकती और उस पहचान के बिना पुण्य पापका या आत्मा का विवेक नहीं हो सकता। चक्रवर्ती राजा को राज्य संचालन करते हुये भी विवेक का भान था। उन्हें इसकी पहचान थी कि मैं निर्मल ज्ञानस्वरूप निर्विकल्प हूं, फिर भी पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण उनके शुभ अशुभ राग मौजूद था. किन्तु अंतरंग से उनकी रुचि राजपाट से हटकर आत्मा में लग गई थी, उस आत्माकी रुचिके बलपर वे एकावतारी हो गये थे। इस प्रकार और भी अनंत एकावतारी हो गये हैं तात्पर्य यह है कि अविकारी स्वभाव की भावना के साथ जिसके रागद्वेष का त्याग है वही सच्चा त्यागी है। अज्ञानी जीव बाहरका त्यागी (द्वेषभावसे) भले ही हो जाय किन्तु वह भीतर से विकार का भोक्ता है उसे अनंत संसारमें परिभ्रमण करना होगा।

मैं चैतन्य, शुद्ध, आनंद घन, निजानंद प्रभु हूं-प्रत्येक आत्मा प्रभु है ऐसे भान सहित सम्यक्दृष्टि राजपाट में रहता है फिर भी उसके अतरमें रुचि नहीं है। उसके अतर स्वभावकी रुचि में पुण्यकी रुचि नहीं है इसीलिये वह कर्म उसे फल नहीं देता।

भावार्थ—अज्ञानी के राग की रुचि है। अज्ञान रंजित परिणाम में डूबा हुआ प्राणी उदयागत कर्म को रंजित होकर सेवन करता है इसलिये वह कर्म भी उसे रंजित फल देता है। ज्ञानी उदयागत कर्म को रंजित होकर नहीं भोगता, इसलिये राग का रंग अंतर में नहीं चढ़ पाता। अज्ञानी तो रागमें लीन हो जाता है उसे राग की रुचिमें आत्माकी बात नहीं रुचती।

सच्ची समझ की आवश्यक्ता

प्रत्येक जीव स्वयं तो भगवान स्वरूप है किन्तु अपनी मान्यता में अनादिसे जो भूल चली आ रही है उसे दूर करनेमें परिश्रम करना होता है (अर्थात् उसके लिये अनंत सच्चा पुरुषार्थ की आवश्यक्ता होती है) सचतो यह है कि अनादि कालसे सच्चा ज्ञान ही नहीं हुआ, यदि सच्ची समझ आ जाय तो रागमें जो रंजितपना है वह दूर हुये बिना नहीं रहे। अज्ञानी शुभ भावमें धर्म मानता है, इसलिये उसे मात्र रागकी रुचि है, इसलिये रागकी रुचिके कारण उसे संसार ही फलित होगा। यदि सच्ची समझ आजाय तो यह विवेकभी आजाय कि सच्चा सुख क्या है? और उसका उपाय क्या है? दान देने से पहले यह देखना चाहिये कि वहदान प्रतिष्ठा और कीर्ति के लिये दिया है या नहीं। यदि वह प्रतिष्ठा और कीर्तिके लिये नहीं दिया है तो फिर वह देखे कि तुझे दानके शुभ भावकी रुचि तो नहीं है। यदि तू शुभरागके रंगमें रंगा जाता है तो उस रागकी रुचि तुझे बंधन करता है और उस राग की रुचि छोड़दे तबही सच्चा त्याग भाव कहलायगा। वह त्याग ही मुक्ति का कारण है।

जिसको स्वभाव का भान होता है उसीको अंतरका सच्चा त्याग सूझता है किन्तु जिसे अंतर स्वभावका भान नहीं है उसकी दृष्टि बाह्य त्यागपर रहती है। अर्थात् वर्तमानमें कदाचित् भोग छोड़नेकी बात भले ही बने, किन्तु उसके ही भीतर भीतरतो ऐसी रागकी-भोग की रुचि है कि, 'भविष्यमें इस त्याग से और अधिक अच्छे भोग मिलेगे' वह वास्तवमें सच्चा त्यागी नहीं है। वह यह मानता है कि स्त्री, पुत्र, मकान बंधन कर्ता हैं इसलिये मैं उनका त्याग कर दूं' किन्तु वह यह नहीं जानता कि उनकी ओरका अपना राग ही बंधन करता है। यदि सचमुच ही त्याग की वास्तविक भावना हो तो उनकी ओर का राग ही क्यों नहीं छोड़देता। त्याग का अर्थ यह है कि जो अपने स्वभावमें नहीं है उसे छोड़ दिया जाय। पुण्य पाप का कोई भी विकार मेरे स्वभावमें नहीं है ऐसा भान हुये बिना पुण्य पापका त्याग वास्तवमें भीतर से नहीं आयगा और अंतरके त्याग के बिना बाह्य त्याग भी सच्चा नहीं है।

यहां तो न्याय और सत्यकी ही बात है, ज्ञानसे उसका विवेक करो। अज्ञानी व्रत तप करता है वह भी आगामी भोगकी आकांक्षा से करता है। वर्तमान में जो बाह्य त्याग करता है उसमें भी उसका आशय अनंत गुणा भोग प्राप्त करनेका होता है जिसे वर्तमान में ही स्वाभाविक सुख से भरे हुये आत्माकी खबर नहीं है वह राग की रुचिमें अवश्यरंग जायगा और जो ज्ञानी है जिसे स्वभावकी खबर है उसके जबतक वीतरागता नहीं हो जाती तबतक शुभका विकल्प होनेपर भी उसकी रुचि नहीं होती, इसलिये उदयागत भोग उसकेलिये बंधन का कारण नहीं है और भविष्यमें उसे उसका विशेष फल नहीं मिलेगा।

धर्म-संवाद : २

—: लेखक :—
रामजीभाई माणेकचंद दोशी

कर्मचंद—हमने पहले सम्यक् तप के संबंधमें चर्चा की थी, उसमें निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ था:—

(१) अपनी शक्ति होने पर भी हम आहारादि का त्याग करते हैं तो वह अपने वश छोड़ा हुआ कहलायेगा या नहीं ?

(२) 'अस्ति' और 'नास्ति' का स्वरूप समझे विना जीवका यथार्थ स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

(३) सम्यग्दृष्टि के ही यथार्थ तप होता है।

(४) जब तत्त्वकी बातका प्रतिपादन किया जाता है तब उसका सभी पहलुओं से विचार करके निर्णय किया जाय तभी धर्मका यथार्थ स्वरूप समझा जा सकता है।

(५) निमित्त नैमित्तिक संबंध को समझना चाहिये।

(६) शास्त्रोंका अर्थ करने की पद्धति जानना चाहिये।

इन विषयों में से पहले विषय के संबंधमें अधिक स्पष्टता की आवश्यकता है, यह मैं बता चुका हूं। मैंने इस संबंधमें बहुत कुछ विचार किया है, फिर भी आपके साथ चर्चा हो तो अधिक स्पष्टीकरण हो सकता है। यदि आप सम्मत हों तो हम इस विषय पर आगे चर्चा करें।

धर्मचंद—आपको इस संबंधमें विशेष रुचि है इसलिये आपको जो भी पूछना हो वह खुशी से पूछिये।

कर्मचंद—हमें अन्न जल सब प्राप्त है, फिर भी भोग्य शक्ति होनेपर भी यदि उसे छोड़दें तो वह स्ववश से छोड़ा हुआ क्यों न कहलायेगा ?

धर्मचंद—आप यह कहना चाहते हैं कि हम आहार लेना चाहते हैं और उसमें यदि कोइ विघ्न डाले जिससे हम आहार न ले सकें तो वह परवश होकर आहार छोड़ा कहलायेगा। किन्तु आहार की अनुकूलता हो, और शरीर स्वस्थ हो फिर भी यदी एक दिनके लिये आहार न लेनेका नियमलें तो वह स्ववश पूर्वक आहार लिया नहीं कहलायेगा, क्या यह बात ठीक है ?

कर्मचंद—हां ! ठीक है, मेरे कहने का यही मतलब है। २४ घंटे तक आहार नहीं लेनेका निश्चय किया हो, जैनधर्मधारी कुटुम्ब में जन्म लिया हो, धर्मस्थानमें जाकर गुरुके पास नियम लिया हो तो वह उपवास किया गया कहलायेगा। इसी को लोग तप और निर्जरा कहते हैं। लोग बहुत उपवास करनेवाले को तपस्वी कहते हैं। बहुतसे लोग यह मानते हैं कि यह सब स्ववश से होता है इसलिये उसके द्वारा निर्जरा होती है।

मैंने इस संबंधमें कोई विशेष विचार नहीं किया अब इस संबंधमें मनन करके निर्णय करना चाहता हूं इसलिये 'स्ववश' किसे कहेंगे ? यह आप बताइये।

धर्मचंद—देखो भाई। जैसा कि आप कह रहे हैं वैसे उपवास और नियम तो प्रत्येक संप्रदायमें होते हैं, किन्तु उनके निर्जरा नहीं होती, यह आप पहले कह रहे थे। किन्तु वैसे ही उपवास करने से केवल जैनधर्मी कुटुम्बमें जन्म लेनेके कारण निर्जरा होती है यदि यों माना जायगा तो यह न्याय विरुद्ध कहा जायगा।

कर्मचंद—यह बात तो ठीक है, मैं भी मानता हूं कि ऐसी मान्यता न्याय विरुद्ध है। इसलिये आप सत्य स्वरूप बताइये।

धर्मचंद—देखो भाई, 'स्ववश' शब्द स्व+वश से बना हुआ है। 'स्व' का अर्थ स्वयं है और स्वयं वह आत्मा है, इसलिये जो पहले आत्मा को पहचानेगा, वही अपने वशवर्ती होगा इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञानी के ही सम्यक्तप हो सकता है। जो न आत्मा को पहचानता है और न उसे पहचानने का प्रयत्न करता है उसके सम्यक् उपवास या तप कैसे हो सकता है ?

यहांपर यह कहनेका तात्पर्य नहीं है कि जो आत्मा को नहीं पहचानते उन्हें मंद कषाय के हेतु उपवास नहीं करना चाहिये। तीव्र कषाय के स्थान पर मंद कषाय का होना तो अल्प विकार है, इसलिये उसका निषेध कर के तीव्र कषाय करो और गृद्धिपना बढ़ाओ यह कहने का तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता। यहां तो मंद कषाय के भाव को धर्म नहीं मानना अर्थात् विपरीत अभिप्राय को-विपरीत मान्यता को बदलकर सच्ची मान्यता करने के लिये यह कहा जाता है।

कर्मचंद—शुभभाव को छोड़कर पाप भाव करना अथवा गृद्धिपना बढाकर आहारमें लीन होकर अशुभ में प्रवृत्ति करनेकी बात तो आप कह ही कैसे सकते हैं। आप जो कहेंगे

उसपर मैं सूक्ष्मता से मनन करूंगा यह मैं आपको विश्वास दिलाता हूं। और आप जो यह कहते हैं कि मैं कहता हूं उसे सत्य मानना चाहिये तो यह तो गुलामी दशा कहलायेगी। और मैं तो स्वतंत्रता का उपासक हूं. इसलिये आपकी बातकी भलीभांति तुलना करके-परीक्षा करके यदि वह सत्य मालूम हुइ तो ही मैं उसे ग्रहण करूंगा। नहीं तो फिरसे पूछूंगा। मैं वैज्ञानिक रीति से धर्मदृष्टि का अभ्यासी होना चाहता हूं।

धर्मचंद—आपकी जिज्ञासा की मैं अनुमोदना करता हूं। संसारी कार्य भी विना परीक्षा के नहीं किये जाते, तो फिर धर्मके सिद्धांतों को तो विना तुलना किये ही ग्रहण कर लिया जाय तो इसमें बुद्धिमानी नहीं है। किन्तु, यह भगवान की आज्ञाके विरुद्ध है। अब हम जब फिर मिलेंगे तब चर्चा करेंगे।

(दोनों मित्र अपने अपने स्थान को चलेगये)

प्रकरण दूसरा

(दोनों मित्र पुनः मिलते हैं)

कर्मचंद—अब हम अपने विषय को और आगे बढाये।

धर्मचंद—हां मैंने आपको पहले 'स्ववश' शब्दका अर्थ बताया था और कहा था कि उसका अर्थ अपने आत्मा के वश होना है। जो जीव आत्मा को ही न पहचाने वह 'स्ववश' हो ही कहां से सकता है? यह तो स्पष्ट है कि जो अपनी आत्मा को नहीं पहचानता वह मिथ्याभावके वशीभूत है। उसे तत्त्वकी यथार्थ खबर नहीं है, इसलिये उसे आत्मस्वरूप के संबंध में मिथ्या मान्यता होती है, इसलिये उसका कोई भी कार्य स्ववश हो ही नहीं सकता। उसका प्रत्येक कार्य मिथ्याभाव के आधीन होने से परवश है। विपरीत मान्यता के वशीभूत होना ही सबसे बडी परवशता है। जबतक यह स्वरुप नहीं समझा जाता तबतक यह परवशता नहीं मिट सकती और इसलिये सम्यक् उपवास या तप नहीं हो सकता।

कर्मचंद—तब तो प्रश्न यह होता है कि जो आदमी आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता यदि वह उपवास करे तो उसका क्या फल होगा?

धर्मचंद—फलका आधार आत्म परिणाम पर निर्भर है, इसलिये यदि उपवास करनेमें मंद कषाय हो-शुभ भाव हो तो पुण्यबंध होगा और यदि अशुभभाव हो तो पापबंध होगा। किन्तु यहांपर यह ध्यान रखना चाहिये कि पुण्य और पाप का जो भेद किया गया है वह बाह्य संयोगों को लेकर है। किन्तु आत्माका निज गुण-दर्शन, ज्ञान, चारित्र (अर्थात् सच्ची मान्यता, सच्चा ज्ञान, सत्य स्थिरता) का शुभ और अशुभ दोनों भावोंमें घात होता है।

कर्मचंद—क्या उपवास करनेमें अशुभ भाव भी होता है।

धर्मचंद—हां! किसी के हो भी सकता है। जैसे किसी आदमीको यह खबर मिली के उपवास करने वालों को लान (भेंट) बटनेवाली है, यह जानकर उसने विचार किया कि यदि मैं उपवास करूंगा तो मुझे लान (भेंट) मिलेगी और में धर्मात्मा भी कहलाउंगा। अब आपही कहिये कि इस प्रकार के भावसे उपवास करने वाले के अशुभ भाव है या नही?

कर्मचंद—ठीक है, क्योंकि उसने उपवास धर्मके लिये नहीं किन्तु परिग्रह और मान बडाई के लिये किया है इसलिये वह अशुभभाव है। अब यहांपर प्रश्न यह होता है कि उसने एकदिन उपवास किया-आहार ग्रहण किया तो उसका क्या फल होगा?

धर्मचंद—आहार तो परवस्तु है। परवस्तुके संयोग अथवा वियोग से धर्म, अधर्म या लाभ हानि कुछ भी नहीं होता। लाभ और हानि तो आत्म परिणामों से होती है।

कर्मचंद—भगवानने श्रावक के लिये दान, शील, तप और भाव यह चार आवश्यक क्रियायें कही हैं तो उनका क्या होगा?

धर्मचंद—भगवानने श्रावक किसे कहा है, क्या आप यह जानते हैं?

कर्मचंद—मैंने इस संबंधमें अभीतक कोई निर्णय नहीं किया। किन्तु दूसरों से सुना है कि हमने जैन-कुल में जन्म लिया है, हम भगवान महावीर को मानते हैं, हम जैनसंघमें हैं और भगवानने जो कहा है वह सत्य है यह तो मानते हैं इसलिये हम श्रावक तो हैं ही।

धर्मचंद—जो आपने सुना है मैंने भी छुटपन में कुछ वैसा ही उपदेशकों से सुना था, किन्तु जब मैंने सूक्ष्म आत्मज्ञानी उपदेशक का उपदेश सुना तो मुझे मालूम हुआ कि उक्त मान्यता में बहुत बडी भूल है। जैसा कि आपने कहा है, उन लोगों को श्रावक कहा जाता है किन्तु वीतरागने कहा है कि श्रावक वही कहलाता है जिसे अपनी आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो चुका है और जो ग्रहस्थ अवस्थामें भी सहज पूर्वक परावलम्बनके भाव को आंशिक रूपमें

यथाशक्ति छोड़ता है। दूसरेको "नाम श्रावक" कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं

कर्मचंद—किन्तु जैन कुटुम्ब में जन्म हुआ, इसलिये उसका भी तो कोई महत्त्व है।

धर्मचंद—कुटुम्बका धर्म के साथ कोई संबंध नहीं है। कुटुम्ब तो परवस्तुओं का संयोग है और धर्म आत्मा का स्वभाव है।

कर्मचंद—किन्तु जो भगवान महावीर को मानते हैं और उनके कथन को सत्य मानते हैं, उसका भी तो कोई महत्त्व है?

धर्मचंद—भगवान महावीर को आप नाम से मानते हैं या गुण से? यदि आप गुण से मानते हैं तो बताइये कि उनके सम्यक्‌दर्शन गुण कैसे प्रगट हुआ था?

कर्मचंद—यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु इतना जानता हूं कि उन्हें केवलज्ञान था।

धर्मचंद—यदि आप केवलज्ञान का यथार्थ स्वरूप जानते हैं तो उसे संक्षेप में कहिये।

कर्मचंद—मैं तो यह नहीं जानता। सबलोग यह कहते हैं कि भगवान केवलज्ञानी थे इसलिये मैं भी कहता हूं।

धर्मचंद—लोगों में से केवलज्ञान के स्वरूपको कितने जानते हैं? क्या आपने इसका निश्चय किया है? अथवा जैसा दूसरे लोग कहते हैं वैसा आप भी कहते हैं।

कर्मचंद—मैंने इसका कोई निश्चय नहीं किया, विचार करने पर ऐसा लगता है कि स्वयं बिना निश्चय किये ही दूसरों के कथनानुसार कहने लगता और उसके अर्थ को न समझना एक प्रकार का दोष है। जैसा आप कह रहे हैं उस प्रकार मैं न तो भगवान महावीर स्वामीके स्वरूपको जानता हूं और न उनके कहे हुये धर्म के स्वरूपको समझता हूं। जबतक कि उनके स्वरूप को नहीं जानता, तबतक उनका सच्चा अनुयायी नहीं कहा जा सकता। आज हमने अच्छी चर्चा की है। अब मुझे दूसरा काम है इसलिये अब मैं जा रहा हूं।

धर्मचंद—बहुत अच्छा! अब आप जब कहेंगे तब हम फिरसे मिलेंगे। (दोनों अपने अपने स्थान को जाते हैं)

किसका धर्म

आत्मा ज्ञानमूर्ति वस्तु है, शरीरसे पृथक् तत्त्व है। शरीर और आत्मा दोनों एक साथ एक स्थान पर रहते हैं इसलिये दोनों वस्तुऐं एक नहीं हो जाती। इन दोनों वस्तुओं के लक्षण भी अलग अलग हैं। किसीका गुण किसीमें नहीं जा सकता, आत्मा के ज्ञानादि गुण अथवा उसकी कोई भी अवस्था शरीरमें नहीं जा सकती और शरीरके रूपरस आदि कोई भी गुण अथवा उसकी अवस्था आत्मामें नहीं आ सकती दोनों वस्तुऐं अनादि-अनंत और प्रथक् हैं। इसलिये जिसे आत्माका धर्म करना है उसे पहले यह निश्चय कर लेना होगा कि आत्माका धर्म; आत्मा के गुण आत्मा के आधारसे रहते हैं। वे अन्य किसी विकार अथवा शरीरादिक के आधार पर नहीं रहते।

धर्म कहां है?

आत्मा स्वतंत्र वस्तु है उसका धर्म कहो या गुण वह आत्मा के ही आधार पर रहता है। रागादि के आधार पर आत्माका धर्म नहीं है, धर्म अंतरंगसे संबंध रखता है। दोनों वस्तुऐं भिन्न हैं, उसके गुण और पर्याय भी प्रथक् ही होते हैं, इसलिये ज्ञानी जानता है कि मेरा धर्म पांच इन्द्रियों अथवा पुण्य पापकी वृत्तियों पर अवलंबित नहीं है; ऐसी श्रद्धाका नाम धर्म है और वही निर्जरा है और जिसे ऐसा भान नहीं है उसे कभी भी आत्माका गुण अथवा धर्म नहीं हो सकता।

आत्मधर्म आत्मा के आधार पर है।

आत्माका स्वभाव ज्ञान अर्थात् जानना है। जानने का स्वभाव (धर्म) किसी अन्यपर अवलंबित नहीं है तथा जाननेमें जो दया आदिक अथवा हिंसादिक शुभ अशुभ विकार हैं वे आत्मा के आधार पर नहीं हैं। इस प्रकारके भान सहित ज्ञानी के क्षण क्षणमें पुण्य पाप दूर होते हैं वही निर्जरा है।

धर्म का स्वरूप।

धर्मका स्वरूप अनादि कालसे एक क्षण भरके लिये भी नहीं समझ पाया। धर्म अर्थात् आत्मा का गुण और गुण गुणी के आधारसे रहता है। कोई मन, वाणी, या शरीरादिक पर वस्तुके आधारसे आत्माका कोई गुण नहीं रहता। जिसे अपने धर्मस्वरूप के स्वभावकी प्रतीति नहीं हैं वह पर के आधारसे धर्म मानता हैं। मानों धर्म कहीं बाहरसे प्रगट होता हो? ऐसा मानने वालों को अपने धर्मस्वभाव के प्रति विश्वास नहीं है।

सत्यका ग्रहण और अज्ञानका त्याग

आत्मा अनादि अनंत और सर्व परसे भिन्न वस्तु है। परमाणु भी भिन्न वस्तु है। एक भिन्न वस्तुका धर्म किसी पर वस्तुके आधार पर अवलंबित नहीं होता। आत्मा के ज्ञान दर्शन इत्यादिक गुण आत्मामें ही हैं; किन्तु उनकी खबर नहीं है—प्रतीति नहीं है इसलिये यह उन्हें परमें मान बैठा है; यही संसार है। और आत्मा अखंड ज्ञान मूर्ति है उसके आधार पर जो पुण्य पाप की पकड और ममता का त्याग है उसीका नाम धर्म है।

आत्मधर्म पराधीन नहीं है

शरीर, मन, वाणी और चक्षु आदिक पांच इन्द्रियां सब आत्मासे पर हैं। वह ठीक रहें या न रहें उन पर आत्मा का धर्म अवलंबित नहीं हैं। शरीर अच्छा होगा तो धर्म होगा और पांच इन्द्रियां ठीक होंगी तो इस धर्ममें सहायक होंगी, इस प्रकार जो परके आधीन से आत्मधर्म को मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। रसना इन्द्रिय अच्छी होगी तो भगवान के गुण भी भली भांति गाये जा सकेंगे, इस प्रकारकी जड़बुद्धि ज्ञानी के नहीं होती। रसना (जीभ) तो परमाणुओंका एक पिंड है। आत्मधर्म उस पर अवलंबित नहीं है। कदाचित जीभ रुक जाय तो भी धर्म नहीं रुकता। शरीर युवा हो अथवा वृद्ध, धर्मी जीव उसके आधारसे धर्म नहीं मानता। 'शरीर वृद्ध होगया है, शरीर को लकवा मार गया है, अब मुझसे धर्म कैसे हो सकेगा?' यों अज्ञानी जीव मानते हैं और वह मिथ्या मान्यता है। अरे! शरीर चाहे जैसा रहे उससे तुझे क्या? तू तो जानने वाला है, तू अपने में लीन रह न? शरीरके प्रति जो राग है उसे नाश करके दूसरी ओर अपने अंतर में शुद्ध स्वभाव को जान। इसीका नाम धर्म है।

आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है

जिसे इस प्रकार के आत्मस्वरूप की खबर नहीं हैं वह पुण्य पाप शरीर और इन्द्रिय आदिक परके आधार से धर्म मानता है। किन्तु परद्रव्य आत्मा के आधार से नहीं है और न आत्मा का धर्म पर द्रव्य के आधार से है। धर्म स्वरूप भगवान तो भीतर ही बैठा है उसे पहचाने विना धर्म कहां हो सकता है? आत्मा को पहिचाने विना–परके आधार से धर्मको मानता है किन्तु यह नहीं विचारता कि आत्मा का धर्म आत्मा में है या परमें?

धर्म कैसे होता है?

सर्वज्ञ भगवानने कहा है कि तेरा जो यह संपूर्ण स्वभाव है उसे तू समझ यों कहने से भगवान कहीं तुझे धर्म दे नहीं देते हैं किन्तु पुण्य पाप रहित ज्ञान स्वभाव को समझकर ज्ञान गुणमें स्थिर होना और परकी ओर न दौड़ना सो यही धर्म है। रागद्वेष रहित स्वभाव को पहिचान कर उस स्वरूपमें स्थिर होना—और रागद्वेष न होने देना सो धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा में ही है।

धर्मी (ज्ञानी) की मान्यता

शरीरादिक पर द्रव्य के आधार से धर्मी (ज्ञानी) जीव शोभा नहीं मानता क्योंकि वह जानता है कि 'अंतरकी शोभा अंतरमें है और संध्या के रंग की तरह जो यह पौद्गलिक खेल हैं वे सब पूर्वकृत पुण्य पाप के कारण हैं। और वे क्षणिक हैं। उनके आधार पर मेरा धर्म अवलंबित नहीं है।' (उपर जो शरीरादि कहा है उसमें पुण्य राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ कर्म–नोकर्म, मन, वचन, काय, स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा अन्न जल आदिक सभीका समावेश है)

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी के आहारका भी परिग्रह नहीं है:— (गुजराती हरिगीत)

अनिच्छक कह्यो अपरिग्रही, ज्ञानी न इच्छे अशनने।
तेथी न परिग्रही अशननो ते अशननो ज्ञायक रहे॥

शब्दार्थ—अनिच्छक को अपरिग्रही कहा गया है। और ज्ञानी अशन की (भोजनकी) इच्छा नहीं करता, इसलिये वह अशनका परिग्रही नहीं है, ज्ञायक ही है।

टीका—इच्छा परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है आहारकी इच्छा अज्ञानमय भाव है। अर्थात सदा आहार करते रहने की इच्छा का जो भाव है सो वह अज्ञानमय भाव है। वह आत्मस्वभाव की हत्या करनेवाला अधर्म भाव है।

यही सर्व प्रथम धर्म है।

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का
❀ प्रवचन ❀

प्रश्न—तब तो आहार न करने से धर्म होगा न?

उत्तर—आत्मा ज्ञानमूर्ति स्वरूप है, उसे पहिचाने विना कभी भी धर्म नहीं होगा।

धर्मीका लक्षण

धर्मी वह है जिसे आहारकी भावना नहीं होती। धर्मी जीव के आहार तो होता हैं किन्तु उसके ऐसी भावना नहीं होती कि मैं सदा आहार किया करूं और मेरा शरीर सदा बना रहे। यदि ऐसी भावना हो तो वह अधर्मी है, क्योंकि उसमें यह जड़ की भावना है कि मेरा शरीर बना रहे, ज्ञानीके जड़ की भावना नहीं होती आत्मा ज्ञानमूर्ति अशरीरी सिद्धसमान है, उसीकी भावना (धर्मी. के) होती है।

मुनि के आहार होता है फिर भी उनके आहार की भावना नहीं होती। वे जानते हैं कि इच्छा या आहार मेरा स्वरूप नहीं है। लड्डु वगैरह में अज्ञानी स्वाद मानता है किन्तु जो परमाणु अभी लड्डुके रूपमें है वही चार छह घंटेके बाद विष्टा के रूप में हो जायंगे, तब फिर उनमें स्वाद कहां है? अज्ञानी उसकी मिठास में (रागमें) अपने स्वभाव को भूल जाता है। परंतु ज्ञानी तो आहार का केवल ज्ञायक ही होता है।

धर्मी के आहार कैसे होता है?

प्रश्नः—आहार तो धर्मात्मा मुनि भी करते हैं किन्तु वह विना इच्छा के कैसे करते हैं और इच्छा को तो आप अधर्म कहते हैं, उसका क्या?

उत्तर—धर्मात्मा के असाता वेदनीय के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा मालूम होती है (उसका असर जठर में-परमाणुओं में होता है, आत्मा तो उसका ज्ञायक रहता है) और वीर्यांतराय के उदय से वह वेदना सही नहीं जा सकती (केवली के विना आहार के चलता है किन्तु यहां अभी निम्नावस्था है, पूर्णता प्रगट नहीं हुई है और शरीर टिकनेवाला है इसलिये वहां आहार है) इसलिये चारित्र मोहनीय के उदय से अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण चारित्र में अस्थिरता है इसलिये वहां आहार की वृत्ति आजाती है।

किन्तु वह धर्मात्मा अंतरंग में जानता है कि इस आहार की इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं ज्ञानमूर्ति चिदानंद स्वरूप की भावना भाऊं या आहार की? यह इच्छा तो राग है यह समझकर धर्मी तो उसे मिटाना ही चाहता है।

भूख क्या है?

क्या कभी इसकी जांच की है कि भूख क्या है? क्या आत्मा को भूख लगती होगी? भूख तो शरीर में है, वह शरीर की एक अवस्था है। आत्मा के नतो क्षुधा ही होती है और न आहार ही।

ज्ञानी की भावना

धर्मी इच्छा की इच्छा नहीं करता और जो इच्छा की इच्छा करता है वह धर्मी नहीं है। धर्मी के तो आत्मा के गुण की ही भावना होती है, फिर भी उसके इच्छा तो होती है किन्तु उस इच्छा की इच्छा (अर्थात् यह इच्छा सदा बनी रहे ऐसी भावना) ज्ञानी के नहीं होती। इच्छा की भावना वाला धर्मी नहीं होता। धर्मी के तो क्षण क्षण में इच्छा के नाश की ही भावना होती है। क्यों कि इच्छा आत्मा के गुण की विपरीत दशा है। धर्मका अर्थ है आत्माका स्वतंत्र स्वभाव। ज्ञानी उसी की भावना भाया करता है कि मेरा ज्ञान स्वरूप सदा मुझमें ही रहे। ज्ञान स्वभाव के अतिरिक्त दूसरी कोई भी इच्छा या विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है इस प्रकार ज्ञानी के इच्छा के नाश की ही भावना होती है।

स्वभावकी रुचि के बिना राग की रुचि दूर नहीं होती

इच्छा राग है और राग विकार है। उस पर द्रव्य जन्य विकार भाव का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं है। जो रागका स्वामी होता है वह धर्म का स्वामी नहीं होता और जो धर्मी है वह राग का स्वामी नहीं होता। धर्म आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव जानना है और वह जानने की क्रिया राग रहित की क्रिया है। आत्मा सदा चैतन्य-ज्योति परिपूर्ण ज्ञान-स्वभावी है, उसको पहिचाने विना स्व की रुचि नहीं हो सकती और स्व की रुचि हुये विना परकी रुचि दूर नहीं हो सकती।

पर की रुचि के कारण लोगों के स्वभाव की भावना नहीं होती। ज्ञानी के यह भान होने पर भी कि कोई भी विकार मेरा स्वरूप नहीं है, यदि इच्छा हो जाती है तो वह कर्मजन्य है, पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, ज्ञानी के उसकी भावना नहीं है वह तो मात्र उसका ज्ञाता है।

अनादिसे धर्मको क्यों नहीं समझा ?

अज्ञान के कारण धर्मको समझना मुश्किल हो गया है। स्व क्या है, पर क्या है, पुण्य क्या है, पाप क्या है और पुण्य पाप रहित धर्म क्या है? इसके विवेकके बिना धर्मस्वरूपका समझना मुश्किल हो गया है।

सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूपको कैसा मानता है ?

ज्ञानी—सम्यक्त्वी जीव के भी आहार होता है वह जानता है कि यह शरीर अभी टिकेगा और अभी पुरुषार्थकी कमजोरी है इसलिये आहारकी इच्छा होती है किन्तु वह शरीरके आधारसे धर्म को नहीं मानता। उसने अंतरंग में तो इस प्रकारका नकार प्रवर्तमान रहता है कि यह नहीं रे यह नहीं! यह मेरा कर्तव्य नहीं है, मेरा स्वरूप तो जानना, देखना और अपने में स्थिर रहना है उसमें यह कोई मेरा स्वरूप नहीं है।

अज्ञानी पर से धर्म मानता है

अज्ञानी मानता है कि अच्छा आहार करें और शरीर अच्छा रहे तो धर्म होगा, मानों धर्म पर के आधार ही निर्भर हो न?

और फिर वह कहता है कि-"शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्" (किन्तु यह बात बिल्कुल गलत है) आत्मा को उसने (इस मान्यता में) मार ही डाला है। उसने वस्तु को स्वतंत्रता की हत्या कर डाली है।

प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है

एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व की सहायता तीनलोक और तीनकाल में नहीं है। यदि एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व से हानि लाभ होने लगे तो दो तत्त्व एक हो जाय। इसलिये समझना चाहिये कि आत्माका साधन आत्मा में ही है, किसी परके आधीन नहीं है। विभिन्न तत्त्व एक दूसरे के लिये कुछ भी कर सकते हैं यह न तो तीनलोक में कभी बना है, न बनता है और न बन सकेगा। वस्तुकी-ऐसी स्वतंत्रता आत्म तत्त्व की पहिचान और रुचि के बिना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। ज्ञानी के पर का स्वामित्व नहीं है, उसके तो अपना (ज्ञान का) ही स्वामित्व है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी के पानी का भी परिग्रह नहीं है। वह जानता है कि पानी से आत्मा को किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। जो यह मानता है कि पानी से आत्मा को शांति मिलती है उसे आत्मा के स्वतंत्र स्वावलंबी स्वभाव की खबर नहीं है।

(गुजराती हरिगीत)

अनिच्छक कह्यो अपरिग्रही ज्ञानी न इच्छे पानने।
तेथी न परिग्रह पानने ते पानने ज्ञायक रहे ॥२१३॥

प्यास कहां लगती होगी, क्या वह आत्मामें लगती होगी? नहीं, तृषा शरीर में लगती है, आत्मा तो मात्र यह जानता है कि यह कण्ठ (जड़) सूख रहा हे, मैं नहीं।

धर्मात्मा भी अशक्ति होने के कारण पानी पीता है किन्तु ज्ञानी अंतरंगमें यह जानता है कि यह मेरा कर्तव्य नहीं है इसलिये उसे पानी की या पानी के राग की रुचि नहीं है।

धर्म की व्याख्या

धर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव। स्वभाव=(स्व+भाव) निजसे (आत्मा से) प्रगट होने वाला भाव। जो परावलंबन से प्रगट होता है वह धर्म नहीं कहलाता। आत्मा ज्ञान स्वभावी वस्तु है, जानना ही उसका स्वभाव है। पुण्य पाप की वृत्ति कर्माधीन क्षणिक विकार भाव है, उसे त्रिकाली अविकारी स्वरूप की रुचि में—ज्ञानीमें रुचि नहीं है।

अब उपर्युक्त कथनानुसार अन्यभी अनेक प्रकार के परजन्य भावों की इच्छा नहीं करता, यह बताते हैं।

(गुजराती हरिगीत)

ये आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्वने।
सर्वत्र आलंबन रहित बस नियत ज्ञायक भाव ते ॥२१४॥

क्रोध, मान इत्यादिक अनेक प्रकार के परभावोंकी और परवस्तु की, धर्मी (आत्मसुख को चाहने वाला) इच्छा नहीं करता। धर्मी अंतर की भावना को भावे या परकी।

ज्ञानियों की मान्यता

परंतु धर्मी की दृष्टि में अवलंबन नहीं है। मेरे आत्माके गुण की परकी सहायता तीनलोक और तीनकाल

में कभी भी नहीं है। निश्चय-नित, एक रूप ज्ञानस्वभावी हूं, उसकी रुचिमें ज्ञानी इच्छा मात्र का अवलंबन स्वीकार नहीं करते। वे जानते हैं कि इच्छा तो विकार है। विकार के आधार से अविकारी धर्म हो ही नहीं सकता। इस प्रकार चौथे गुणस्थान से लेकर सभी ज्ञानी मानते हैं।

देहकी क्रिया स्वतंत्र है, फिरभी कमजोरी के कारण जो राग होता है, उसकी भावना ज्ञानी के नहीं होती; किन्तु जबतक वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण अल्प राग होता है। यदि सर्वथा राग नहीं हो तो वीतरागता प्रगट हो जाय।

ज्ञानी की दृष्टि

यह बात गले भले न उतरे, किन्तु वह ज्ञानमें तो अवश्य ही उतरती है। गला जड़ है और ज्ञान आत्माका स्वभाव है। इसलिये यदि कुछ विचार करे तो ज्ञानमें तो यह बात उतरेगी ही न? अनंतकाल में कभी एक क्षण भी इस बात का विचार नहीं किया। राग इत्यादिक पर द्रव्य के लक्ष्य से होते हैं, इसलिये वह परद्रव्य का स्वभाव है। ज्ञानी उन समस्त भावों की इच्छा नहीं करता अथवा ज्ञानी को उसकी रुचि नहीं है। अंतर दृष्टिमें सबको पकड़ छूट गई है, यह वस्तु मेरी है अथवा यह वस्तु मुझे सहायता करदेगी ऐसी सब पर की पकड़ ज्ञानी की दृष्टि में से छूट चुकी है–उसके मात्र एक स्वभाव की ही पकड़ है।

ज्ञानी और अज्ञानी का लक्षण

ज्ञान सबको जानता है किन्तु परका कुछ कर नहीं सकता। मेरा काम कोई नहीं कर सकता और न मैं किसी पर का कार्य कर सकता हूं। इस प्रकार प्रथम नियम को –धर्म को जानने वाला ज्ञानी पर की पकड़ क्यों करेगा। अज्ञानी भी पर का कुछ नहीं कर सकता, मात्र वह ऐसा मानता है। ज्ञानी के वह मान्यता नहीं रही है। जहां आत्मा ज्ञानमूर्ति स्वतंत्र स्वभावी वस्तु है उसके जड़ की या विकार की कोई भी अवस्था मदद कर सकती है, ऐसी अज्ञान रूप मान्यता छूट चुकी है, वहां दृष्टि में सब प्रकारका अवलंबन भी छूट गया है। अर्थात् ज्ञान होने से उसने पर से लाभ या हानि मानने रूप मिथ्या भाव का वमन कर डाला है। इस प्रकार धर्मी अत्यंत निस्परिग्रही हो चुका है और उसके पर की भावना नहीं रही है।

धर्म का प्रारंभ कब होता है?

यदि कोई यह कहे कि आत्मा बाहर से दिखाई दे तो मैं उसे मानूंगा। तब इसका अर्थ यह हुआ कि उसे पहले तो आत्माकी ही खबर नही है, ऐसी मान्यता मिथ्याभाव है कि शुभराग भी आत्मा के गुण के लिये सहायक हो सकता है। आत्मा का गुण आत्मा के ही आधीन है। कोई भी परवस्तु किसी भी गुण के प्रगट करने में सहायक नहीं हो सकती। यहां तक कि देव, गुरु, शास्त्र यह सब पर हैं, उनका अवलंन दृष्टि में से निकल जानेपर स्वतंत्र आत्मगुणकी पहिचान हो जाती है और अज्ञान दूर हो जाता है, यही पहला धर्म है। सत्य का आदर और अज्ञान का त्याग ही सर्वप्रथम धर्म है।

आत्मा के ज्ञान स्वभावमें कोई परवस्तु एकमेक नहीं होगई है राग-द्वेष भी त्रिकाल स्वभाव में नहीं हैं किन्तु वे परलक्ष्य से होने के कारण संयोगी विकारी भाव हैं। उस संयोग से असंयोगी आत्मा के लाभ होगा, ऐसी मिथ्या मान्यता के छूट जाने पर ऐसा अपूर्व धर्म प्रगट होता है जैसा कभी अनंतकालमें भी नहीं हुआ था।

विपरीत मान्यता ही संसार है

जिससे धर्म होता है वह वस्तु भीतर ही विद्यमान है किन्तु इसकी दृष्टि वहां नहीं है और पर वस्तु पर इसकी दृष्टि गई है। मानों वह स्वयं तो कोई वस्तु है ही नहीं और मानो परसे धर्म हो ही जाता है, यह विपरीत मान्यता ही अनंत संसार का कारण है। सत् समागम प्राप्त करके स्वयं निजको पहिचाने तभी वह निमित्त कहलाता है किन्तु सत् समागम कुछ दे नहीं देता।

वह स्वयं ही अपने आप समझे कि ओहो! वस्तु ऐसी है। मैं स्वतंत्र ज्ञान स्वभावी हूं। उसमें किसी भी पर वस्तु का अवलबन मानना सो आत्मा के स्वतंत्र गुण की हिंसा है, यही अधर्म है और यही संसार है।

धर्म का उपाय

आत्मा के ज्ञानानंद स्वरूप होने पर भी वीतराग होने से पूर्व अवस्था में पुण्यपाप के भाव होते अवश्य हैं किन्तु आत्मा के ज्ञानानंद स्वभाव में उसकी मदद नहीं है इस प्रकार की जो भावना है सो वही अहिंसा है और वही आत्मा के उद्धार का–जन्म मरण की समाप्ति का उपाय है। आत्मा के स्वभाव को जाने विना बिचारा

स्थिरता करे कहां? आत्माका चारित्र आत्मा में ही है, किन्तु आत्माने उसे जान नहीं पाया और अज्ञान को दूर नहीं किया तो फिर चारित्र हो कहां से?

सर्व प्रथम आत्मा का गुण क्या है और अवगुण कहां होते है, वस्तु क्या है और उसका स्वभाव क्या है? यह सब जाने बिना धर्म नहीं होगा।

आत्मा स्वतंत्र है

अहा! इस समयसार में भगवान कुंदकुंदाचार्य देवने सनातन सत्य को स्पष्ट प्रगट किया है कि-वस्तु स्वतंत्र है, आत्मा चैतन्य ज्योति स्वरूप है, उसकी पहिचान निजसे ही होती है, उसमें परकी सहायता नहीं होती और जो विपरीत मानलिया है वह किसीने मनवाया नहीं है किन्तु अज्ञान भावसे स्वयं ही वैसा मान लिया था। सम्यक्ज्ञान के अवलबन से आत्मा के सिवाय किसी परवस्तु का अवलंबन नहीं है, इसप्रकार के यथार्थ भाव से उस अज्ञान को स्वयं ही टाला जा सकता है और यही सम्यक्दर्शनका उपाय है। सम्यक्दर्शन के विना व्रत, तप भी नहीं हो सकता।

धर्म की अपूर्वता

सम्यक्दर्शन के लिये सर्व प्रथम यह ज्ञान करना आवश्यक है कि आत्मा का स्वभाव क्या है, स्व क्या है पर क्या है और निमित्त क्या है? वस्तु स्वभाव का यथार्थ भान होनेपर अज्ञान का दूर होजाना ही धर्म है। धर्म आत्मा की वस्तु है, फिर वह क्यों न समझ में आवेगी? इसे समझ लेना ही अपूर्व और वर्तमान सच्चा पुरुषार्थ है। कोई बड़ा अधिकारी हो या बहुत बड़ा वेतन पानेवाला हो, यह सब पूर्व पुण्य का फल है, उसमें किसी का वर्तमान सयान नहीं चलता और वह अपूर्व नहीं है। अपूर्व तो अनंतकाल से नहीं किया गया आत्मवस्तु का भान करना ही है।

मनुष्यत्व का यही कर्तव्य

अरे, रे! आत्मा क्या वस्तु है, कहां मेरा धर्म होता है और कहां अधर्म होता है? इसका जहां भान नहीं है वहां उद्धार का अवसर ही कहां? यह दुर्लभ मनुष्य देह मिली, उसमें भी यदि यह समझने की रुचि पैदा नहीं हुई कि आत्मा क्या वस्तु है? तो मरण समय किसकी शरण लेगा?

यह उपदेश अज्ञान दूर करने के लिये है

यह सब उनके लिये नहीं कहा गया है कि जो ज्ञानी हो चुके हैं किन्तु जिन्हें आत्मस्वभाव का भान नहीं है-धर्म की खबर नहीं है उन अज्ञानियों को स्वरूप समझाने के लिये कहा गया है। यहांपर जो भगवान हो चुके हैं उनकी बात नहीं है किन्तु जिन्हें भगवान होना है उनकी ही यह बात है। सर्व प्रथम सम्यक्दर्शन प्रगट करानेकी बात कही गई है।

समझ का फल

यथार्थ भान के द्वारा जहां स्वावलंबी स्वभाव को जाना वहां पहले जो परके आधार से गुण मानता था उसने अनंत संसार का मूल जो अज्ञान है उसका वमन कर डाला है और जिसका वमन कर डाला गया है उसका फिरसे आदर-ग्रहण कैसे हो सकता है? अर्थात् फिर से अज्ञान नहीं आयगा। किन्तु अज्ञान का वमन किसके होता है? जिसके आत्मा में विकार मात्र सहायक नहीं है इस प्रकार स्वभाव की बात बैठ गई है उसके ही अज्ञान का वमन होता है। स्वभाव का भान होने के बाद सर्वत्र अत्यंत निरावलंबी हो जाता है। मात्र निर्मल स्वभाव का ही अवलम्बन रहता है, इस प्रकार समस्त अन्यभावों के परिग्रह से शून्य होने के कारण जिसने समस्त अज्ञान का वमन कर डाला है। इसप्रकार जो सर्वत्र अत्यंत निरावलंब होकर नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव रहता है वही साक्षात् विज्ञान-घन आत्मा का अनुभव करता है।

मुक्त होने का उपाय

इसप्रकार मैं पूर्णस्वरूप, साक्षात् ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा हूं, ऐसी प्रतीति और एकाग्रता का होना सो धर्म है और वही अनंत कालसे चले आये हुये जन्म मरण दूर करने का उपाय है और एक दो भवमें ही केवलज्ञान को प्रगट करके सिद्ध होने का यही उपाय है इसके सिवाय मुक्ति का-धर्म का कोई दूसरा उपाय नहीं है।

॥ दंसण मूलो धम्मो ॥

वर्ष : १
अंक : ९

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील
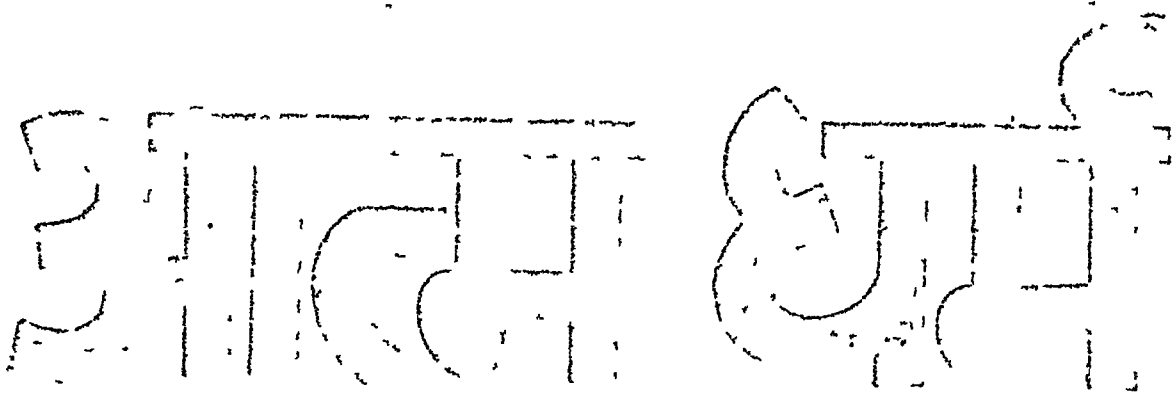
फाल्गुन
२४७२

★ सम्यक्त्वकी प्रतिज्ञा ★

श्रीमद् राजचंद्र

मुझे ग्रहण करने से, ग्रहण करनेवाले की इच्छा न होने पर भी मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पडता है, इसलिये मुझे ग्रहण करने से पहले यह विचार करे कि मोक्ष जानेकी इच्छा बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करलेने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुंचाना ही चाहिये।

कदाचित् मुझे ग्रहण करने वाला शिथिल हो जाय तो भी यदि हो सका तो उसी भव में अन्यथा अधिक से अधिक पंद्रह भव में मुझे उसे मोक्ष पहुंचा देना चाहिये।

कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे अथवा प्रबल से प्रबल मोह को धारण करे तो भी अर्द्धपुद्गल परावर्तन के अंदर मुझे उसे मोक्ष पहुंचादेना चाहिये, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पांच आना

आत्मधर्म कार्यालय—सुवर्णपुरी—सोनगढ काठियावाड

जड़ और चेतन

कर्मका व्यर्थ ही दोष निकाल कर विपरीत पुरुषार्थ में न लगकर अपनी स्वतंत्रताका भान कर लेना ही मुक्तिका उपाय है

जगत में सर्वज्ञ भगवानने छह द्रव्य देखे है और वे छहों द्रव्य एक दूसरे से स्वतंत्र संपूर्ण स्वाधीन है। उन छह द्रव्यों में आत्मा चैतन्य अर्थात् ज्ञानगुण सहित है। शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य जड़ है। उनमें ज्ञानगुण नही है। इन पांच में से पुद्गल द्रव्यको छोड़कर शेष चार तो अरूपी शुद्ध ही है इसलिये उन चार द्रव्योंके संबंध में इस प्रकरण में कुछ भी कहना आवश्यक नहीं है। अब शेष रहे जीव और पुद्गल। उनमें जीव चेतन है और पुद्गल जड़; दोनों स्वतंत्र हैं। यह त्रिकाल अबाधित सिद्धांत है कि 'स्वतंत्र द्रव्यको दूसरे द्रव्यका आश्रय (सहायता) नहीं होता'।

उपर्युक्त सिद्धांत के आधार से आत्मा जड़का कुछ नही कर सकता और जड़ आत्मा का कुछ नही कर सकता। जीव अपनी अवस्थाको स्वयं स्वतंत्र रूपमें करता है। अनादि काल से जीव की संसार अवस्था है, संसार अवस्थाको जड़ नहीं कराता। कर्म भी जड़ है; जड़ कर्म आत्माको संसारमें नहीं रोकते; किन्तु आत्मा स्वयं अपने गुणों की विपरीतता के कारण संसार में रुका हुआ है। जिस प्रकार आत्माको संसार में परिभ्रमण करानेवाला पर पदार्थ नहीं हैं उसी प्रकार मोक्ष होने में भी परवस्तु आत्माके लिये सहायक नहीं है।

प्रश्नः–ऐसा नियम है कि वज्रवृषभनाराचसंहनन होने पर ही आत्मा को केवलज्ञान होता है अर्थात् वज्रवृषभनाराचसंहनन युक्त शरीर (जो जड है) आत्माको केवलज्ञान होने में सहायक है, क्या यह ठीक नहीं है।

उत्तर–तीनलोक और तीनकाल में कोई पर द्रव्य आत्माकी सहायता नहीं कर सकता। केवलज्ञान होने के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है इसलिये यह नहीं मान लेना चाहिये कि वज्रवृषभनाराचसंहनन से आत्मा को केवलज्ञान हुआ है अथवा केवलज्ञान के उत्पन्न होने में उसने किसी प्रकार की कोई सहायता दी है।

एक द्रव्य की किसी अवस्था के समय यदि अन्य कोई द्रव्य मौजूद हो तो उससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि उस द्रव्यने पहले द्रव्य की अवस्था को किया है अथवा उस अवस्था में उसने कोई किसीप्रकार की सहायता की है। उस अवस्था के होते समय दूसरे द्रव्य की मात्र उसके निमित्त से उपस्थिति ही थी उसी प्रकार केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले शरीर की जो उपस्थिति है वह जडके कारण है, इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी उपस्थिति है इसलिये उसने उसमें मदद की है।

यदि केवलज्ञान उत्पन्न होने में आत्मा को वज्रवृषभनाराचसंहनन की सहायता की आवश्यकता पडने लगे तो जड और आत्मा दोनों पराधीन कहलायेंगे। क्यों कि, यदि वज्रवृषभनाराचसंहनन-शरीर के आधार से केवलज्ञान प्रगट होता हो तो आत्मा के अपने केवलज्ञान के लिये जड़में पुरुषार्थ करना पडेगा, तब यह प्रसंग आयगा कि जड की अवस्था को आत्मा करता है और ऐसी अवस्था में जड पराधीन बन जायगा और यदि आत्मा को अपने केवलज्ञान को प्रगट करने के लिये जड की अवस्था की राह देखनी पडे तो आत्मा पराधीन हो जायगा अर्थात् वह अपनी अवस्था का स्वतंत्र रूपसे कर्ता नही रहेगा।

किन्तु सच तो यह है कि एक द्रव्य की अवस्था दूसरे द्रव्य के आधार पर अवलंबित नहीं है; इसलिये आत्मा को केवलज्ञान के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन की 'आवश्यकता' नहीं रहती। फिर भी केवलज्ञान होने के समय जडमें अपने स्वतंत्र कारण से वज्रवृषभनाराचसंहनन वाली शरीर रूप अवस्था 'होती है' किन्तु वह आत्मा के लिये सहायक नहीं है और न आत्मा उसका (जड की अवस्था का) कर्ता ही है।

'आवश्यकता' और 'होती है' इन दोनों में काफी अंतर है। केवलज्ञान होने के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है यह तो कह सकते हैं किन्तु केवलज्ञान होने के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन की आवश्यकता पडती है यह नहीं कहा जा सकता। जैसे वीतराग दशा होने के पहले राग तो होता है किन्तु वह राग वीतरागदशा प्रगट होने के लिये सहायक नहीं है। निम्न दशामें राग तो होता है, फिर भी वह वीतरागता में सहायक नहीं है, उसीप्रकार केवलज्ञान के समय वज्रवृषभनाराचसंहनन होता तो है किन्तु वह केवलज्ञान में सहायक नहीं है।

(शेष पृष्ठ १३९ पर)

* शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र *

वर्ष : १
अंक : ९

: आत्मधर्म :

फाल्गुन
२४७२

स्मरणीय नियम

१—जो परिणमन करता है (अवस्था बदलता है) वह कर्ता है। परिणमन करनेवाले का जो परिणाम (अवस्था) है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं। यह तीनों एक द्रव्य की अभिन्न अवस्था यें हैं। प्रदेश भेदरूप भिन्न वस्तुऐं नही हैं।

२—प्रत्येक वस्तु सदा एकरूप ही परिणमती है, एक के ही सदा परिणमन होते हैं और एक की ही परिणति क्रिया होती है। अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है, भेदरूप नहीं है।

३—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति—क्रिया नहीं होती; क्यों कि जो अनेक द्रव्य हैं वे अनेक ही हैं, वे पलट कर एक नहीं हो जाते।

४—दो वस्तुऐं सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेद वाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमन नहीं करती, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती ऐसा नियम है।

५—यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमन करने लगें तो समस्त द्रव्यों का लोप हो जाय।

६—एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाऐं नहीं होती; क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

७—आत्मा सदा निजभावों को करता है और परद्रव्य परभावों को करता है। क्योंकि अपने जो भाव हैं वे तो स्वयं ही हैं और जो परभाव हैं वे पर ही हैं, ऐसा नियम है।

८—निज को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करने वाला आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है। पुद्गल या परके भावों का कर्ता कभी नहीं हो सकता।

९—आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है. तब वह ज्ञान के सिवाय और क्या करेगा ? आत्मा परभाव का कर्ता है यों मानना सो व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।

१०—मैं पर का कुछ कर सकता हूं यह कर्तृत्वपन का मूल अज्ञान है।

११—आत्मा समस्त वस्तुओं के संबंधसे रहित शुद्ध चैतन्य धातुमय है।

१२—फिर भी अज्ञान के कारण सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्य परिणाम वाला होने से उस प्रकार के अपने भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

१३—क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य, पाप इत्यादि विकारी भावों को सविकार चैतन्य परिणाम कहा जाता है।

१४—मैं पर द्रव्य हूं—मैं परद्रव्य का कुछ कर सकता हूं इस प्रकार के विकारी भावों को सोपाधिक चैतन्य परिणाम कहा गया है।

१५—वे विकारीभाव अनित्य हैं, क्षणिक हैं; इसलिये अपने त्रिकाली ध्रुव स्वरूप शुद्ध चैतन्य के आश्रय से उन विकारी भावों का नाश किया जा सकता है।

१६—आत्मा में होनेवाले अज्ञानमय परिणामों को चिदाभास, चिद्विकार कहा जाता है।

१७—मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहा जाता है।

१८—मिथ्यात्व सहित रागादिक ही अज्ञान के पक्ष में माने गये हैं।

१९—परकी और अपनी एकत्व (अविशेष) की मान्यता को मिथ्यात्व कहा गया है।

२०—परके और अपने अविशेष ज्ञानको अज्ञान कहा गया है।

२१—परकी और अपनी अविशेष लीनता को अविरति कहा गया है।

२२—ज्ञानका फल विरति—अर्थात स्वरूप स्थिरता है।

संसार और मोक्ष

यह निर्जरा अधिकार है, निर्जरा शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, उसका अर्थ है आत्मा में कर्मों के संयोगाधीन उत्पन्न हुई विकारी अवस्था का नाश और शुद्ध स्वभाव की निर्मल अवस्था का उत्पन्न होना।

आत्मा आनंद मूर्ति है, त्रिकाल सहजानंद का रसकंद है। किन्तु वर्तमान काल की एक समय की अवस्था दृष्टि (पर्याय दृष्टि) से दूसरे 'कर्म' नामके पदार्थ के संयोगाधीन होनेवाले विकारीभाव को लेकर संसार होता है। वह विकारीभाव आत्मा में क्षणिक-एक समय मात्र के लिये ही है। वर्तमान में अनंत आत्मा हैं वे सब भगवान स्वरूप हैं किन्तु उसकी वर्तमान अवस्था दृष्टि से केवल एक समय के लिये दुःख दशा दिखाई देती है, उस एक समय मात्र की विकारी अवस्था को छोड़कर शेष समस्त त्रिकालिक स्वरूप निर्विकारी सुखरूप है।

वस्तु के दो विभाग हैं। (१) तत्त्वदृष्टि अथवा निश्चयदृष्टि और (२) अवस्थादृष्टि अथवा व्यवहारदृष्टि।

(१)—निश्चयदृष्टिः—तीनों कालमें भगवान आत्माका स्वभाव अखंड परिपूर्ण है, उस स्वभावपरकी दृष्टि है वह शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि या सुखदृष्टि है इन सबका अर्थ एक ही है।

(२)—व्यवहारदृष्टिः—एक समय के लिये पराश्रित भेदरूप अवस्था की दृष्टि व्यवहारदृष्टि-दुःखदायकदृष्टि अथवा संसारदृष्टि है।

आत्मा में त्रिकालिक स्वभाव-अखंडानंद भरा हुआ है उसमें विकार केवल एक समय को अवस्था के लिये है। उस एक समय को बदलकर दूसरे समय में और दूसरे समय को बदलकर तीसरे समय में, इस प्रकार अवस्था बदल बदल कर जो होता है वह समयका नया विकार है। संसार भी एक समय की अवस्था मात्र है। जब एक समय जाता है तब दूसरे समयपर दूसरा विकार होता है, अर्थात् एक समय पर्याय का जब व्यय होता है तब दूसरे समय की पर्याय का उत्पाद होता है, इसमें दो समय इकट्ठे नहीं होते। व्यवहारदृष्टि मात्र एक समय की अवस्था के लिये है। वह दृष्टि कषाय और विकार पर होने से विकारी अवस्था एक समय की ही होती है फिर भी उस दृष्टि में असंख्य समय में उसके ध्यान में आता है। विकारी अवस्था समय समयपर बदल कर अनादिकालसे धारावाहिक रूप में चली आ रही है फिर भी विकारका समय एक से अधिक समय का नहीं है।

तत्त्वदृष्टि (निश्चयदृष्टि) में आत्मा त्रिकाल एक रूप शुद्ध ही है, उसमें तत्त्वदृष्टि में काल अथवा दूसरा कोई भी नहीं लग सकता। केवल एक समय की विकारी अवस्था के पीछे उसी एक समय में अखंड परिपूर्ण त्रिकाली ध्रुव स्वभाव भरा हुआ है। इस प्रकार वस्तु एक समय में परिपूर्ण है। प्रत्येक समय में द्रव्य अखंड ध्रुव है। उसमें पराश्रित केवल एक समय की विकारी अवस्था और उसके अतिरिक्त (उसी समय) अखंड परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव दोनों मिलकर पूरा द्रव्य होता है।

एक समय में ज्ञानादि अनंतगुण का रसकंद जो सामान्य ध्रुव है, वह वस्तु है। वस्तु का स्वभाव कभी भी विकारी नहीं होता।

यह जीव ग्यारह अंग और नवपूर्व का पाठी हुआ किन्तु इसने कभी यह नहीं जानपाया कि मेरा स्वरूप क्या है और प्रत्येक समय में मेरा परिपूर्ण स्वभाव क्या है? स्वोन्मुख होकर आंतरिक व्यापार करके अनादि काल में इसने एक समय भी 'यथार्थ हां' नहीं कही है। आत्मा त्रिकाल आनद मूर्ति है और विकार तो केवल एक समय के लिये ही है वह मेरे स्वरूप में नहीं है यों यथार्थ समझकर हां कहनी चाहिये।

सम्यग्ज्ञान ही भ्रांति नाशका कारण है और यही धर्म है। सम्यग्ज्ञान के अवलम्बन के बिना अन्य किसी भी उपाय से त्रिकाल में निर्जराके भ्रम का नाश नहीं हो सकता।

संसार में अनंत आत्मा हैं। प्रत्येक आत्मा केवल एक समयकी विकारी अवस्था को छोड़कर उसी समय में परिपूर्ण अखंड शुद्ध स्वभावी है। मात्र एक समय की विकारी पर्याय संसार है और 'वह विकारी अवस्था मैं नहीं हूं, मैं तो परिपूर्ण अविकारी स्वभाव हूं' इस प्रकार की जो दृष्टि है वह मोक्षमार्ग है तथा पूर्ण शुद्ध अविकारी पर्याय का प्रगट होना सो मोक्ष है। मोक्षमार्ग बाहर या पुण्यादि में नहीं है किन्तु वह अरूपी आत्मा में ही है।

वस्तु तो त्रिकाल शुद्ध ही है, मोक्ष वस्तु का नहीं होता किन्तु वह अवस्था में होता है। जो विकारी पर्याय थी उसका नाश होकर शुद्ध अविकारी पर्याय का हो जाना सो उसका नाम मोक्ष है।

मोक्ष कैसे होता है ?

परिपूर्ण शुद्ध दशा (मोक्ष) सम्यक् चारित्र के बिना नहीं होती। सम्यक्चारित्र सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के बिना नहीं होता। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान तत्त्व निर्णय–सर्वज्ञ कथित आगम के निर्णय के बिना नहीं होता और सर्वज्ञ के आगम का निर्णय सर्वज्ञ की सत्ता का निर्णय हुये बिना नहीं होता।

संसार और मोक्ष

आत्मा में जो एक समय मात्र के लिये विकारी अवस्था है वह संसार है और जो अविकारी अवस्था है वह मोक्ष है। जो विकारी अवस्था है वह मेरी है–मेरे स्वरूप की है इसप्रकार की मान्यता चौरासी के जन्म मरण का मार्ग है। जिसने अपने को पुण्यपापकी वृत्ति के बराबर माना उसके संसार पर्याय है। जो क्षणिक विकारी अवस्था है वह मैं नहीं हूं। मैं तो एक समय में समस्त चैतन्य आनंदघन स्वभावरूप हूं। इस प्रकार का भान होना सो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का मार्ग अथवा मोक्ष का मार्ग है। और परिपूर्ण निर्मल दशा का प्रगट होना सो मोक्ष है मोक्ष अर्थात् पूर्ण दशा बिना सम्यक्चारित्र के प्रगट नहीं होती। स्वरूप की रमणता ही चारित्र है, बाह्य क्रिया में अथवा पुण्य पाप में चारित्र नहीं है।

जैन दर्शन का अर्थ

वस्तु अनादि अनंत है। धर्म उस वस्तु का स्वभाव है, इसलिये धर्म अनादि है। किसी व्यक्तिने धर्म को उत्पन्न नहीं किया। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से परिपूर्ण है, उनका प्रदर्शक जैनधर्म है। जैनधर्म यानि विश्वधर्म। आत्मा का त्रिकालिक स्वभाव है। उसमें जो एक समय के लिये विकारी पर्याय आ जाती है उसके लक्ष्य को गौण करके अखंड परिपूर्ण स्वभाव का दर्शन करना सो जैन दर्शन है। एक समय मात्र के लिये भी स्वरूप में विकार नहीं है। तत्त्व का निर्णय आगम ज्ञान के बिना नहीं होता और आगम का ज्ञान सर्वज्ञ को जाने बिना नहीं होता। प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ स्वरूप है और सर्वज्ञ हो सकता है।

आत्मा में जो एक समय मात्र के लिये विकारी अवस्था है वह संसार है और जो अविकारी अवस्था है वह मोक्ष है।

———

सर्वज्ञ का अर्थ

प्रत्येक आत्मा के अनंत गुण और फिर उसमें ज्ञान गुण की एक समय की एक पर्याय में तीन काल और तीन लोक के जो अनंत पदार्थ हैं उनको गुण पर्याय सहित एक ही साथ जो जानता है सो सर्वज्ञ है। उस सर्वज्ञ के मुखसे निकली हुई वाणी सो आगम है। उस आगम के द्वारा तत्त्व का निर्णय होता है, उस तत्त्व के निर्णय द्वारा सम्यक्दर्शन—सम्यक्ज्ञान होता है। और सम्यक्दर्शन—ज्ञान के द्वारा चारित्र होता है और चारित्र द्वारा मोक्ष होता है।

इस बात को समझे बिना कभी भी मोक्ष नहीं हो-सकता। सम्यक्ज्ञान के सिवाय मोक्ष का कोई उपाय नहीं। लोग कहते हैं कि कितना याद रखा जाय यदि पैसे से धर्म होता हो तो पांच लाख की पूंजी में से पचास हजार दे दें। उससे धर्म हो जाय और शेष साढ़े चार लाख से संसार व्यवहार भी चलता रहे। इस प्रकार संसार और मोक्ष दोनों साथ ही साथ मिल जांय; किन्तु पैसे से कभी भी धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव है। परावलम्बन से धर्म नहीं होता। वस्तु स्वरूप सर्वज्ञ के मुख से निकली हुई वाणी (आगम) के द्वारा मालूम होता है। सभी सर्वज्ञों का कथन एकसा ही होता है। एक सर्वज्ञ से दूसरा सर्वज्ञ कभी भिन्न बात नहीं कह सकता।

"एक होय त्रण कालमां परमारथनो पंथ"

तीनों काल के सर्वज्ञोंका कथन एक ही प्रकार का होता है।

सर्वज्ञ के निर्णय के बिना आगम का निर्णय नहीं हो सकता।

आगम के निर्णय के बिना तत्त्व का निर्णय नहीं हो सकता।

तत्त्व के निर्णय के बिना सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। और सम्यक्चारित्र के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इसलिये पहले तो भगवान के आगम द्वारा

स्वरूपका निर्णय करना होगा, इसमें आगम तो निमित्त है—निर्णय तो स्वयं करना होगा। भगवान के आगम के द्वारा अपनी आत्मा से जानकर आत्म स्वभावभूत एक ज्ञानका ही अवलंबन करना चाहिये।

मैं 'अखंड चैतन्यमूर्ति ज्ञायक स्वरूप हूं। ज्ञान के सिवाय मेरा अन्य स्वभाव नहीं है। मैं परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप चैतन्य ज्योति हूं।' इस प्रकार एक ही ज्ञान का अवलंबन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य दूसरे का अवलंबन करने को नहीं कहा गया है, यही अनेकांत है।

उपर भार पूर्वक कहा है कि 'एक का ही' अवलंबन करना चाहिये, अर्थात् ज्ञान के जो मतिश्रुत आदिक पांच अवस्थाभेद हैं उनका जो लक्ष्य है वह भेददृष्टि है उसका अवलंबन नहीं। किन्तु मैं अकेला ज्ञानमूर्ति हूं। एक उसीका अवलंबन करना उस ज्ञान के सिवाय कभी भी धर्म अथवा सम्यक्‌दर्शन नहीं हो सकता। अवलंबन मात्र एक ज्ञान का ही है। यहां कोई कह सकता है कि वारी के विना वेल चढ़ सकती है अर्थात् पराश्रय के विना आगे वढ़ा जा सकता है, ऐसा कहने वाले की (पराश्रय में धर्म मानने वाले की) दृष्टि विपरीत है। हम पूछते हैं कि जो वेल चढ़ती है वह हरी होती या सूखी? वारी के होते हुये भी सूखी वेल नहीं चढ़ सकती। इससे स्पष्ट हो गया कि जो वेल चढ़ती है वह अपनी शक्ति से ही चढ़ती है और जहां वेल को वढना होता है वहां वारी भी होती है। इस प्रकार पराश्रय की दृष्टि को बदल डाल।

संसारने सुकमार (पराश्रयी) जीवन मानरखा है, इसलिये वह धर्म भी पराश्रय मानता है। किन्तु आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव ही धर्म है। यह वात गरीब और अमीर सभी के लिये एक समान घटित होती है। आत्मा गरीव वा अमीर नहीं है। पूर्व कर्म के निमित्त से प्राप्त संयोग (पैसा) के कारण उसे धनवान् कहा जाता है; किन्तु यदि कोई इस कथन के अनुसार ही मानने लगे (आत्मा को धनवान् माने) तो वह मिथ्यादृष्टि है। (लोक व्यवहार में भी लोग कहने के अनुसार अर्थ नहीं किया करते, 'घी का घड़ा' तो कहलाता है; किन्तु उसका अर्थ शब्दानुसार नहीं होता।) जब कि विकारी अवस्था भी आत्मा की नहीं है तो रुपया पैसा इत्यादि जड़ आत्मा के कैसे हो सकते हैं? आत्मा न तो पैसे वाला है और न गरीव। वस्तु में कमी कहां है? संयोग की कमी के कारण लोग गरीब पन को आरोप करते हैं किन्तु वस्तु में गरीबी नहीं है।

प्रभु! यह तेरी प्रभुता है। एक समय में ज्ञानादि अनंतगुणों से तू परिपूर्ण है। एक क्षण मात्र के लिये वर्तमान अवस्था का विकार भी तेरा स्वरूप नहीं है। वर्तमान में ही परिपूर्ण स्वरूप है। एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है। अवस्था पर लक्ष्य न देकर ज्ञानी का लक्ष्य एक समय में परिपूर्ण स्वभाव का है। यदि वस्तु और वस्तु का गुण वर्तमान एक समय में पूरा न हो तो दूसरे समय में आयगा कहां से? एक समय में परिपूर्ण ज्ञानगुण होता है उसमें 'विकार' या 'भेद' (मतिश्रुत इत्यादिक पर्याय) को न लेकर पूर्ण ज्ञान का ही अवलंबन करना चाहिये यही मोक्ष का उपाय है।

ऊपर विकार और भेद इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है।

विकारः—जो अपूर्ण और अधुरी पर्याय है, उसका अवलंबन नहीं करना।

भेदः—मतिश्रुत या केवल इत्यादिक जो पांच भेद हैं उनका लक्ष्य नहीं करना।

विकार अथवा भेद रहित मात्र ज्ञान के अवलंबन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अहा! श्री समयसार, और उसमें फिर श्री अमृतचंद्राचार्य की टीका? एक एक शब्द में आनंद रस के (ज्ञान के) घन भरे हुये है। मैं मात्र ज्ञान ही करूं और जानूं। जानने के सिवाय अन्य कुछ भी करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूं, ऐसे भाव से भ्रांति का नाश होता है। ज्ञान के सिवाय कोई अन्य मेरी मदद कर देगा अथवा सहायक-साथी होगा, इस प्रकार की पराश्रित बुद्धि का होना सो एक समय में तीनों काल की झुठाई का सत्व है अर्थात् तीव्र मिथ्यात्व है। वह भ्रांतिभाव-मिथ्यात्व भाव मात्र सम्यग्ज्ञान से ही नाश होता है उस भ्रांति का नाश होनेपर आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति का लाभ होता है। अर्थात् ज्ञान होने से पूर्व जो शुद्धता का लाभ पर्याय में नहीं था, वह ज्ञान होने के बाद पर्याय में आत्मा के स्वभाव की शुद्ध दशा का लाभ हुआ कहलाया। यहांपर जो पर्याय का लाभ है सो आत्मा का लाभ है, इस प्रकार आरोप करके कहा गया है।

पहले आत्मा को विकारी और पराश्रित मानता था उस मान्यता का, भ्रांति का नाश होने पर सारी वस्तु

का (वस्तु स्वरूप का) ज्ञान हुआ कि विकारीपना और पराश्रयपना मेरे स्वरूप में नहीं है। यदि मैं रागादिवान होता तो वह कैसे दूर होता और मुझे पूर्णज्ञान स्वभाव का लाभ कैसे होता? इससे सिद्ध हुआ कि वह राग मेरा स्वरूप नहीं था, वह क्षणिक था और अनात्मा था।

अनात्मा:—राग और पुण्य इत्यादि के जो विकल्प हैं वे सब अनात्मा हैं। क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप नहीं हैं जो आत्मा का स्वरूप नहीं है वह सब अनात्मा है। सम्यग्ज्ञान होजाने पर उस अनात्मा का परिहार निश्चय से हो जाता है। व्रत अव्रत का विकल्प जो कि अनात्मा ही है उसका भी परिहार निश्चय से होता है कि–"यह मैं नहीं हूं किन्तु ज्ञान ही मैं हूं।"

कोई अज्ञानी यह मान बैठे कि पहले हम रागद्वेष को कम करना प्रारंभ करदें, अंत में अकेला शुद्ध आत्मा रह जायगा। किन्तु स्वरूप का भान हुये बिना रागद्वेष का सर्वथा नाश नहीं हो सकता। क्षणिक विकार को ध्यान में रखकर त्रिकालिक स्वभाव का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता किन्तु शुद्ध स्वभाव को लक्ष्य में रखकर "यह मेरा नहीं है" इस प्रकार निश्चय होता है। ऐसा होने से कर्म बलवान नहीं होता अर्थात् रागादि रहित शुद्ध स्वभाव का भान होने पर कर्म रुक जाते हैं।

पहले (भ्रांतिदशा में) स्वयं निमित्ताधीन होकर (स्वयं निमित्त में लगकर जब विकारी भाव करता है तब निमित्ताधीन हुआ कहलाता है किन्तु कर्म जबर्दस्ती से विकार उत्पन्न नहीं कराता है) विकार करता था—किन्तु भ्रांति के दूर होनेपर विकार उत्पन्न करना बंद कर देता है, उससे कर्म भी रुक जाते हैं। जबतक आत्मा स्वयं विकार को अपना मानता है तबतक वह कर्माधीन होकर स्वयं विकार करता है; किन्तु कर्म विकार नहीं कराते। जहां दृष्टि का जोर बदल गया (पर से स्व के ऊपर आगया) वहां आत्मा कर्माधीन नहीं होता, तब कहलाता है कि कर्मोंका जोर नहीं है।

अहो! समयसार ग्रंथ, ४१५ गाथा ओं में तो सर्वज्ञ की वाणी का साक्षात् महा प्रवाह अवतरित कर दिया है। श्री कुंदकुंद प्रभुने भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा पाससे साक्षात् सुनकर उसकी महा धारा को इस शास्त्र में बहाया है। वह तीनलोक और त्रिकाल में सत्य ही है, वही यहां समझाई जा रही है। ज्यों समझ सको त्यों समझो।

आत्मा एक समय में ज्ञान से परिपूर्ण शुद्ध है उसकी श्रद्धा होने पर स्वभावाधीन हो जाता है, इसलिये कर्म 'बलवान' नहीं हो सकता। यहांपर 'बलवान' शब्द का प्रयोग किया गया है इसका अर्थ यह हुआ कि अभी रागादिक से अल्प संबंधमें है। यदि वह सर्वथा छूट जाय तो वीतराग हो जाय।

छठ्ठे सातवें गुणस्थान में झूलते हुये मुनि के भी अल्प अस्थिरता होती है किन्तु वहां पर कर्म बलवान नहीं हो सकता। छठ्ठे सातवें गुणस्थान में झूलते हुये मुनिराज के एक दिन में अनेकबार छठ्ठे सातवें का परिवर्तन हुआ करता है वहां छठ्ठे का काल सातवें की अपेक्षा दुवारा होता है।

यह सब तो शाश्वत टंकोत्कीर्ण शब्द हैं, इसलिये उन शब्दों के पीछे जो 'वाच्य' भाव हैं वह त्रिकाल में भी नहीं मिट सकता। यह निर्जरा अधिकार है। स्वरूप का भान होने के बाद रागादि के साथ कुछ संयोग करलिया जाता है; किन्तु साथ ही यह भान है कि यह पुरुषार्थ की कमजोरी है पहले जो विपरीत मान्यता थी वह दूर होगई, इसलिये जो कर्माधीन संबंध था वह छूट गया। किन्तु वह अभी सर्वथा नहीं छूटा है, इसलिये सर्वज्ञ दशा नहीं हुई है। जब भगवान तीर्थंकर छद्मस्थ दशा में होते हैं (उन्हें उसी भव में मोक्ष होना है) तब उनके भी कभी कभी अल्प अस्थिरता आजाती है और बहुतांश स्थिरता प्रवर्तमान होती है; किन्तु कर्म बलवान नहीं हो सकता।

यह सब ज्ञान के अवलम्बन का ही फल है। चैतन्यज्योति ज्ञान से परिपूर्ण–उनके ज्ञान की ही बातें हैं। एक समयमें चैतन्य परिपूर्ण आनंदघन भरा हुआ है, उसीका अवलंबन करने से, स्वभाव की स्थिरता के बल से निमित्ताधीन भाव विशेष नहीं होता। स्वभाव के ज्ञान के अवलंबन के भावसे राग–द्वेष मोह उत्पन्न नहीं होते। जितनी स्वभाव की शक्ति बढ़ती है उतनी ही मोह (भ्रांति रागद्वेष) की शक्ति घटती है। रागद्वेष तो प्रमाद है, उस प्रमाद के दूर होने पर फिर रागादि उत्पन्न नहीं होते और बिना रागादि के फिर आस्रव नहीं होता और बिना आस्रव के फिर कर्मबंध नहीं होता और पूर्व बद्ध-कर्म को भोग लेने पर उसकी निर्जरा हो जाती है। स्वरूप ज्ञान के मार्ग में पहुंच जाने पर (एकाग्र होने पर) पुराने कर्मों की उन्हें भोग लेने पर निर्जरा हो जाती है।

आत्मा कर्म को नहीं भोगता। अनेकबार कहा जा चुका है कि कर्म की अवस्था आत्मा में नहीं है। आत्मा चैतन्य स्वरूप अनंत गुणों का पिंड है। और कर्म अनंत जड़ रजों का पिंड है। उस कर्म का फल कर्म में (जड़ में) होता है। अज्ञानी के भी कर्म का फल आत्मा में नहीं होता। मात्र उसकी दृष्टि कर्म पर है इसलिये वह कहता है कि:—

उदय महा बलवान है, नहीं पुरुष बलवान।
शक्ति मरोड़े जीव की उदय महा बलवान॥

यह तो यथार्थ भान होने के बाद पर्याय की अशक्ति का भान कराने के लिये निमित्तसे कथन है। कर्म को तो खबर ही नहीं होती कि वह स्वयं क्या है और कहां है? सबको जानने वाला तो स्वयं है और महिमा दूसरे की मानता है? जिसकी दृष्टि कर्म पर है वह कर्म के जोर को मानता है और कहता है कि:–'निकाचित और निगत् कर्मों को बांध रखा है वे कभी छूट सकते हैं? उन कर्मोंने शक्ति को रोक रखा है। भगवान महावीर को भी कर्म भोगना पड़े थे'। वहां पर 'कर्मोंने आत्मा की शक्ति को रोक रखा है' यह जो कथन है सो तो पुरुषार्थ की वर्तमान अशक्ति को बताने के निमित्त से है। कर्म आत्मा के किसी गुण को रोक सकता है यह तीन काल और तीन लोक में कभी नहीं हो सकता। किन्तु जब स्वयं पुरुषार्थ में रुक गया तब कर्म को निमित्त कहा गया। जो विकारी पर्याय होती है वह कर्म के निमित्त से होती है, इसलिये वह तेरे स्वरूप में नहीं है यों बताकर निर्विकार स्वभाव के पुरुषार्थ का बल बताना है, कर्म का जोर नहीं बताना है। भगवान ने जो उपदेश दिया है वह यह कर नहीं दिया कि–"तू इस योग्य नहीं है, फिर भी मैं तुझे समझा रहा हूँ; तू समझेगा नहीं फिर भी मैं कहता हूं!" किन्तु यों कह कर उपदेश दिया है कि-"मैं और तू दोनों समान हैं, मैं जो कहता हू उसे तू बराबर समझ जायगा।" आचार्यदेवने पहली गाथामें ही सबको सिद्धसम स्थापित करके प्रारंभ किया है। उनने यह नहीं कहा कि 'तू नहीं समझता इसलिये कहता हूं।'

जैनधर्म वस्तु प्रदर्शक धर्म है। वस्तु त्रिकाल है, वस्तुका स्वभाव त्रिकाल है। वस्तुप्रदर्शक धर्म को कालकी मर्यादा (कैद) से नहीं रोक जा सकता। क्यों कि वस्तु और वस्तु स्वभाव को दिखानेवाला जैनधर्म है; और वस्तु त्रिकाल है इसलिये धर्म भी त्रिकाल ही है। धर्म को काल की मर्यादा में नहीं बांधा जा सकता। वस्तु त्रिकाल है, इसलिये उसका प्रदर्शक धर्म भी त्रिकाल है।

सत्य तो नग्न ही है, वह किसी का लिहाज नहीं करता। सत्य त्रिकाल एक रूप ही है। "एक होय त्रण कालमां परमारथनो पंथ।" परमार्थ का पंथ अर्थात् सत्यधर्म त्रिकाल में एक ही होता है। उसमें काल का कोई असर नहीं होता। यह नहीं हो सकता कि महावीर भगवान के समय तो दूसरा मार्ग हो और उसके बाद उससे भिन्न मार्ग हो।

जैनधर्म का कथन त्रिकालिक वस्तु स्वभाव के आधार से है। अनुभव जैनधर्म की नीव है। युक्तिवाद जैनधर्म की आत्मा है। सत्यमार्ग किसीसे भी नहीं रोका जा सकता। जो उसके रोकने का प्रयत्न करेगा वह स्वयं ही चार गतियों के भ्रमण में रुक जायगा। तत्व किसी व्यक्ति-पर आश्रित नहीं है, और न किसीसे उसकी उत्पत्ति है। यह नहीं है कि सर्वज्ञ के होने से धर्म हुआ है। वस्तु त्रिकाल है; वस्तु के धर्म को रोकने में कोई समर्थ नहीं है। चौथा काल हो या पंचम काल; कोई भी धर्म पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डाल सकता। प्रत्युत जैसा धर्म है वैसा ही त्रिकाल है।

हलुवा त्रिकाल में आटा, घी, और शक्कर का ही बनता है; इनके सिवाय रेत, पानी और मिट्टी से न तो कभी हलुवा बना है और न बनेगा। इसी प्रकार मोक्ष-मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीनों को मिलाकर होता है। इन्हें छोडकर पुण्यादि से तीन लोक और त्रिकाल में भी मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

मात्र ज्ञानका अवलम्बन ही मोक्ष का उपाय है, मात्र चैतन्य ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन को छोड़कर अन्य किसी भी उपाय से मोक्ष नहीं हो सकता। मात्र ज्ञान के अवलम्बन से पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा हो जाती है। और समस्त कर्मों का नाश होनेपर साक्षात् परिपूर्ण मोक्ष-दशा प्रगट होती है। सम्यग्ज्ञान की ऐसी महिमा है। ★

भयोंका साम्राज्य

—: लेखक :—
रामजीभाई माणेकचंद दोशी

सुखचंद—भाई! इस संसार में जहां देखते हैं वहां दुःखकाही साम्राज्य दिखाई देता है, क्या यह सच है?

ज्ञानचंद—आप जो कुछ कहना चाहते हैं उसे कोइ दृष्टांत देकर अधिक स्पष्ट किजिये।

सुखचंद—देखो, संसारमें राजा को प्रजासे दुःख मालूम होता है, और मजदुरों को संपत्तिशालियों से। राज्य क्रांतिकारियोंसे भयभीत है और मनुष्य शरीरके रोगों और अकाल के दुःखोंसे भयभीत है और निर्बलों को बलवानोंका भय मालूम होता है। यह सच है न?

ज्ञानचंद—हां, लोकमें जीवोंको विविध प्रकारके भय होते हैं, आपने तो बहुत कम बताये हैं। यदि उन्हें और अधिक देखा जाय तो वे अनगिनती हैं और यदि हम उन्हें एक मर्यादामें बांधकर विचारें तो जगतके तमाम भयोंका समावेश सात भयोंमें हो सकता है और वे सात भय निम्न प्रकार हैः—

१–इस भवमें जीवनपर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं इसका भय।

२–मरण होने के बाद पर भव होगा कि नहीं और यदि होगा तो मेरा क्या होगा, इसका भय।

३–शरीमें रोग जनित वेदना का भय।

४–मुझे शरण देनेवाले-सगे, संबंधी, रिश्तेदार, कुटुंबी, मालिक, और राज्य इत्यादि मेरी रक्षा करेंगे कि नहीं? कभी मुझसे प्रतिकूल तो नहीं हो जायेंगे? इसका भय।

५–मेरी गोपनीय वस्तुओंको जो मैंने बहुत हीफाजत के साथ रख छोड़ी हैं, पता लग जाने पर उन्हें कोई चोर तो नहीं चुरा ले जायगा। अथवा कोई किसी प्रकारकी हानि तो नहीं कर देगा? इसका भय।

६–मेरी इंद्रियां शिथिल होती जा रही हैं, अब कहीं मैं मर तो न जाऊंगा, इसका भय।

७–किसी प्रकारकी कोई आकस्मिक घटना तो नहीं हो जायगी जिसे मुझे हानि हो जाय इसका भय।

इस प्रकार यह ७ भय हैं, जो संसारी जीवों के मनमें निरंतर उठा करते हैं।

सुखचंद—इन भयों को मिटाने का कोई उपाय भी है या नहीं?

ज्ञानचंद—देखो, क्या कभी किसीको ऐसा भय भी होता है कि बर्फ ठंडा है, यदि मैं इसे छुऊंगा तो जल जाऊंगा।

सुखचंद—ऐसा बिलकुल नहीं होता।

ज्ञानचंद—इसका कारण क्या है?

सुखचंद—इसका कारण यह है कि लोग बर्फका स्वभाव जानते हैं, इसलिये उन्हें यह भय नहीं हो सकता कि वह हमें जला देगा।

ज्ञानचंद—क्या कभी आप रस्सी को देखकर ऐसा भी भय कर बैठते हैं कि यह रस्सी मुझे काटेगी?

सुखचंद—कभी नहीं, क्यों कि हम जानते हैं कि रस्सी का काटने का स्वभाव नहीं है।

ज्ञानचंद—और यदि उसी रस्सी को आप अंधेरे में देखें तो क्या उसे सर्प समझकर भयभीत नहीं हो जाते कि कहीं मुझे यह काट न खाय।

सुखचंद—हां, अवश्य! उस भय के कारण मैं दूर भाग जाऊंगा

ज्ञानचंद—क्यों? इसका क्या कारण है?

सुखचंद—इसका कारण यह है कि उस समय हमें उस वस्तु के संबंध में ज्ञान नहीं होता कि वह क्या है? इसीलिये हानि के भय से हम दूर भागते हैं।

ज्ञानचंद—देखिये, तब इससे यह निश्चय हुआ कि जब वस्तु स्वभाव के संबंध में अज्ञान होता है वहां आदमी भय से घबरा जाता है।

सुखचंद—यह बात ठीक है किन्तु कभी-कभी ज्ञान के होने से भी भय होता है और अज्ञान से सुख भी होता है।

ज्ञानचंद—इसका कोई उदाहरण दीजिये।

सुखचंद—देखिये, एक आदमी का लड़का मर गया है क्योंकि जबतक उसे इस बातका ज्ञान नहीं है तबतक वह दुःखी नहीं होता और जब उसे इसकी खबर मिल जाती है तब वह दुःखी होता है। इसलिये एक अंगरेजी कहावत के अनुसार 'अज्ञानता सुख है'।

Ignorance is bliss

ज्ञानचंद—अपने जो उदाहरण दिया है, उसमें ज्ञान दुःख का कारण नहीं है, किन्तु दुःख का कारण है उसकी ममता; जिससे वह सोचता है कि यह पुत्र मेरा है, उसके न होने से हमारी सब मिलनेवाली सुविधायें

बंद हो जायगी। अथवा अब मेरा वश नहीं चलेगा या वह भविष्य में जो मेरी सेवा करने वाला था सो वह अब नहीं हो सकेगी। और यदि ज्ञान से भय होता तो जिस जिसने उस लड़के की मरण की बात को जाना है उन सब को दुःख होना चाहिये। मां और बाप दोनों को पुत्र मरण का ज्ञान होनेपर प्रायः मां अधिक रोया करती है और बाप कम। अथवा कहीं कहीं पर बाप भी अधिक रोता है, इसका कारण क्या है?

सुखचंद—तो फिर मैंने जो अंगरेजी कहावत (अज्ञानता सुख है) कही थी उसके संबंध में आप क्या कहते हैं।

ज्ञानचंद-अरे भाई! यह कहावत तो अज्ञानियोंने बनाली है, यदि वे भी सच मानते हों तो वे अपने व्यापार आदिक में होनेवाले हानिलाभ से क्यों ज्ञात रहना चाहते हैं। वे अपने लड़के को क्यों पढ़ाते हैं? क्या उन्हें ज्ञान या सुख इष्ट नहीं है? यदि वे उस कहावत को ठीक मानते हों तो ऐसा क्यों करते हैं?

सुखचंद—तो क्या इस संबंध में कोई सच्ची कहावत भी आप जानते हैं?

ज्ञानचंद—हां! 'ज्ञान ही बल है' इस आशय की एक अंगरेजी कहावत है।

Knowledge is power

सुखचंद—यह कहावत तो कुछ ठीक नहीं मालूम होती क्योंकि बहुत से शिक्षित, बुद्धिमान् और समझदार माने जाने वाले आदमी कमजोर दिखाई देते हैं और ज्ञानहीन-बुद्धिहीन आदमी शरीर से बलवान होते हैं यदि वे उन बुद्धिमान समझदार लोगों को एक धक्का लगायें तो वे बिचारे साष्टांग प्रणाम करते हुये दिखाई दें।

ज्ञानचंद—अरे भाई! आप तो इस कहावत का अर्थ ही नहीं समझे।

सुखचंद—तो अब आप सच्चा अर्थ समझाइये।

ज्ञानचंद—आपने तो अपने दृष्टांत में जीव और शरीर को एक मान लिया इसलिये सच्चा अर्थसमझ में नहीं आया।

सुखचंद—यदि आप अपनी बात को सिद्धकर बतायें तो मैं मानूंगा। आपने ही कहा था कि कारणों को जाने बिना-परीक्षा किये बिना किसी बात को नहीं मानना चाहिये। इसलिये आप पहले कारण बताइये।

ज्ञानचंद—आप कारण जानना चाहते हैं सो ठीक है। क्यों कि अंधश्रद्धा शून्यवत् कही गई है। अब हम कारणों के संबंधमें कल चर्चा करेंगे।

(२)

सुखचंद—"ज्ञान ही बल (सत्ता-अधिकार) है" इस कहावत का आप क्या अर्थ करते हैं?

ज्ञानचंद—ज्ञान भय को जीतने वाला बल है और ज्ञान वह कहलाता है जो सत्य हो और दोष रहित हो। सच्चा ज्ञान ही वास्तविक बल है। क्यों कि दृढ़ता हो जाने पर जीव के भय नहीं होता और उससे जीव को शांति बनी रहती है।

सुखचंद—अपने पहले सात प्रकार के भय बताये थे, वे भय ज्ञान से किस प्रकार दूर हो सकते हैं यह समझाइये।

ज्ञानचंद—इस भव में जीवन पर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं सो यह इसलोक का भय है। इसभय को दूर करने का साधन यह है कि ज्ञानमें यह निर्णय करना चाहिये कि पर वस्तु मुझे अनुकूल या प्रतिकूल हो ही नहीं सकती। मेरी समझ में जो दोष है वही सच्ची प्रतिकूलता है। मेरा चैतन्य ज्ञानगुण ही मेरा लोक है और वह नित्य है, सर्वकाल में प्रगट है। मेरे उस चैतन्य स्वरूप लोक को अन्य कोई न तो बिगाड ही सकता है और न सुधार ही सकता है। मेरा लोक मैं स्वयं चैतन्यरूप (शरीर-रागद्वेष-पुण्यपाप से पर) हूं। मेरालोक नित्य मेरे साथ ही है उसे इस लोक में या पर लोक में कोई भी वस्तु दुःखदाई या भयजनक नहीं है। यों समझकर जो दृढ हो जाता है उसके भय नहीं होता।

सुखचंद—आपने दोष रहित ज्ञान को सच्चा ज्ञान कहा है तो अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान में कितने प्रकार के दोष होते हैं?

ज्ञानचंद—(१) संशय (२) विपर्यय (३) अनध्यवसाय (अनिर्णय) यह तीन ज्ञानके दोष हैं। जो जीव इन दोषों को दूर करदेता है उसी के सच्चा ज्ञान होता है।

सुखचंद—कुछ लोग कहते हैं कि आप तो जहां देखो वहां सच्चा ज्ञान-सच्चा ज्ञान करना ही कहा करते हैं।

ज्ञानचंद—जिसे सच्चे ज्ञान के प्रति अरुचि होती है उसके ऐसे ही भाव होते हैं। समझने की रीति तो यह है कि समझने की बुद्धि से पहले समस्त बद्ध मान्यताओं को थोड़े समय के लिये एक ओर रखकर यदि जीव सुनकर यह निश्चय करे कि सत्य क्या है तब ही सच्चा उपाय उसकी समझ में आसकता है। उसने स्वयं जो मान्यताएं बना रखी हैं वे यदि सच हों तो उनका दुःख दूर क्यों नहीं हो जाता, शांति क्यों नहीं होती? जिसे पर कल्पित सुविधाओं से सुख मानना हो उसे यह ध्यानमें रखना होगा कि परकल्पित सुविधायें अल्प समय में अदृश्य हो जांयगी और

कल्पित असुविधाओं का ढेर आ खड़ा होगा। कल्पनाओं के घोड़ों से दुःख दूर नहीं किया जा सकता क्योंकि वे कल्पनाओं के घोड़े स्वयं दुःख उत्पन्न करने वाले हैं।

सुखचंद—ज्ञान से लाभ होता है ऐसी मान्यता संसार में भी प्रचलित है। और वे उसी के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जैसेः-

(१)-यदि ज्ञान की प्रधानता न हो तो लोग अपनी संतान को क्यों पढ़ाते हैं?

(२) पेट में दर्द होने पर उसके उपाय के लिये आयुर्वेदिक वैद्य के पास क्यों जाते हैं? किसी कानूनज्ञ वकील के पास क्यों नहीं जाते?

(३) किसी व्यावहारिक कार्य में जब कोई समस्या (कठिनाई) खड़ी हो जाती है तो उसका हल करने के लिये उस कार्य के ज्ञाता के पास क्यों जाते हैं?

(४) यदि अच्छी हंड़िया बनवानी हो तो उसके जानने वाले कुम्हार के पास जाते हैं किन्तु उसके लिये अच्छे डाक्टर, वैद्य या किसी जोहरी के पास कोई नहीं जाता।

इन दृष्टांतों से यह सिद्ध हुआ कि लोग भी अपनी असुविधाओंको मिटाने का उपाय सच्चा ज्ञान ही मानते हैं। ऐसा होने पर भी किसी ने किसी प्रकार का दुःख तो बना ही रहता है, इसका क्या कारण है।

ज्ञानचंद—इसका कारण यह है कि लोग परीक्षा करके यह निश्चय नहीं करते कि आत्मा के स्वरूप का सच्चा ज्ञान क्या है?

सुखचंद—आपने कहा है कि कल्पित सुविधायें अल्प समय में अदृश्य हो जायगी इसका कारण क्या है?

ज्ञानचंद—परसे सुविधा मिलती है यह कल्पना अपने ज्ञान की विकृत (विपरीत) अवस्था है और विकृत अवस्थाओं के पहलू बदलते रहते हैं।

सुखचंद—कुछ आदमियों के और राजाओं के समस्त जीवन पर्यंत अमुक प्रकार की सुविधायें तो बनी ही रहती हैं इसका क्या?

ज्ञानचंद—मेरी बात को आप ठीक नहीं समझ सके इसलिये कुछ और अधिक स्पष्ट कहता हूं।

पर वस्तु से न तो सुविधा है और न असुविधा। पर वस्तु तो मात्र जानने लायक (ज्ञेय) पदार्थ है। जीव मात्र यह कल्पना कर लेता है कि परवस्तुकी अवस्था मुझे सुविधाजनक है और कोई जीव यह भी कल्पना कर लेता है कि अमुक वस्तु मुझे असुविधा जनक है। पर वस्तु का संयोग एक समान किसी जीव के लिये जीवन भर रह ही नहीं सकता। यदि किसी वस्तुका संयोग रहता भी है तो उस वस्तुकी अवस्थाएं तो बदलती ही रहती है। इसलिये पर वस्तु की सुविधा असुविधा की कल्पना करने वाले जीव के कल्पनाओं के घोड़े बदले बिना नहीं रह सकते।

सुखचंद—तब तो सुख और दुःख मन की कल्पना ही रही, सच्चा सुख तो मालूम ही नहीं होता।

ज्ञानचंद—यह बात नहीं है। सांसारिक सुख दुःख तो पर वस्तु से होनेवाली सुविधा और असुविधा की कल्पना है। और वह कल्पना केवल कपोल कल्पित होने से हवाई किला ही सिद्ध होती है। यदि अधिक स्पष्ट कहा जाय तो वह शेखचल्ली के हवाई किले के समान है। सच्चे ज्ञान की दृढ़ता का फल शांतिरूप सच्चा सुख है और वह निश्चल है

सुखचंद—आपने यह समझा दिया कि इसलोक और परलोक का भय कैसे दूर हो सकता है। अन्य भयों के संबंध में अब फिर कभी चर्चा करेंगे।

ज्ञानचंद—बहुत अच्छा!

(३)

सुखचंद—अन्यभय कैसे दूर हो सकते हैं?

ज्ञानचंद—रोग शरीर में होता है, शरीर रजकणोंका बना हुआ है। रजकण अजीव जड़ पुद्‌गल हैं। मैं जीव हूं और शरीर परवस्तु है इस लिये पर होनेसे यदि वह बनता बिगड़ता है तो उससे मेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। जीव का शरीर तो ज्ञान शरीर है वह सदा अचल है—सदा निराकुल है, इसलिये रोग की वेदना मुझे नहीं हो सकती। मैं तो ज्ञान-स्वरूप का ही भोग करनेवाला हूं। पुद्‌गल से उत्पन्न रोगरूप अवस्था वेदना है ही नहीं इसलिये यथार्थ वस्तु तत्त्व को समझने वाले को वेदना का भय नहीं हो सकता, इस प्रकार यथार्थ समझ की दृढ़ता से वेदना का भय नष्ट हो जाता है। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

सुखचंद—अरक्षा का भय कैसे मिट सकता है?

ज्ञानचंद—मैं एक स्वतंत्र चैतन्य वस्तु हूं इसलिये मैं स्वयं निजसे रक्षित हूं, कोई पर मेरी रक्षा नहीं कर सकता मैं कोई ऐसी वस्तु नहीं हूं कि दूसरे मेरी रक्षा करें तो मैं रह सकता हूं नहीं तो मैं नष्ट हो जाऊंगा, इस ज्ञान की रटन से अरक्षा का भय दूर हो जाता है।

सुखचंद—पुण्य जीव की रक्षा करने वाला रखवाल तो है न?

ज्ञानचंद—मैं पूछता हूं कि पुण्य क्षणिक है या त्रिकाल में रहनेवाला?

सुखचंद—पुण्य तो क्षणिक उत्पन्न ध्वंसी है।

ज्ञानचंद—तब तो आप ही सोचिये कि क्षणिक भाव त्रिकाली आत्मा का रक्षक कैसे हो सकता है?

सुखचंद—कुछ लोग कहते हैं कि यदि कोई इसे समज लेगा तो पुण्य नहीं करेगा।

ज्ञानचंद—ऐसा तो वे ही कह सकते हैं जो यह जाने कि 'मनुष्य यदि सच को समझ लेगा तो वह विपरीत चलेगा।' सत्य को समझने वाला मनुष्य पुण्य में नहीं लगकर शुद्धता में लगेगा उससे वह अपने समस्त विकारों को दूर करके सर्व भयों से मुक्त हो जायगा। यह तो हो नहीं सकता कि ज्यों ज्यों विकार बढ़ेगा त्यों त्यों भय दूर होगा। अज्ञानी के पुण्य का भाव इस मान्यता पर निर्भर है कि पर से निज को अनुकूलता होती है। ज्ञानी जब शुद्ध में नहीं रह सकता तब वह अशुभ को दूर करने के लिये शुभ में लग जाता है, किन्तु उससे वह धर्म नहीं मानता इसलिये उसे अवांछक वृत्ति होने के कारण उच्च पुण्य की प्राप्ति होती है।

सुखचंद—दूसरे लोग वैसा उपदेश क्यों नहीं देते?

ज्ञानचंद—प्रत्येक जीव वैसा ही उपदेश देते हैं जो अपने को ठीक लगता है। जिज्ञासु को उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। प्रत्येक व्यापारी अपने माल को बहुत अच्छा कहता ही है। जीवों को पुण्य का अर्थात् भेदरूप व्यवहार का पक्ष अनादिकाल से ही है और उसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी करते हैं, किन्तु उसका फल संसार है।

सुखचंद—उसका फल संसार क्यों है?

ज्ञानचंद—पुण्य क्षणिक है, उत्पन्न ध्वंसी है और वह विकारी है, इसलिये उसका फल संसार है। यदि प्रकारांतर से कहा जाय तो वह बढ़ता है और बिखर जाता है, इसलिये जो पुद्गल भाव है उसका फल भी पुद्गल वस्तु का संयोग है। विकार का फल सच्चा सुख नहीं हो सकता और न विकार से भय ही दूर हो सकता है।

सुखचंद—आपके कहने से तो यह मालूम होता है कि जो अपने आत्मा को जानता है उसे अरक्षा भय नहीं रहता क्योंकि आत्मा को कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकता और वह स्वयं अपने आप ही रक्षक है।

ज्ञानचंद—हां यही बात है।

सुखचंद—तब तो इस प्रकार से वह परसे गोपित ही है इसलिये उसे गुप्ति भय रखने का वास्तव में कोई कारण नहीं है, यह ठीक है न?

ज्ञानचंद—सम्यग्दृष्टि के ऐसी ही मान्यता होती है और इसीलिये उसके मरणभय या आकस्मिक भय नहीं होता। वह जानता है कि जीव मरता नहीं है और न उसके कभी अकस्मात ही होता है। यह दशा असंयत सम्यग्दृष्टि के होती है।

★★

(१)

सम्यक्‌दर्शन संपूर्ण दुःख का नाश करता है, इसलिये हे जीव! तू इसमें प्रमादी मत हो।

शंकाः—सम्यक्‌दर्शन से सर्व दुःखों का नाश कैसे होता है?

समाधान— सम्यक्‌दर्शन ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप का आधार है। इसलिये वह संपूर्ण दुखों का नाश करता है; यों समजना चाहिये।

शंका—परिणाम परिणामी द्रव्य के आधार से रहता है; इसलिये अन्योन्य आधार नहीं हो सकता। फिर भी आप यह कैसे कहते हैं कि सम्यक्त्व परिणाम ज्ञानादि परिणाम का आधार है।

समाधान—जैसे परिणाम शील द्रव्य के बिना (आत्मा के बिना) ज्ञानादिक नहीं रहते, उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप को सम्यक्‌दर्शन के बिना सम्यक्‌पना प्राप्त नहीं होता; इसलिये सम्यक्‌दर्शन को आधार माना है।

(२)

जिस प्रकार नगर में प्रवेश करने का उपाय द्वार है, उसीप्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप का आत्मा में प्रवेश होने के लिये सम्यक्‌दर्शन द्वार के समान है। अर्थात् जब आत्मा में सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञानादिक का प्रवेश होता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌तप और सम्यक्‌चारित्र आदि की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। सम्यक्‌दर्शन की प्राप्ति न होने से जीवको अवधि इत्यादिक विशिष्ट ज्ञान यथाख्यात चारित्र तथा कर्म की अतिशय निर्जरा करने वाला तप प्राप्त नहीं होता।

जैसे आंखों से चहेरे में सुंदरता आती है उसीप्रकार ज्ञानादिक में सम्यक्‌दर्शन से सम्यकपना प्राप्त होता है।

जैसे वृक्ष में जड़ के कारण दृढ़ता आती है उसी प्रकार ज्ञानादिक में स्थिरता अथवा दृढ़ता सम्यक्‌दर्शन से प्राप्त होती है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

रामजीभाई माणेकचंद दोशी
---संकलियता

(३)

जो जीव सम्यक्‌दर्शन से भ्रष्ट हैं उसे ही भ्रष्ट समझना चाहिये। दर्शनभ्रष्ट जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। चारित्रभ्रष्ट जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है किन्तु दर्शन-भ्रष्ट जीवको मुक्ति लाभ नहीं होता।

जो जीव सम्यक्‌दर्शन से भ्रष्ट है उसे भ्रष्टतम कहा गया है। चारित्रभ्रष्ट जीव को दर्शनभ्रष्ट नहीं माना जाता। अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीव से दर्शनभ्रष्ट जीव अतिशय भ्रष्ट है। जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं किन्तु सम्यक्‌दर्शन से च्युत नहीं होते, उनके संसार पतन नहीं है।

शंका-असंयम से उत्पन्न पाप के भार से जीव को संसार में भ्रमण करना ही पडता हैं; फिर भी आप यह कैसे कहते हैं कि चारित्रभ्रष्ट जीव के संसार पतन नहीं होता।

समाधान-चारित्रभ्रष्ट जीव चारों गतियों में भ्रमण नहीं करता। उसके संसार अल्प रह गया है। इसलिये यह कहा गया है कि उसके संसार नहीं है। (जैसे किसी के पास थोडा धन रह गया हो तो वह धनिक नहीं कहलाता) परंतु दर्शनभ्रष्ट मनुष्य अनंत कालतक संसार में परि-भ्रमण करता है इसलिये वह अत्यंत निकृष्ट है।

(४)

शंका, कांक्षा इत्यादि अतीचारों से रहित अविरत सम्यग्दृष्टि के भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध मान माया लोभ के उदय से होनेवाले परिणामों में हिंसादिक से विरक्तता उत्पन्न न होने पर मात्र निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण करने वाले मनुष्य के तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है।

शंका—विनयसंपन्नता आदि अन्य कारणों से भी तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है तो फिर ऐसी क्या विशि-ष्टता है जो सम्यक्‌दर्शन में ही हो?

समाधान—सम्यक्‌दर्शन होने पर ही विनय संपन्न-तादि तीर्थंकर कर्म बंधके कारण होती है अन्यथा विनय संपन्नतादि में कारणता नहीं होती। मात्र सम्यक्‌दर्शन की सहायतासे ही श्रेणिक राजा भावी अरहंत हुये हैं।

शंका—श्रेणिक राजा भविष्य कालमें अरहंत होने वाले है, उन्हें अरहंत अवस्था प्राप्त नहीं हुई है फिर भी यह कैसे कहते हैं कि वे अरहंत हो गये?

समाधान—भविष्यकालका अरहंतपद यद्यपि अभी निष्पन्न नहीं हुआ है फिर भी वे निश्चय से होने वाले है। इसलिये यह कहना उचित है कि वे हो गये हैं।

(५)

इस निर्मल सम्यक्‌दर्शन की भूमिकामें राग के कारण इंद्र पदवी, चक्रवर्तित्व, अहमिन्द्रपद तथा तीर्थंकरपद ऐसी कल्याण परंपराको लिये हुये उत्तरोत्तर पदवी मिलती है। यह सम्यक्त्व रत्न इतना मूल्यवान है कि देव और असुरों के साथ यदि संपूर्ण लोककी तुलना की जाय तो भी उसकी कीमत नहीं चुकाई जा सकती। अर्थात् संपूर्ण त्रिलोकको अर्पित कर देनेपर भी सम्यक्त्व रत्न नहीं मिलता।

एक और सम्यक्‌दर्शनका लाभ हो और दूसरी और त्रिलोकका लाभ हो तो इन दो लाभों में से सम्यक्‌दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। त्रिलोकका लाभ मिलने पर भी वह अल्प समयमें नष्ट हो जाता है। किन्तु सम्यग्दर्शन का लाभ जीवको अविनाशी सुख देने वाले मोक्षकी प्राप्ति कराता है।

इसलिये सम्यक्‌दर्शन का लाभ त्रिलोक के लाभ से श्रेष्ठ है अतः उसे प्राप्त करने के लिये प्रत्येक जीवको प्रयत्न करना चाहिये।

— १ —

संसारका मूल कारण मिथ्यात्व ही है अर्थात् मिथ्या-श्रद्धा ही संसार का मूल है इसलिये हे जीव! तू इस का त्याग कर। मिथ्यात्व गुणोंसे युक्त बुद्धिको भी मुग्ध (मूर्च्छित) कर देता है।

शंका—आप मिथ्यात्वको सर्व दोषों में प्रधान कहते है यह योग्य नहीं है। जैसे मिथ्यात्व अपने कारण से उत्पन्न होता है उसी प्रकार असंयम आदिक की उत्पत्ति भी अपने अपने कारण से होती है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि मिथ्यात्व का दोष पहले और चारित्र का दोष बाद में मालूम होता है। क्योंकि आत्मा में हमेशा आठों कर्मोका सद्भाव रहता है।

समाधान—सामान्य तया सूत्रकार ने "मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाय योगाःबंधहेतवः" इस सूत्र में मिथ्यात्व को पहला स्थान दिया है। अर्थात् बंधके कारणों में मिथ्यात्व

का प्रथम उल्लेख है। संसार बंधपूर्वक है और संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन है!

(२)

यह मिथ्यात्व, बुद्धि को विपरीत कर देता है। सुनने की इच्छा, शास्त्र श्रवण करना, श्रवणकरके उसे हृदय में धारण करना, कालांतर में भी धारण किये हुये को न भूलना इत्यादिक बुद्धि के गुण हैं। मिथ्यात्व उन्हें भी विपरीत बना देता हैं। अर्थात् बुद्धि और श्रवण-इच्छा इत्यादिक उसके कारण भी मिथ्यात्व के सहवास से विपरीत हो जाते हैं।

इसलिये हे जीव! तू मिथ्यात्व का त्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना में अपने को स्थिर कर।

(३)

शंका-जो वस्तु जिस स्वरूप को धारण नहीं करती उसे ज्ञान अन्यरूप में कैसे जानता है?

समाधान-ज्ञान विपरीत भी होता है क्योंकि ज्ञान को विपरीत होने के कारण मिलते हैं। दृष्टांत-सूर्य की प्रचंड किरणों से जब धरती अत्यंत गरम हो जाती है तब उसकी उष्णता सूर्य की किरणों में मिश्रित होकर पानी जैसी दिखाई देती है। उस समय जिनकी आंखें प्यास से संतप्त हो रही हैं उन हिरणों को सूर्य की किरणों में जल का आभास होने लगता है (इसे मृगमरीचिका कहते हैं) उसीप्रकार मिथ्यात्व दशामें इस जीवको असत्य पदार्थ भी सत्य मालूम होने लगते हैं। मिथ्यात्व ग्रस्त जीव अतत्त्व को तत्त्व समझता है।

(४)

मिथ्यात्व से उत्पन्न होने वाले भ्रम की अपेक्षा धतूरे के सेवन से होनेवाली उन्मत्तता अच्छी है। क्योंकि मिथ्यात्व से होनेवाली उन्मत्तता अनेक कुयोनियों में जन्म मरण की वृद्धि करती है, तब धतूरे के सेवन से उत्पन्न होनेवाला पागल पन जन्म मरण की वृद्धि नहीं करता। तथा थोड़े दिनतक ही स्थिर रह सकता है, इसलिये अनंत कालतक विपरीत स्वरूप दिखाने वाला मिथ्यात्व-जन्य मोह परिणाम अत्यंत निकृष्ट है, यों समझना चाहिये।

जन्म मरण के प्रवाह से डरने वाले हे जीव! तू इस दुष्ट मिथ्यात्व का त्याग कर।

(५)

अनादिकाल से जीव के साथ मिथ्यात्व चला आया है, इसी लिये यह जीव सम्यक्त्व में रमण नहीं करता। अनादि काल से आजतक इस जीव को मिथ्यात्व का स्वाद लगा हुआ है। इसलिये यह जीव सम्यक्त्व में नहीं रमता। इसलिये आचार्य इस जीवको वारंवार सम्यक्त्व में प्रयत्न करने का उपदेश देते हैं कि अनंतकाल से मिथ्यात्व का अभ्यास होने से उसके त्याग करने में अधिक पुरुषार्थ की आवश्यक्ता है। जिस प्रकार सर्प अपने चिर परिचित बिल में जाता हुआ रोकने पर भी प्रवेश करता है उसी प्रकार इस जीव को मिथ्यात्व का त्याग करने और सम्यक्त्व में दृढता प्राप्त कराने के लिये वारंवार मिथ्यात्व त्याग का उपदेश देना अयोग्य नहीं है।

(६)

अग्नि, विष और काले सर्प इत्यादि से भी जीवकी उतनी हानि नहीं होती कि जितनी महा हानि मिथ्यात्व से होती हैं। अर्थात् तत्त्व में अश्रद्धा करने से जीव को संसार में परिभ्रमण करना पडता है।

अग्नि, विष और काले सर्प इत्यादि से जीव की हानि एक ही भवमें हो सकती है किन्तु मिथ्यात्व से अनेक कोडा कोडि भवों तक में हानि होती है।

(७)

विषाक्त बाणके शरीर में प्रवेश होने से उसका विष सारे शरीर में फैल जाता है और मनुष्य प्राण रहित हो जाता है। अर्थात् उस पुरुष का कोई उपचार नहीं हो सकता, उसीप्रकार मिथ्यात्व शल्य से विंधा हुआ मनुष्य तीव्र वेदना का अनुभव करता है।

(८)

यह आशा करना व्यर्थ है कि मिथ्यात्व युक्त होने पर भी मैंने दुर्द्धर चारित्र का पालन किया है, इसलिये वह दीर्घ संसार से मेरी रक्षा कर लेगा।

इसका दृष्टांत यह है कि बहुत सुंदर किन्तु कडवी तूंबडी में रखा हुआ दूध कडवा हो जाता है अर्थात दूध का माधुर्य नष्ट हो जाता है किन्तु शोभा रहित शुद्ध तूंबडी में रखा हुआ दूध कडुवा नहीं होता, वह मधुर और सुवासित बना रहता है।

(९)

उसी प्रकार मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत रुचि से विपरीत बने हुये जीव के तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य इत्यादि गुण नष्ट हो जाते हैं। मिथ्यात्व रहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्तिका उपाय है किन्तु अकेला तपादिक मुक्तिका उपाय नहीं है। जब सम्यक्दर्शन की

प्राप्ति होती है तब तपादिक में सम्यक्‌पना आता है और उसके अभावमें तपादिकमें सम्यक्‌पना नहीं आ सकता। जिसने मिथ्यात्वका त्याग किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव में तपादिक सद्‌गुण सफल होते हैं। ऐसे तपश्चरण से ऐह लौकिक सुख और इंद्रादि पदकी प्राप्ति होती है और मोक्ष सुखका भी लाभ होता है। पूर्ण शुद्धि होनेसे पहले यदि आयु पूर्ण हो जाय तो देव होकर मनुष्यमें दशांगी सुखमें जन्म लेकर साधुपद स्वीकार करके मोक्षपद पाता है और यदि उसी भवमें पूर्ण शुद्धि करले तो उसी भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(१०)

शास्त्र का सामान्य कथन है कि भव्य और अभव्य जीव अनंतवार नवमें ग्रैवेयक तक हो आया है तब प्रश्न यह होता है कि जीव ऐसा क्या करे कि जिससे वह नवमे ग्रैवेयक तक जा सके। इसका उत्तर नीचे दिया जाता है:-

सम्यक्‌दर्शन के बिना शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्तियों और पांच समितियों के प्रति सावधानी से युक्त अहिंसादि पंच महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र का पालन करे तो उसका फल नवमा ग्रैवेयक है। वह मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट शुभभाव है। इसलिये जीवने जो काम अनंतवार किया और यदि वह पुनः वही काम करता है तो उसे उसका वही फल मिलता है। अर्थात् उसके संसार बना रहता है। इसलिये जीवको विचार करना चाहिये कि उसने अनंतकाल में क्या नहीं किया।

तटस्थ विचारक को मालूम होगा कि जीव शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं समझ पाया अर्थात् उसने सम्यक्‌दर्शन प्रगट नहीं किया इसीलिये वह संसार में भटकता रहा। अर्थात् इसीकारण से उसका दुःख बना रहा। इसलिये सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करना अपूर्व है (इससे पूर्व कभी प्राप्त नहीं किया था) यह निश्चय करके उसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं समझलेना चाहिये कि पुण्य को छोड़कर पाप करने को कहा जा रहा है। जबतक शुद्धता प्राप्त नहीं हो जाती तबतक पाप को छोड़कर पुण्य में रहना चाहिये किन्तु उसे धर्म अथवा धर्म का कारण नहीं मान लेना चाहिये।

यह बात लक्ष्य में रखना आवश्यक है कि ज्ञान का प्रगट होना सम्यक्‌दर्शन नहीं है। जीव को ज्ञान का प्रागट्य अनंतबार ऐसा हुआ है कि इसने ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त किया, किन्तु शुद्ध ज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण आत्मा ने अपने यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा नहीं की। ज्ञान का प्रगट होना और स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा का होना यह दोनों बिल्कुल भिन्न गुण हैं। ★

(शेष पृष्ठ १२६ से)

प्रश्नः-माना कि आत्मा के लिये केवलज्ञान या मोक्ष होने में जड किसी प्रकार की सहायता नहीं करता; किन्तु वह जडकर्म आत्मा को संसार में तो परिभ्रमण कराता है न?

उत्तर—एक द्रव्य दुसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, यह सिद्धांत पहले बताया जा चुका है। सिद्धांत में अपवाद के लिये कोई स्थान नहीं होता। आत्मा अपने विपरीत भाव के कारण संसार में चक्कर लगाता है। आत्मा का संसार भी आत्मामें ही है किसी बाह्य वस्तु में नहीं है।

विपरीत भाव हीं संसार है, कर्म संसारमें चक्कर नहीं खिलाते, आत्मा के सुखदुःखका कारण आत्मा के उस समय के भाव हैं। कर्म अथवा कर्मका फल सुख दुःखका कारण नही है। नरक या स्वर्ग का क्षेत्र आत्मा के दुःख सुख का कारण नहीं है। नरकमें होने पर भी आत्मा अपने स्वभाव का भान करके शांति का अनुभव कर सकता है। इन्द्रिय की हीनता जडकी अवस्था है। वह आत्मा के दुःखका कारण नहीं; किन्तु आत्मा अपने गुणकी विपरीतता के कारण अपने ज्ञान के प्रगट होने की शक्ति को खो बैठा है, उसका ही वह दुःख है। यदि कर्म आत्मा को दबाते हों तो आत्माको छोडने वाले भी कर्म ही सिद्ध होंगे और ऐसा होने पर मोक्ष का पुरुषार्थ ही नहीं रहेगा; किन्तु ऐसा हो जायगा कि जब कर्म मार्ग देगा तब मोक्ष हो सकेगा और तब यह कहलायेगा कि आत्माका नहीं किन्तु कर्मका मोक्ष होता है।

आत्मा के ऊपर कर्मकी बिल्कुल सत्ता न होने पर भी भ्रमसे मिथ्या कल्पना से जीव अपने ऊपर कर्मकी सत्ता को मान बैठा है। जैसे मद्य पीकर उन्मत्त हुआ आदमी पुरुषाकार पत्थरके स्थंभको सच्चा पुरुष मानकर उसके साथ लडने लगा और जब उसने पत्थरके स्तंभको पकड कर के हिलाया तो वह स्वयं नीचे गिरा और पत्थरका स्तंभ उसके उपर गिरा, ऐसी स्थितिमें उसने कहा कि भाई! मैं हारा, और इसने मुझे दबा दिया, इस प्रकार वह उन्मत्त मनुष्य अपने ऊपर उस पत्थरकी सत्ता को मानकर व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। उसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी मदिरा पीकर अज्ञानी आत्मा जड की कर्म रूप अवस्थाको जानकर अपने ऊपर कर्मकी सत्ताको मान बैठा है और यह मान रहा है कि कर्म मुझे परेशान करते हैं। किन्तु वास्तवमें उसे कर्मोंने नही दबा रखा किन्तु वह भ्रमसे ऐसा मान रहा है।

इसी प्रकार जड और चेतन; कर्म और आत्मा दोनों स्वतंत्र हैं किसी पर भी एक दुसरे की सत्ता नहीं है। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, किसी भी आत्मा को कर्म हैरान नहीं कर सकते। ★

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वर्ष : १
अंक : १२

चैत्र
२४७२

एक बार हां तो कह

हे जीव! हे प्रभु! तू कौन है? इसका कभी विचार किया है? तेरा स्थान कौनसा है और तेरा कार्य क्या है, इसकी भी खबर है? प्रभु, विचार तो कर तू कहां है और यह सब क्या है, तुझे शांति क्यों नहीं है?

प्रभु! तू सिद्ध है, स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, किन्तु तुझे अपने स्वरूप की खबर नहीं है इसीलिये तुझे शांति नहीं है। भाई, वास्तवमें तू घर भूला है, मार्ग भूल गया है। दूसरे के घर को तू अपना निवास मान बैठा है किन्तु ऐसे अशांति का अंत नहीं होगा।

भगवन्! शांति तो तेरे अपने घरमें ही भरी हुई है। भाई! एकवार सब ओर से अपना लक्ष हटाकर निज घरमें तो देख। तू प्रभु है, तू सिद्ध है। प्रभु, तू अपने निज घरमें देख, परमें मत देख। परमें लक्ष्य कर कर के तो तू अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है। अब तू अपने अंतरस्वरूप की ओर तो दृष्टि डाल। एकवार तो भीतर देख। भीतर परम आनंद का अनंत भंडार भरा हुआ है उसे तनिक सम्हाल तो देख। एकवार भीतर को झांक, तुझे अपने स्वभाव का कोई अपूर्व, परम, सहज, सुख अनुभव होगा।

अनंत ज्ञानियों ने कहा है कि तू प्रभु है, प्रभु! तू अपने प्रभुत्व की एकवार हां तो कह। — श्री कानजी स्वामी

संयुक्तांक
१०-११-१२

वार्षिक मूल्य तीन रुपया
इस अंक का एक रुपया

आत्मधर्म कार्यालय
—मोटा आंकडिया—
काठियावाड

★

इस अंक में

इतना विलम्ब क्यों?

हिन्दी आत्मधर्म को प्रकाशित होते एक वर्ष पूरा हो रहा है। इस वर्ष के बीचमें आत्मधर्म की अनियमितता के कारण ग्राहकों को अनेक बार आकुलता का अनुभव करना पड़ा है। ग्राहकों की इस वास्तविक आकुलता के लिये मैं अपने को दोषी मानता हूं और इसीलिये मैं समस्त ग्राहकों से क्षमा याचना कर रहा हूं। मुझे इस प्रकार क्षमा याचना कर लेने से संतोष नहीं है इसलिये मैं हिन्दी आत्मधर्म के प्रकाशन की अनियमितता के संबंध में कुछ अधिक स्पष्ट निवेदन कर देना चाहता हूं।

जब गुजराती आत्मधर्म का हिन्दी अनुवाद करने का विचार हुआ तब यह कार्य एक योग्य व्यक्ति को सौंपा गया और उनने कुछ पृष्ठों का अनुवाद करके दिया जो माननीय पं. नाथूरामजी प्रेमी (बम्बई) को दिखाया गया। किन्तु उनने उसे बिल्कुल पसंद नहीं किया, तब उनसे तथा श्री भानुकुमार जैन (बम्बई) से निवेदन किया गया कि वे कोई अच्छा अनुवादक बतायें जो भाषा, भाव और सिद्धांत की रक्षा करते हुये गुजराती से ठीक ठीक हिन्दी अनुवाद कर सकें। उपरोक्त दोनों सज्जनों ने इस कार्य के लिये पं. परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ (सूरत) का नाम सूचित किया जो उस समय जैनमित्र कार्यालय से निवृत्त होकर अन्यत्र जाने की तैयारी कर रहे थे। मैंने उन्हें तार देकर उनसे मिलने की स्वीकृति प्राप्त करली और रात्रिको बम्बई से सूरत पहुंच गया। और हम दोनों अपरिचितों के बीच रात्रि में आत्मधर्म के अनुवाद के संबंध में काफी चर्चा हुई और अंत में उनने मेरे आग्रह को स्वीकार करके आत्मधर्म के अनुवाद करने का वचन दे दिया। और मैं उसी रात को चार बजे सूरत से सोनगढ़ के लिये रवाना होगया।

यद्यपि पं. परमेष्ठीदासजीने वचन दे दिया था कि वीर संवत् २४७१ की महावीर जयंति पर हिन्दी आत्मधर्म का प्रथमांक प्रगट हो जायगा किन्तु वे सूरत छोड़कर देहली चले गये और वहां जाकर उनपर 'वीर' पत्र के संपादन का तथा दि. जैन परिषद् का भार आगया। इसप्रकार वे नये उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में लग गये और आत्मधर्म के अनुवाद के लिये बड़ी ही कठिनाई के साथ थोड़ाथोड़ा समय निकाल सके यही कारण है कि चैत्र शुक्ला त्रयोदशीका प्रथमांक वैसाख शुक्ला द्वितीया को प्रगट हो सका।

इसी प्रकार नये उत्तरदायित्व के बोझ के कारण पं. जी अतिशय इच्छा होते हुये भी उसके बाद भी आत्मधर्म के अनुवाद का कार्य नियमित नहीं कर सके और इसीलिये आत्मधर्म का प्रकाशन अनियमित होता गया। कभी कभी अंक की पूर्ति के लिये ऐसे भी लेख देना पड़े, जो उनके द्वारा अनुवादित नहीं थे इसलिये उनकी

(शेष अंतिम पृष्ट पर)

वर्ष : १
अंक : १२

❀ शाश्वत सुखका मार्ग दर्शक मासिक पत्र ❀

चैत्र
२४७२

: आत्म धर्म :

卐 अन्तरात्मा के प्रति 卐

अहो! शान्तमूर्ति अन्तरात्मा! तू अपने आप ही प्रसन्न रह; तू यह व्यर्थ की आशा छोड़दे कि तुझे कोई अन्य प्रसन्न रखेगा।

यदि तू स्वयं अपने आपको पूर्ण स्वरूपमें नहीं लायगा तो दूसरा कोई तुझे क्या दे देगा? जिन्हें किसीके प्रति राग या द्वेष नहीं है उनके पाससे मांगना भी क्या और जो बेचारे स्वयं ही रागद्वेषभावसे पीड़ित हैं वे दूसरे का हित कर ही क्या सकते हैं? इसलिये–

हे सहज पूर्णआनन्दी अन्तरात्मा! अपूर्णता का त्याग कर, जगत निजसे पूर्ण है तू स्वतः पूर्ण स्वरूपमें आजा, तू शीतल–शान्त ज्ञानस्वभाव से भरपूर है उसे बाह्यप्रवृत्तियों की तरंगों से आन्दोलित करनेके विभावको छोड़दे।

हे शुभभावनाओ! तुमने अशुभ के स्थानको तो भरदिया किन्तु अब मुझे तुम्हारी भी आवश्यकता नहीं है मैं अपने ज्ञायकभावमें लीन होता हूँ। तुमसे भी भावतः निवृत्त होता हूँ–पृथक् होता हूँ।

हे पूर्व कर्मोदय! तुमने भी सत्तामें रहना बन्द कर दिया है और उदयमें आना चालु रखा है यह भी तुम्हारा उपकार ही है कि मुझे तत्काल पृथक होने में सहायभूत बन रहे हो; क्योंकि मैंने यह जान लिया है कि मेरा स्वरूप तुमसे जुदा है।

हे आत्मा! बाह्यजंगल अथवा वनमें भी शान्ति नहीं है इसलिए अन्तररूपी जंगलमें अपने सहज ज्ञानानन्दरूपी वनकी अनुभवनीय सुवास लेकर स्वाधीन होजा। बाह्यमें स्वाधीनता कहींसे भी नहीं मिलती।

हे जीव! संसारमें रहकर तू इष्टानिष्ट संयोगों के प्रति हर्ष या विषाद भाव रखता है। क्या तू अपने में असंसार भावनाको प्रबल करके परम आनन्द-मय नहीं बन सकता?

यदि यह मालूम होजाय कि दूसरे भावसे कुछ लाभ नहीं हो सकता तो एक स्वभावसे जितना लाभ लिया जाय लेले उसमें कभी भी कमी नहीं आ सकती, यह दृढ विश्वास रखकर समय व्यतीत किये जा।

आयु आत्माकी नहीं कर्मकी है। कर्म आत्मा के नहीं पुद्गलके हैं। तू स्वद्रव्यमें लीन हो जा परद्रव्य सब अपनी अपनी सम्हाल करलेंगे। अचिन्त्य आत्मस्वरूप को सहज सुगमता से प्राप्त हो चुकेल सिद्ध भगवन्त! तुम्हें कोटि कोटि प्रणाम हो।

शुभभाव भी राग है—विकार है उसे धर्म मानने वाला

[परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

जिसे आत्माकी स्वतंत्रता चाहिये है उसे पहले यह निर्णय करना होगा कि 'कर्म और पराधीन भाव से आत्माकी स्वतंत्रता प्रकट नहीं हो सकती।'

यह देह तो जड़ है। इससे भिन्न अरूपी आत्मा दर्शन–ज्ञान, आनन्द स्वरूप है। उसमे जो वर्तमान दुःख लगता है उसका कारण यह भाव है कि 'आत्मा को परकी आवश्यकता पड़ती है'। वह भाव क्षणिक और विकारी है। आत्माके निजस्वरूपका वह भाव नहीं है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्वका आश्रय मांगता है यहभाव शुद्ध नहीं है। आत्मा (ज्ञानस्वभावी वस्तु) अपने सुख के लिए परका आधार मांगता है। वह सब भाव दुःखरूप है और पर-वस्तु उस भावमें निमित्त मात्र है। ऐसा निर्णय किये बिना सुख प्रकट नहीं हो सकता कि–मेरे निराकुल सुखमें पुण्य-पापका कोई भी भाव सहायक नहीं है।

आत्मा दुःख स्वरूप है ही नहीं। आनन्द ही उसका स्वभाव है; किन्तु मुझसे मुझे सुख है ऐसी स्वरूपकी श्रद्धा से आत्मा अनादि काल से भ्रष्ट हो रहा है। इसलिए सुख प्रकट नहीं हो रहा है। शरीर, मन, वाणी तो पर हैं। वे सुखदायक या दुःख-दायक नहीं हैं। परके लिये जो पाप भाव है वह सुखदायक नहीं है और जो दया दानादिके शुभभाव होते हैं; वे भी आत्माके सहज सुखके लिए सहायक नहीं।

क्या तो छोड़ने लायक है और ग्रहण करने लायक है, इसका विवेक हुए बिना कभी सुखका अंश भी नहीं प्रगटता।

आत्मा शुद्ध है। उसमें दयाव्रतादि के शुभभावभी विषतुल्य है–पराधीनता है। इसलिए उनसे रहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करो।

आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है। उसमें शरीरादि परकी क्रिया लाभ या हानि का कारण नहीं है तथा जो शुभभाव होते हैं वे भी मोक्षसुख के कारण नहीं है। आत्माके स्वाधीन सुखका कारण परवस्तु हो ही नहीं सकती। पाप छोड़ने के लिये तो साधारण जनता (छोटासा बालक) भी कह रही है वह अपूर्व नहीं है। अनन्तकाल में अचिन्त्य मानव देह मिली है यदि उसमें स्वाधीन तत्त्व की श्रद्धा के बीज नहीं बोये तो कहना होगा कि उसमें अपूर्व कुछ नहीं किया। प्रत्येक प्राणी पुण्यतो अनन्तवार कर चुका है। यहां तो आचार्यदेव उस स्वरूपको बता रहे हैं जो अनादिकालसे अभीतक समझमें नहीं आया। भीतर जो शुभ लगन है वह राग है–विकार है। उसके द्वारा धर्म माननेवाला आत्माके स्वरूपकी हत्या करता है। जब इस प्रकारकी बल पूर्वक बात कहीजाती है तब शिष्य प्रश्न करता है कि–(जिसे आत्माकी पहचान की प्रतीति नहीं है ऐसा अनादि मिथ्या-दृष्टि मूढजीव शिष्य यहांपर तर्क करता है)

आप यह पहले से ही कहते आए हैं कि आत्मा शुद्ध है वह देह, मन, वाणी से भिन्न है और पुण्यपापके क्षणिक भावोंसे भी भिन्न है उसकी श्रद्धा करो इस प्रकार आपने तो पहलेसे ही शुद्धकी बात कह डाली। हमारे (मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव जिन्हें आत्माकी पहचान नहीं है ऐसे अज्ञानी जीवों के) तो आत्मा शुद्ध होना होगा तब होगा, किन्तु पहले हमें कुछ पुण्य क्रिया भी तो करने दो। ऐसा करने पर धीरे २ शुद्ध हो जायगा। आप उसे पहले से ही शुद्ध क्यों बताते हैं? शुद्ध आत्माकी उपासनाका ही प्रयास करने की बात क्यों कहते हैं? शुभक्रिया क्यों नहीं बतलाते? क्योंकि आत्माकी शुद्धि तो प्रतिक्रम-णादि से ही होती है। आत्मगुणके प्रेरणाकारक (निमित्त) देव–गुरुके दर्शन और उनकी भक्तिमें लगने से, विषयो के त्यागसे, पापकी निन्दा करनेसे, और प्रायश्चित आदि करनेसे तथा ऐसे ही अन्य भावोंके करते रहनेसे हमारे आत्माका उद्धार हो जायगा; किन्तु आप इसमेंसे कुछ भी न कह कर सर्व प्रथम शुद्ध आत्माको समझनेकी बात क्यों करते हैं?

उत्तर— जहां धर्म समझनेकी बात कही जाती है वहां पुण्य और पाप दोनोंको छोड़नेकी बात आती है। पापको छोड़कर पुण्यसे धर्म मानकर तो तू अनादि कालसे चक्कर लगा रहा है। यह मानव देह भी चली जायगी। यदि तूने अभी भी शुद्ध आत्मा की पहचान नहीं की तो तेरा कहां ठिकाना होगा यहां से उड़कर न जाने कहां चला जायगा?

क्या कहा जा सकता है कि ये हलके तृण आंधी में उड़कर कहां चले जायंगे? भारी कंकड़ (वजनदार होने से) नहीं उड़ा करते। इसी प्रकार सच्ची श्रद्धा के बलके बिना यह आत्मा चौरासी के चक्करमें न जाने कहां फिरेगा इसका कोई

आत्मा के स्वरूपकी हत्या करता है।

पता नहीं है। आत्मामें जो पुण्य पाप हैं वह मैं हूँ और शरीर, मन, तथा वाणी मेरे हैं–इसप्रकारकी मान्यतामें सम्यक् श्रद्धाका वजन नहीं है। इसलिए वह आत्मा चौरासीमें परिभ्रमण कर रहा है। 'मैं पुण्यपाप रहित शुद्ध निर्मल हूं।' इसप्रकार आत्मश्रद्धा की महत्ता के भार बिना यह आत्मा कहां उड़ जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है।

जैसे कोई युवक शादी के समय भारपूर्वक यह आग्रह रखे कि श्वसुर-पक्ष चाहे जितना प्रयत्न करे किन्तु मैं अमुक नेग लेकर ही रहूँगा; मैं अपने इस निश्चयसे किंचित् मात्र भी नहीं हटूँगा। उसी प्रकार मुक्तिरूपी कन्या को लेनेकेलिए (रागद्वेष होने परभी) निर्णय में तो भार रख, परमें उत्साह और हर्षका एक बार इनकार कर और आत्मा का हर्ष तो मनमें ला। आत्मा पवित्र, चिदानन्द शुद्ध है, इसप्रकार का भार थोड़े समय के लिए भी अपनेमें ला और पुण्य पाप से विचलित न हो तो निश्चयसे तुझे निकटभविष्यमें आत्मपरिणति रूपी कन्याकी प्राप्ति होगी।

अरे भाई! स्वतंत्र स्वभावकी श्रद्धा तो कर, मैं शुद्धस्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकता इसलियेमुझे इस शुभमें आना पड़ता है। इस प्रकार शुभका इंनकार करके आत्माके गुणका भार ला। इस भारमें तुझे पूर्णशुद्ध परिणतिरूप कन्या मिल जायगी।

परवस्तु से तृष्णा कम करने पर पुण्य होता है। यहाँ शिष्य कहना चाहता है कि 'उस पुण्यके कारण आत्माको धर्म प्राप्त होता है।' वह कहता है कि–

हमें पहलेसेही शुद्ध आत्मा की उपासना करनेका प्रयत्न कठिन मालूम होता है हम तो अभी पुण्य–पापमें ही पड़े हुए है और आप पुण्य–पाप रहितकी श्रद्धा की बात कर रहे हैं। हमारे लिए पाप भाव विष समान है और प्रतिक्रमणादि (आत्म भान के बिना) करना अमृतकुम्भ है। व्यवहार श्रद्धा, णमोकार मंत्र, देवगुरुकी भक्ति तथा व्रत तप इत्यादि से हमारे आत्मा की शुद्धता प्रकट हो जायगी। इसप्रकार शिष्य का तर्क है।

आचार्य महाराज निश्चयनयकी प्रधानता से उत्तर देते हुए इस तर्कका समाधान करते हैं—

सुन, आत्मभान के बिना मात्र दयादिभाव विषतुल्य हैं, इतना ही नहीं किन्तु सम्यक् श्रद्धा के बाद जो शुभभाव आते हैं वे भी विषतुल्य कहे गये हैं। पुण्यभाव आत्माके अमृतकुम्भका विरोध करके होते हैं इसलिये आठों बोल (प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि) विष हैं।

प्रतिक्रमण–हिंसादिभावसे 'मिच्छा मि दुक्कडं' करना अर्थात् पापसे निवृत्त होना इस शुभ भावको भी भगवानने विष कहा है। क्योंकि वह आत्माके अमृतकुम्भ का नाश करके होता है। आचार्य महाराजने उपदेश किया है कि तू उसे छोड़कर आत्मामें स्थिर हो जा। शुभभावको शुभ तो हम कहते है किन्तु हम शुभभाव को धर्मका कारण नहीं मानते।

तू अनन्तकालसे परिभ्रमण कर रहा है। इसका कारण यह है कि तू पापको छोड़नेमें और पुण्यको धर्म माननेमें ही लग रहा है।

सम्पूर्ण वीतराग दशा प्रगट होने से पूर्व अशुभको छोड़नेके लिए ज्ञानियों को भी भक्ति आदि शुभका अवलम्बन आता है। परन्तु वे उससे धर्म नहीं मानते और अज्ञानी शुभमें धर्म मान बैठा है। यही ज्ञानी और अज्ञानी के बीच का अन्तर है।

यहां आचार्यमहाराज कहते हैं कि जिसे अनन्तकालमें कभीभी प्रगट नहीं हुई अपूर्व आत्मजीवनकी शुद्धता इसी मानवजीवनमें प्रगट करना है उसे सर्व प्रथम ऐसी श्रद्धा का बल प्राप्त करना चाहिये कि 'आत्माके शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा यह शुभक्रिया भी विष है।' ऐसी श्रद्धाके बिना पुण्य–पापका हलकापन दूर होकर मोक्षकी गुरुता कहाँसे आयगी?

विषय कषायसे मुक्त तो होना ही चाहिए; किन्तु 'विषय कषायसे छूट जाँऊ' इस वृत्तिसे भी यहांपर छूटना कहा गया है। स्वरूप, निन्दा, गर्हा रहित है यदि तुझ से बन पड़े तो श्रद्धा और चारित्र दोनों कर; किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो जैसा है वैसी श्रद्धा तो अवश्य कर, मात्र उसकी श्रद्धासे तू जन्ममरणसे मुक्त हो जायगा।

आत्मा शुद्धज्ञानस्वरूप अमृतकुम्भ है। यदि उसमें से शरीरादिके संसर्गको दूर कर दिया जाय तो चैतन्यमूर्ति ही है।

आत्मा स्वयं ही अमृतकुम्भ है। उसका स्वभाव निर्दोष वीतराग है।

जो शुभ अशुभ भाव दिखाई देते हैं वे क्षणिक नये होते हैं। वे नाशवान हैं और आत्मा त्रिकाल अमृतका सागर है। जो भीतर जाननेवाला है वह ज्ञान स्वभाव है। ऐसे ज्ञानादिक अनन्त गुण हैं। उन सभी गुणोंका समुद्र चैतन्य स्वयं है। वह स्वरूप अमृतकुम्भ है; किन्तु परसे-पुण्यसे लाभ होता है इस मान्यताने उसे विषमय बना दिया है।

भगवन! तू अमृतकुम्भ है। यदि तू उसमें न टिक सके तो भी श्रद्धा तो उसीकी कर। उसकी श्रद्धा और प्रतीति करने से तेरा अमृतकुम्भ स्वभाव खुल जायगा। तेरा आत्मा पुण्य पापके विकारों का नाश करके क्रमशः स्वभावमूर्ति को पा लेगा। इस-प्रकार सर्वप्रथम शुद्धस्वरूप के सेवनकी आवश्यकता है। शुभभाव आत्माकी शुद्धि का निमित्त, शुद्धकी श्रद्धा के विना अंशमात्र भी नहीं है-कहनेमात्र को भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि के लिए जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादिक हैं वे सब अपराधरूपी विषके दोषों को कमकरने में समर्थ होने के कारण व्यवहार दृष्टिसे अमृतकुम्भ कह गये हैं।

अज्ञानीके पुण्यभावभी शुद्ध आत्मा की सिध्धिमें अभावरूप होने के कारण विषमय हैं। इसलिए उसकी तो बात ही क्या कही जाय?

तू पुण्यकी बात तो अनन्त कालसे करता आया है इसलिए वह बिना सीखे ही आ जाता हैं किन्तु हमतो यहां धर्मका स्वरूप बताना चाहते हैं जबकि हम धर्मी (आत्मा) का धर्म बताना चाहते हैं तब पाप की तो बात ही नहीं हो सकती। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि नीतिवान के हिंसादिक परिणाम होता ही नहीं है और वह लौकिक नीति अनन्तवार की गई है। हमें तो यहां तुझे धर्म बताना है, तेरी जन्म मरणकी भूख दूर करनी है। तूने अनन्तकालसे धर्मका उपाय ग्रहण नहीं किया।

जिसे आत्माके स्वतंत्र, सहजशुद्ध, शास्वत स्वरूपकी प्राप्ति करनी हो, उसे पाप तो छोड़नाही है। यहांपर यथार्थ समज के विना जो शुभभाव हैं उन-कीभी बात नहीं है, किन्तु सच्ची समझके बाद जो प्रतिक्रमणआदि शुभ-भाव होते हैं वे आत्माकी शुद्धता के निमित्त कारण हैं। इसलिए उन्हें व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है।

ऐसा भान होनेपर कि मैं शुद्ध पवित्र हूँ, आत्मा में होनेवाले अशुभ भाव तथा प्रतिक्रमणादि शुभभाव दोनों क्रम२से दूर होजाते है। इसलिए आत्मा शुद्धदशामें पहुँचजाता है। अर्थात् उसके पीछे शुद्ध दृष्टिका बल होजाता है। इसीलिए प्रतिक्रमणादि शुभभावको व्यवहारसे अमृतकुम्भ कहा है। स्वमें स्थिर नहीं रह सकता इस-लिए शुभभाव आते हैं ऐसी प्रतीति के साथ जो शुभभाव होते हैं उन्हें भी भगवानने निश्चयसे विष कहा है।

शुद्धदृष्टिके बलसे युक्त होने के कारण उस जीव के शुभभाव दूर होकर वह शुद्धदशामें जानेवाला है इस अपेक्षासे तथा शुद्ध की दृष्टि से शुभका कर्तृत्व नहीं है और शुद्ध स्व-भावकी प्रतीति है। इसलिए उस शुभ को व्यवहारसे अमृतकुम्भ कहा है।

शुध्धकी प्रतीति होनेपर ज्ञानी शुभमें लग जाता है। तब आत्माकी पहचान होने से उस शुभ भावको व्यवहारसे (उपर्युक्त अपेक्षासे) अमृत-कुम्भ कहा है। अज्ञानीके तो शुभभाव भी विष है, क्योंकि उसके पीछे उसका लक्ष्य शुध्धकी ओर नहीं है। किन्तु उसके शुभका कर्तृत्व है।

सबको स्वतंत्रता चाहिये है किन्तु वे यह नहीं जानते कि स्वतन्त्रता आती कैसे है? भाई! यदि तूने आत्माकी स्वतन्त्रताकी अपूर्व प्रतीति इस जीवनमें भी न कर पाई तो तेरा जीवन मकड़ी जैसा ही हुआ। अरे भाई! देह या रुपया इत्यादि कोई भी परवस्तु आत्माकी स्वतंत्रतामें सहा-यक नहीं हो सकती। स्वतंत्रता बाहर से नहीं आती किन्तु वह आत्मामें ही है। यदि आत्माकी स्वतंत्रताको नहीं समजोगे तो पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े ही रहोगे। आत्माके स्वतंत्र स्वरूपकी प्रतीति हुए विना कभी स्वतंत्र होने की योग्यता ही नहीं आ सकती।

जिसने जीवनमें चैतन्यकी पृथक्ता को नहीं जाना और जो मरते समय शरणके भाव को प्राप्त नहीं कर सका, वह मरने के बाद केवलज्ञानके साथकी सन्धिको कहाँसे पायगा और जिसने जीवनमें चैतन्य की जुदाई को जान-लिया है तथा मरते समय शरण को प्राप्त करलिया है वह मरकरभी अपनेसाथ केवलज्ञान प्राप्त करने की सन्धिको लेकर जाता है। इसलिये वह जहां जायगा वहां पूर्णता का पुरुपार्थ प्राप्त करके पूर्ण हो जायगा।

अरे भाई! तूने अपने महत्त्वको नहीं सुना। जिस भाव से रुपया पैसा इत्यादि मिलता है उस भावकी जबतक मिठास मौजूद है तबतक तूने छोड़ाही क्या है? अंतरंग से जिसके पुण्य की मिठास दूर नहीं हुई है उसका त्याग भी द्वेषभाव से है। आत्मा शुद्ध है, पुण्य पाप के परिणाम होने जितना वह नहीं है इस प्रकारकी दृष्टिमें जो शुभ भाव होता है उसे व्यवहार से अमृत कुंभ कहा है। अज्ञानी के शुभ भावमें पापको दूर करनेकी अंशमात्र

भी शक्ति नहीं है और शुद्ध की प्रतीति के साथ शुभमें पाप दूर करनेकी आंशिक शक्ति है। ज्ञानी के भी वीतराग होने से पूर्व शुभभाव सर्वथा नहीं छूटता, किन्तु श्रद्धा में जो पुण्य भाव है वह न तो मोक्षमार्ग है और न उसका कारण है। ऐसी शुद्ध की दृष्टि होनेसे उसके शुभमें अशुभ को दूर करनेकी आंशिक शक्ति है जिसे अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण रहित तीसरी भूमिकाकी प्रतीति नहीं है उसके मात्र शुभभाव विषतुल्य हैं। इसीलिये वह मात्र बंधन है। यदि वह अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण के भेदसे रहित तीसरी भूमिका की श्रद्धा करके उसमें स्थिर होगया तो समझना चाहिये कि वह साक्षात् अमृत ही है। किन्तु यदि स्थिर नहीं हो सका और श्रद्धा रखकर शुभमें प्रयुक्त हुआ तो भी वह व्यवहार से अमृत है।

धर्म किसे समझाया जाय?

जो संसारमें पड़े हुये हैं ऐसे अज्ञानी को या मुनिको? मुनिको तो धर्म समझाया नहीं जाता क्योंकि मुनित्व धर्म समझने के बाद ही होता है धर्मको समझे बिना किसी के मुनित्व हो ही नहीं सकता। मुनित्व बाह्य त्यागमें नहीं किन्तु आंतरिक समझमें है। बिना समझ के त्याग किसका? उसने तो उलटा (पुण्य-पाप रहित) आत्मा को ही छोड़ दिया (जिसे अंतरंग में पुण्य की रुचि है उसने पुण्य पाप रहित आत्मा को छोड़ दिया है)।

यह तो नग्न सत्य है, सत्य किसी की शरम नहीं रखता। जो सत्य है वह त्रिकालमें सत्य ही है, सत्य कभी बदल नहीं सकता, सत्य को समझने के लिये तुझे मिथ्या प्रतीति बदलना पड़ेगा। जगत् माने या न माने उसके साथ सत्यका कोई संबंध नहीं है सर्वकाल और सर्वक्षेत्रमें सत्य एक ही प्रकार से है।

पहली आवश्यकता आत्मा की श्रद्धा की है, उसके बिना धर्म की बात नहीं हो सकती। पहला उपदेश आत्मा की श्रद्धाका ही होना चाहिये उसके बिना उपदेश भी यथार्थ नहीं हो सकता। यदि कोई पुण्य करने के लिये कहे और यह कहे कि पुण्य करते करते धर्म प्राप्त हो जायगा और साथ ही यह कहे कि यह धर्म की बात है तो यह कदापि नहीं हो सकता। धर्म के उपदेशमें सर्व प्रथम आत्म-श्रद्धा की आवश्यक्ता है, यह बात सबसे पहले होती है, अन्यथा उपदेशक को स्पष्ट कहदेना चाहिये कि यहां धर्मकी बात ही नहीं है किन्तु पुण्य की बात है। धर्म क्या है? इसे समझना नहीं है और अपना बाहिरी बड़प्पन छोड़ना नहीं है तो जानना चाहिये कि सब पुण्यसे धर्म मानते हैं और मनाते हैं और इस मान्यताका फल संसार है।

पुण्यसे धर्म नहीं होता ऐसी श्रद्धा करने के बाद जो शुभभाव होता है उसे व्यवहार से अमृतकुंभ कहा है। किन्तु प्रतीति रहित शुभभाव तो व्यवहारसे भी अमृतकुंभ नहीं है। निश्चय होता है, तभी व्यवहार होता है। बिना निश्चय के अकेला व्यवहार नहीं हो सकता। आत्माकी श्रद्धा के बिना चाहे जितना शुभभाव करे तो भी वह केवल अपना अपराधी ही है, वह बंधनमें जकड़ा हुआ ही है।

"अच्छा करना है" यों सभी कहते हैं किन्तु यदि अच्छाई आत्मा में नहीं होगी तो बाहर से कहां से आयेगी, इसका अर्थ यह हुआ कि जो अच्छा करना है वह अच्छाई आत्मामें ही है किन्तु उसकी श्रद्धा नहीं है, इसलिये अच्छाई बाहर से मानता है। आत्मश्रद्धा के बिना मंदिर में पूजा, भक्ति इत्यादि सब, आत्मा का अपराध है। ज्ञानी को सच्ची वस्तु की ओर उन्मुख होने के भावसे जैसे उच्च प्रकार के शुभभाव होते हैं वैसे अज्ञानी नहीं कर सकता। इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव इत्यादिक लौकिक महान पद भी यथार्थ प्रतीति के बिना नहीं हो सकते। निरपराधपन अप्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण के भेद से रहित तीसरी भूमिका में ही है। इसलिये उस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के लिये ही प्रतीति युक्त जीव के प्रतिक्रमणादि होते हैं उनके लिये वह व्यवहार से तीसरी भूमिका कारण कहलाता है।

यहां यह नहीं मान लेना चाहिये कि यह शास्त्र पुण्य को छुड़ाकर अशुभ में लगाता है किन्तु पहले श्रद्धामें शुभ अशुभ दोनों को छुड़ाकर पश्चात् जब क्रमशः वीतराग होता है तब सर्वथा छूट जाता है।

यह शास्त्र इतने से ही (शुभ-अशुभ दोनों को छुडानेका उपदेश देकर) नहीं रुक जाता, किन्तु कुछ अपूर्व अति दुष्कर कार्य कराता है।

अंतमें—

निश्चय सहित व्यवहार ही मोक्षमार्ग में आता है। निश्चय की प्रतीति से रहित व्यवहार बंधन ही है। सम्यक् प्रतीति के बाद शुद्धमें स्थिर हो। जब शुद्धमें स्थिर नहीं हुआ जा सकता, तब शुभभाव में प्रयुक्त होनेरूप व्यवहार आता है। किन्तु शुद्धकी प्रतीति के बिना मात्र शुभ को तो व्यवहारभी नहीं कहा है। ★

विश्वप्रेम

-लेखक- रामजीभाई माणेकचंद दोशी

प्रश्न-आत्मधर्मके पाँचवें अंकमें 'आत्माका हित मोक्षही है,' शीर्षकवाला लेख पढ़ा था। क्या उसमें विश्वप्रेमका स्वरूप आ जाता है?

उत्तर-हां, उसलेखमें जो स्वरूप कहा गया है उसमें विश्वप्रेमका स्वरूप आजाता है।

प्रश्न-क्या ही अच्छा हो यदि आप इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करके बताएं।

उत्तर-(अ) 'विश्वका अर्थ है जगतके सर्व पदार्थ-छहों द्रव्य जो निम्नप्रकार हैं:-

(१)-सिद्ध जीव, संसारीजीव जिनकी संख्या अनन्त है।

(२)-समस्तप्रकारके (स्कन्ध सहित) अनन्तानंत पुद्गल द्रव्य।

(३)-एक धर्मास्तिकाय।

(४)-एक अधर्मास्तिकाय।

(५)-एक आकाश।

(६)-असंख्यात कालाणु।

(ब) 'प्रेम' दो प्रकारका है। एक रागरहित प्रेम दूसरा रागसहित प्रेम। उनमेंसे रागरहित प्रेम विश्वप्रेम है क्योंकि उसमें समस्त द्रव्योंके प्रति समभाव है। राग-द्वेष नहीं है। 'विश्वप्रेम' का दूसरा नाम है समानभाव अथवा समभाव। वस्तु, गुण और उनकी अवस्थाएं जैसी हैं उन्हें उसी प्रकार जानना और उनके प्रति रागद्वेश न करना सच्चा विश्वप्रेम है।

प्रश्न-उस लेखमें 'आत्माका हित एक मोक्ष ही है' इस स्वरूपका भाग कौनसा है, यह बताइये।

उत्तर-उस लेखके निम्नलिखित अंशमें वह विषय आ जाता है।

'जिसके अन्तरंगमें आकुलता है वह दुःखी है तथा जिसके आकुलता नहीं है वह सुखी है। और आकुलता रागादि कषाय भावोंके होनेपर होती है। क्योंकि रागादि भावोंके द्वारा यह जीव समस्त द्रव्योंको अन्यरूप परिणमित करना चाहता है और जब वे द्रव्य अन्य प्रकारसे परिणमित होते हैं तब उसे आकुलता होती है। इसलिये यातो अपने रागादिभाव दूर होने चाहिएं अथवा अपनी इच्छानुसार ही सर्व द्रव्य परिणमन करें तो आकुलता मिट जाय।

अब बात तो यह है कि सर्व द्रव्य तो इसके आधीन हैं नहीं फिर कभी कोई द्रव्य उसी प्रकार परिणमन करे जैसी उसकी इच्छा हो तो भी उसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती। यदि सभी कार्य उसकी इच्छानुसार ही हों, अन्यथा न हों तभी वह निराकुल रह सकता है; किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी द्रव्यका परिणमन किसी दूसरे द्रव्यके आधीन नहीं है। किन्तु अपने रागादिभाव दूर होने पर निराकुलता होती है, और यह कार्य बन भी सकता है—वह स्वाधीन बात है; क्योंकि रागादिभाव आत्माके स्वाभाविक भाव तो हैं नहीं किन्तु औपाधिक भाव है।'

प्रश्न-तबतो इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है यों निश्चय करके परवस्तुओं के प्रति रागद्वेष न करना और निराकुलता प्रकट करना इसीका नाम विश्वप्रेम है। आप यही कहना चाहते हैं न?

उत्तर-हाँ, यही तात्पर्य है। वैसा भाव प्रकट होने पर किसीभी जीवको दुःख देनेका-प्रतिकूलता उत्पन्न करनेका-प्राणहनन करने का, उसकी अनुकूलता को नष्ट करनेका अथवा इसी प्रकारका कोई भी अन्य विकारभाव नहीं रहता। ऐसा भाव सिद्ध, तीर्थंकर अथवा केवलियों के नहीं होता। इसलिये वे पूर्ण और सच्चे विश्वप्रेमी हैं।

प्रश्न-सिद्ध भगवानसे लोगोंको क्यालाभ होता है?

उत्तर-सिद्ध भगवानके ध्यानसे जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य तथा औपाधिक और स्वाभाविक भावका ज्ञान होता है और यह ध्यान अपने को सिद्ध समान होने का साधन होजाता है इसलिए अपने साध्य शुद्धस्वरूपको दर्शानेके लिये सिद्ध प्रतिबिम्बके समान हैं। इसप्रकार सिद्ध भगवान विश्वप्रेमी हैं।

प्रश्न-इसमें अपने गांव के लोगों को सुख देने का उनकी अनुकूलताके साधनका-उनके प्राणोंको बचाने का अथवा उनकी अनुकूलताओं की वृद्धिका कोई भी भाव मालूम नहीं होता। तबफिर उसे 'प्रेम' कैसे कहा जाय?

उत्तर-अमुक व्यक्ति को ही सुख इत्यादि देनेका भाव करने पर विश्व (सब) के प्रति प्रेम नहीं रहा। उसका सिद्धान्त तो वह है कि जबतक जीव अपने सच्चे स्वरूप को नहीं समझता तबतक वह परके प्रति कम या अधिक रागद्वेष किये बिना नहीं रहता। इसलिए यदि किसी के प्रति राग करेगा तो वह भाव (विकारी होनेसे) बदले बिना नहीं रहेगा। दूसरी बात यह है कि एक अथवा अधिकके प्रति जहां राग होगा, वहां दूसरों के प्रति उसी समय द्वेष होगा क्योंकि उसने सबको समान नहीं गिना। अज्ञानी जीवके रागके बाद द्वेष हुए बिना रह ही नहीं सकता। इसलिये जीव यदि अपने स्वरूपको समझ ले तब ही वह जगत के समस्त पदार्थों के प्रति यथार्थ भाव रख सकेगा और इसे ही 'विश्वप्रेम' कहा जायगा।

ध्यान रहे कि जीव अपने स्वरूपको समझे बिना कभी भी राग या द्वेष को दूर नहीं कर सकेगा। हां, उसमें हीनाधिकता किया करेगा।'

प्रश्न-समस्त जीवोंके प्रति एक समान राग वाला प्रेम बन सकेगा या नहीं?

उत्तर-नहीं, नहीं, कदापि नहीं बन सकेगा। समस्त जीवोंके प्रति समान राग वाला प्रेम बनहीं नहीं सकता। इतना ही नहीं किन्तु समस्त मनुष्यों के प्रति (जिसमें निजका भी समावेश है) भी एकसा प्रेम नहीं हो सकता। एक मनुष्य भोजन करते समय यह कदापि नहीं कह सकता कि जगत के समस्त मानव भोजन कर चुके या नहीं-अथवा भोजन कर रहे हैं या नहीं या उन सबको पर्याप्त और अच्छा भोजन मिलेगा तभी मैं भोजन करूँगा। परन्तु सबका स्वरूप जैसा है वैसा जानकर उनके प्रति रागद्वेष न करे यही उनके प्रति सच्चा (अकषायी) प्रेम है।

प्रेमके दो भाग करते समय राग रहित प्रेम और राग सहित प्रेम बताया गया था उनमेंसे रागरहित प्रेमके स्वरूपको पूर्णरीत्या अमलमें लानेवाले वीतरागी और सिद्ध भगवान ही हैं। इसलिए उन्हें शास्त्रोंमें 'अकषायी करुणा सागर' कहा गया है।

प्रश्न-विश्वप्रेमको अपूर्णतासे अमलमें कौन ला सकता है?

उत्तर-छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीव।

प्रश्न-छद्मस्थ वीतरागी नहीं होता उसके तो राग होता है तो फिर उसका प्रेम 'विश्वप्रेम' कैसे कहलायगा?

उत्तर-वह यह नहीं मानता कि मैं किसीका भला या बुरा कर सकता हूँ। इसलिये जब वह अपने हितके लिए स्वयं शुद्धतामें नहीं रह सकता तब किसीको दुःख देने इत्यादिके भाव नहीं करता और लोभादिको दूर करते हुए दान इत्यादिके जो शुभभाव उसके होते हैं उनका वह मालिक नहीं होता। इसलिये इस अपेक्षा से उसके 'अपूर्व विश्वप्रेम' कहा जा सकता है। सम्पूर्ण वीतराग होने पर वह सम्पूर्ण विश्वप्रेमी हो जाता है।

प्रश्न- जो आत्माके स्वरूपको यथार्थ रीत्या नहीं जानते ऐसे जीवोंके विश्वप्रेम हो सकता है या नहीं?

उत्तर-नहीं हो सकता। जो यह यथार्थ रीत्या निश्चय करता है कि 'आत्माका हित मोक्ष ही है' उसी के 'विश्वप्रेम' हो सकता है।

जैन शास्त्रोंके अर्थ करने की पद्धति

प्रश्नः- जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा गया है, इसका क्या कारण है?

उत्तरः- जिनमार्गमें किसी जगह निश्चयनयकी मुख्यताको लेकर कथन है, उसे यह जानना चाहिये कि 'सत्यार्थ इसी प्रकार है' तथा किसी जगह व्यवहारनयकी मुख्यताको लेकर कथन है उसे यों जानना चाहिए कि 'इसप्रकार नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार है'। और इस प्रकार जानना ही दोनों नयों का ग्रहण है; किन्तु दोनों नयोंके कथन को समान सत्यार्थ जानकर 'यह इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है" यों भ्रमरूप प्रवृत्ति करनेसे दोनों नयों को ग्रहण करना नहीं कहा गया है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री के प्रवचन महासागरमें से चुनेहुए

महासागर के मोती
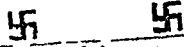
१–जो जीव पर पदार्थोंमें ममत्व नहीं करता वही संसार बन्धन से छूट सकता है।

२–पुण्यपापके विकारी भाव और उनके फल स्वरूप संयोगी नाशवान पदार्थोंकी प्राप्ति के प्रति जिसे आदर है उसे आत्माके नित्य अविकारी स्वभाव के प्रति आदर नहीं हो सकता।

३–परवस्तुका क्षेत्रान्तर, भावान्तर अथवा अवस्थान्तर होना त्रिकालमें भी किसीके आधीन नहीं है।

४–परपदार्थकी ओर लक्ष्यका होना सो राग है।

५–निराकुल सुख आत्मामें है संयोगों में सुख नहीं है। फिरभी अज्ञानी जीव उनमें सुख मान रहा है। परके आश्रयकी पराधीनता ही दुःख है।

६–पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें अच्छे या बुरे भावसे रागकरके उनमें जम-जाना सो परमार्थसे भाव बन्धन है।

७–जिस प्रकार चक्रवर्ती शकोरा लेकर भीख मांगे, दूसरेकी आशा रक्खे और पराश्रयको ढूंढ़े तो वह उसे शोभा नहीं देता, उसी प्रकार जो जीव आत्माके उत्कृष्ट स्वभावको भूलकर परकी आशा करता है, परकी सहायता चाहता है वह उसे शोभा नहीं देता।

८–आत्मा अरूपी, ज्ञातास्वरूप है; उसे किसी परका कर्ता मानना सो देह दृष्टिका अज्ञान है।

९–मैं परका करसकता हूं और पर मेरा कर सकता है, इस प्रकारकी मान्यता मिथ्यात्व है।

१०–मोक्ष का कारण वीतरागता, वीतरागताका कारण अरागी चारित्र, चारित्रका कारण सम्यक्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानका कारण सम्यग्दर्शन है।

११–जीव अपने सहज स्वरूपकी सम्हाल करे तो एक क्षणमें सर्व-दुःखो का नाश होजाय।

१२–जहां २ ज्ञान है वहां २ मैं हूँ, इसप्रकार का दृढ़भाव सम्यक्त्व है।

१३–परिणाम ही संसार और परिणाम ही मोक्ष है, इसलिए समय २ पर परिणामोंकी जांच करो।

१४–जबतक विस्मय करने वाले का (आत्माका) विस्मय नहीं होता तबतक परका विस्मय दूर नहीं होता।

१५–आत्मा त्रिकाल परिपूर्ण है, इसप्रकारका विश्वास जबतक नहीं होता तबतक परकी एकत्वबुद्धि दूर नहीं होती।

१६–अनन्त प्रतिकूलताओं के होते हुएभी अनन्त एकाग्रता हो सकती है।

१७–चार अघातिया कर्म संयोग के दाता हैं, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म आत्मामें कमी उत्पन्न करते हैं और मोहनीय कर्म आत्मामें विरुद्धता उत्पन्न करता है। मैं इन आठों कर्म स्वरूप नहीं हूँ, मैं तो मात्र ज्ञायक हूँ।

१८–मैं रागको छोड़दूँ इसप्रकार का भाव भी शुभ है; किन्तु त्रिकाली शुद्ध आत्मस्वभावपर दृष्टि डालनेसे रागादि छूट जाते हैं सो निर्जरा है।

१९–निश्चयका विषय त्रैकालिक स्वभाव है, व्यवहारका विषय वर्तमान शुभाशुभ विकारी भाव है। जिनवरका कहा हुआ व्यवहार भी परिपूर्ण है और उसे परिपूर्णतया अभव्य करता है। किन्तु उसकी दृष्टि परावलम्बी है। त्रैकालिक स्वावलम्बी स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है। शुभभावपर दृष्टि होने से वह पुण्य बांधता है, किन्तु आत्माका स्वभाव बिलकुल प्रगट नहीं होता।

२०–जहां स्वरूपका भोक्ता होना चाहिए वहां अभव्य जीव रागादि शुभ –परभावको भोगता है। इसलिए वह उसभोगके निमित्तरूप पुण्यकी श्रध्धा करता है।

२१–जब एक पदार्थको दूसरे पदार्थकी आवश्यकता होती है, तब वह पदार्थ पराधीन हुआ कहलाता है; आत्माको परवस्तुकी आवश्यकता का होना ही पराधीनताका दुख है।

२२–विकारी अथवा अविकारी अवस्था मुझमें नहीं है, मैं तो त्रैकालिक शुद्धस्वरूप हूं, परिपूर्ण हूं, उसके ऊपर लक्ष्य देने पर मोक्ष दूर नहीं है। उससे विपरीत भाववालेके बन्धन दूर नहीं है अर्थात् वह प्रति समय बंधता ही रहता है।

२३–पुरुषार्थकी जाग्रतिमें जो पुण्य बंध होजाता है, उसके योगसे अनु-कूलनिमित्त मिले विना नहीं रहता। इसलिए पुरुषार्थकी भावना होनी चाहिये, निमित्तकी नहीं।

२४–निमित्तकी भावनाको भाने वाला विकारको ही भाता है और

स्वभावको भानेवाला वीतरागताको ही भाता है।

२५–ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धको एक रूप मानना सो अभिप्राय की भूल है और वही बन्धका कारण है। जो रागादिक हैं वे ज्ञेय हैं इसलिए उनके जाननेपर ज्ञानकी विशालता होती है इसप्रकार ज्ञानी मानता है। तब अज्ञानी यह मानता है कि रागादिक मेरे हैं। कर्म मेरे आत्मज्ञानको रोकते हैं, यहां दृष्टिका अंतर है।

२६–स्वभावमें भवका भाव नहीं है। जो स्वभावको अपना मानता है, उसे भवकी शंका नहीं होती। जो भवके भावको अपना मानता है उसके भव होता है।

२७–मैं किसी परद्रव्यकी अवस्थाको नहीं कर सकता यदि ऐसी मान्यता करले तो अनंत शांति प्राप्त होजाय।

२८–दृष्टिका विषय अभेद, अबंध, अखंड द्रव्य है, वह पर्याय, विकल्प या निमित्तको स्वीकार नहीं करती।

२९–पंच महाव्रतादिके पालनका शुभभाव भी वीतराग चारित्र भावमें विषतुल्य है क्योंकि वह अमृत-आत्मा में बाधक है, मोक्षमें विघ्नरूप है।

३०–सम्यग्दृष्टिका भव न तो बिगड़ता है और न भव बढ़ता है।

३१–वाणी परका परिणमन है यह न मानकर मैं बोल सकता हूं अर्थात् परका परिणमन मेरे द्वारा होता है यें मान बैठना सो मिथ्यादर्शन शल्य अनंत पाप है। मैं वाणी बोलने के भाव के बराबर हीं (विकारी भाववाला) हूँ इसप्रकारकी मान्यता हुई की अविकारी शुद्ध स्वभावका अनादर हुआ और यही अनंत हिंसा है। ※

भेद संवेदन

अज्ञानीकी दशा

अनादिकाल से अज्ञान के कारण आत्माकीं भेद संवेदन [भेद ज्ञान] की शक्ति दब गई है, इसलिये वह परको और निजको एकरूप जानता है। वह इस प्रकार के असत् विकल्प [कल्पित तरंगें] किया करता है कि "मैं क्रोध हूँ, मैं परद्रव्य हूँ, मैं परद्रव्यकी क्रिया कर सकता हूँ, परद्रव्य मेरा कुछ कर सकता है" इत्यादि। यह पुद्गल कर्मका और अपने स्वादको एकमेक मानकर उसके एकरूपका अनुभव करता है और इसलिये वह निर्विकल्प अकृत्रिम स्वभाव से अनादिकाल से भ्रष्ठ हुआ है। इसीलिये वह बारम्बार अनेक विकल्प रूपमें परिणत होता है और अपने को पर का तथा परभावका [क्रोधादिका] कर्ता मानता है।

ज्ञानीकी दशा

भेद संवेदन [भेद ज्ञान] की शक्ति ज्ञानी के प्रगट हो गई होती है। जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञान के कारण ज्ञान के प्रारंभ से लेकर पुद्गल कर्म और अपना भिन्न भिन्न रूपमें अनुभव करता है और वह एक रूपमें अनुभव नहीं करता। उसे दोनों के पृथक् पृथक् स्वभावका अनुभव होता है इसलिये वह जानता है कि "अनादि निधन निरंतर स्वादमें आनेवाला समस्त अन्य रस से विलक्षण [भिन्न] अत्यंत मधुर जो चैतन्य रस है वही जिसका एक रस है ऐसा मैं आत्मा हूँ।" और वह जानता है कि "कषाय मुझ से भिन्न रसवाली हैं, उनके साथ एकरूपता का विकल्प करना सो अज्ञान है।

इस प्रकार ज्ञानी परको और निजको भिन्न रूपमें जानता है। इसलिये अकृत्रिम [नित्य] एक ज्ञान ही मैं हूँ परंतु कृत्रिम [अनित्य] अनेक जो क्रोधाधि हैं वह मैं नहीं हूँ यों जानता हुआ "मैं क्रोध हूं" इत्यादि आत्म विकल्प किंचित् मात्र भी नहीं करता इसलिये समस्त कर्तृत्वको प्रथम दृष्टि में छोड़ देता है और क्रम २ से चारित्र में छोड़ देता है।

इस प्रकार सदा उदासीन अवस्थावान होकर मात्र जानता ही रहता है और इसलिये निर्विकल्प अकृत्रिम एक विज्ञानघन होकर अत्यंत अकर्ता प्रतिभासित होता है।

ज्ञानीकी उपर्युक्त दशा अविरति सम्यग्दृष्टि से प्रारंभ होती है।

कारण परमात्मा

(परम पूज्य श्री कानजी स्वामीका व्याख्यान)

भगवान अरहंतदेव कार्य परमात्मा हैं। आत्माकी स्वतंत्र पूर्णानंद दशाका प्रगट होना सो कार्य है, अर्थात् जो वह अवस्था है सो कार्य है और उसका कारण द्रव्य स्वयं है। द्रव्यमें त्रिकालमें कोई आवरण नहीं है। परमार्थतः आत्माके कर्म के आवरण का कोई पर्दा नहीं है। वर्तमान अवस्था दृष्टि से देखते हुये एक समय मात्र की अवस्था में आवरण दिखाई देता है, किन्तु वस्तुमें आवरण नहीं है।

प्रश्न–वस्तु दृष्टिसे देखनेपर आवरण नहीं दिखाई देता, तब क्या आवरण सर्वथा नहीं है?

उत्तर–वस्तुके आवरण कदापि नहीं होता। एक समय मात्रके लिये विकारी अवस्थामें भाव बंधन है। अरहंत भगवानके वह भाव–बंधन दूर हो गया है, इसलिये वे कार्य परमात्मा हैं। क्योंकि उनके पूर्णदशा रूपी कार्य प्रगट हो गया है, उस कार्यका कारण वस्तु स्वयं ही है। वस्तु तीनों कालमें संपूर्ण आवरण रहित है।

वस्तु के आवरण हो ही नहीं सकता। आवरण कहा तहीं कि अवस्था का लक्ष्य हुआ। आत्मा तो अनंत गुणों की शक्ति का पिण्ड है। वस्तु अथवा वस्तुके गुणमें कभी आवरण नहीं होता, किन्तु यदि एक समय की अवस्था को देखा जाय तो एक समय मात्र के लिये पर्याय में आवरण है।

प्रश्न—पर्याय एक ही समयकी क्यों? एक पर्याय के साथ दूसरी पर्याय जुड़कर लंबी क्यों नहीं मानी जाती?

उत्तर—दो समयकी पर्याय कभी इकट्ठी नहीं होती। एक समयकी पर्याय के जानेपर दूसरे समय की पर्याय आती है। पहले समय की पर्याय के रहते हुये दूसरे समय की पर्याय नहीं आती, इसलिये पर्याय एक समय मात्र के लिये है।

प्रश्न—भूत भविष्य की पर्याय को वर्तमानमें मिलादेने पर तो पर्याय लंबी होगी न?

उत्तर–पर्याय किसी भी प्रकारसे एक समयसे अधिक लंबी नहीं होती। भूत भविष्य की पर्याय तो द्रव्य की शक्ति अर्थात् गुण है और फिर भविष्यकी पर्याय वर्तमान के साथ मिल ही नहीं सकती क्योंकि जब भविष्यकी पर्याय होगी तब वर्तमानकी पर्याय नष्ट हो चुकी होगी। जब वर्तमान पर्याय जायगी तब नई आयगी।

दृष्टांत–पानीका त्रैकालिक स्वभाव ठंडा है। वर्तमान अवस्था उष्ण है वह उष्णता एक समय मात्र के लिये है। यदि उष्णता मात्र वर्तमान के लिये न होती तो वह टिक ही नहीं सकती। एक समयको बदलकर दूसरे समयमें पानी भले गरम हो तो भी दूसरे समयकी उष्णता नहीं है। पहले समयकी उष्णता को बदल कर दूसरे समयमें जो उष्णता है वह नई है। अर्थात् वह पहले समयकी नहीं है।

दृष्टांतका सिद्धांत–पानी के दृष्टांतानुसार आत्माभी त्रैकालिक शुद्ध है, उसमें सांसारिक मलिनता एक समय मात्र के लिये ही है (बारहवें गुणस्थान के अंतिम समयमें चार घातिया कर्मोंका सर्वथा नाश होने पर केवल ज्ञान प्रगट हुआ) वस्तुमें संसार नहीं है, किन्तु मात्र एक समयकी अवस्थामें है। वस्तु कभी भी अशुद्ध नहीं होती। वस्तुमें न तो निमित्त है, न आवरण है और न किसी की अपेक्षा है। वस्तु तो त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष है। भंगभेद का सारा जाल पर्याय में है। विकार मात्र एक समय के लिये ही है, समय–समय करके (स्वयं विकार करके) लंबा कर डाला है, वैसे संसार तो एक समय का ही है, उसे बदलते देर नहीं लगती (चौदहवें गुणस्थानका अंतिम समय संसार दशा ही है और उस समयका नाश होनेपर उसके बाद के समयमें संसार नहीं रहता)। वस्तु त्रिकालमें पूर्ण निरावरण है उसमें काल का भेद नहीं है। जैसे दीपक तो दीपक ही है, जलती हुई ज्योति ही है उसमें जो पर्दा है वह मात्र वर्तमान के लिये है। यदि सारे दीपक के लिये पर्दा हो तो वह दीपक ही न रहे–दीपक का अभाव ही होजाय किन्तु पर्दा वर्तमान मात्र के लिये है और वह दूर हो सकता है, वह दूर हुआ कि दीपक, दीपक ही है। पर्दे के समय भी दीपक ही था और पर्दा दूर होने पर भी दीपक ही है, उसी प्रकार आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध चैतन्य ज्योति ही है, आवरण केवल अवस्थामात्र के लिये है वह वस्तु में नहीं है, एक समय मात्र के लिये (अवस्थाका) आवरण दूर हुआ की दीपक पूर्ण प्रगट होजाता है। द्रव्य तो पूरी

और कार्य परमात्मा

अवस्था से ही परिपूर्ण है, उसकी जो अधूरी या अपूर्ण पर्याय कहलाती है उसमें परकी अपेक्षा होती है। द्रव्य स्वयं वर्तमान में ही पूर्ण अवस्था से भरा हुआ है जो यहांपर है वही शुद्धदशामें प्रगट होता है। सिद्ध दशामें बहार से कोई कुछ नया नहीं आजाता।

यदि वस्तु आवृत हो जाय तो वह वस्तु ही नहीं कहलायेगी और यदि मात्र एक समय की अवस्था के लिये आवरण कहा जाय तो वह अवस्था तो दूसरे समय बदल ही जाती है। अवस्था के बदलने पर उस समय का आवरण भी दूर हो जाता है। नई अवस्थामें यदि नया आवरण हो तो बन सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि आवरण वस्तुमें नहीं है। टोकनीने दीपकको नहीं ढका किन्तु दीपककी अवस्था को ढका है। यदि दीपक ही ढक जाय तो दीपकका अभाव कहलायगा। इसी-प्रकार यदि आत्मा ही ढक जाय तो तत्त्व का ही अभाव हो जाय। अवस्था तो एक समय मात्र की ही है पर्याय समय समय पर बदलती रहती है और वस्तु त्रिकालमें स्थिर बनी रहती है। पर्याय वस्तु नहीं है। (पर्यायका जो आवरण है वह वस्तुमें नहीं है।)

यदि मलिनता एक समय मात्र के लिये न हो–सदा के लिये हो तो वह बदल कैसे सकती है क्योंकि बदल जाती है इसलिये मलिनता वर्तमान एक समय मात्र के लिये है और वस्तु त्रिकाल निरावरण है।

जैसे मलिन अवस्था एक समय मात्रके लिये है उसी प्रकार निर्मल अवस्था (सिद्धदशामें) भी एक समय मात्र के लिये है। सिद्धदशामें भी दो समयकी अवस्था एकत्रित नहीं होती। निर्मल अथवा मलिन अवस्था में परकी अपेक्षा होती है और द्रव्य तो त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष है, वस्तु स्वभावमें निर्मल या मलिन पर्याय (मोक्ष या संसार) ऐसा भेद लागू नहीं होता। वस्तु त्रिकाल निरपेक्ष है और पर्याय अभूतार्थ है, क्षणिक है। त्रिकाल आवरण से रहित संपूर्ण द्रव्य सो वस्तु है। अहा! वस्तु तो वस्तु ही है। वस्तु में तीन काल में कोई अपेक्षा लागू पड़ ही नहीं सकती, अपेक्षा तो पर्याय में होती है। निरपेक्ष वस्तुको ही "कारण परमात्मा" कहा है। इस वस्तु के ऊपर लक्ष्य देने पर पूर्ण परमात्म पद प्रगट होता है, इसलिये यहां पर "कारण परमात्मा" परिपूर्ण वस्तु का वर्णन किया है।

भगवान अरहंतदेव कार्य परमात्मा हैं, उनके पूर्ण परमात्म दशा प्रगट हो गई है।

गुण अर्थात् वस्तु त्रिकाल एक रूप, निर्मल है, उसमें निमित्त, संयोग या आवरण नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब कि वस्तुको त्रिकाल निरावरण कहा है तो वर्तमान अवस्था में भी बंधन का निषेध किया है या नहीं ?

उत्तर—यहां पर्याय का लक्ष्य ही नहीं है किन्तु वस्तु का ही लक्ष्य है। वस्तुका लक्ष्य अवस्था के द्वारा होता है. जिस अवस्था से लक्ष्य हुआ उस अवस्था का लक्ष्य नहीं है। दृष्टि निरपेक्ष वस्तु के ऊपर. है उसमें पर्यायका लक्ष्य नहीं है।

वस्तु तो त्रिकाल है जहां अवस्थाका परिणमन अंदर को हुआ अर्थात् "मैं शुद्ध द्रव्य हूं" इस प्रकार पर्याय के द्वारा द्रव्य का स्वरूप निश्चित किया वहां पर्याय पर दृष्टि ही नहीं रही, अपेक्षा ही नहीं रही। यहांपर मात्र ध्रुव स्वभाव लिया गया है। जिस अवस्था से भीतर की ओर हुआ वह अवस्था तो ध्रुव स्वरूप में मिल गई, उसमें निर्मलता या मलिनता की अपेक्षा ही नहीं रही।

अरिहंत या सिद्ध पद प्रगट हुआ सो तो पर्याय है। जिस वस्तु से अवस्था (पर्याय) प्रगट हुई वह वस्तु तो त्रिकाल एक रूप है। वस्तु स्वयं दुःखरूप या अपूर्ण नहीं हो सकती, वस्तु तो आनंदमय परिपूर्ण है। बंध मोक्ष का भेद भी वस्तु में नहीं होता।

सोना सोने के रूप में एकरूप ही है। कड़ा, कुंडल अंगूठी इत्यादि अवस्थाओं में सोना सोना ही है अन्य नहीं किन्तु यदि आकार की अवस्था दृष्टि से देखा जाय तो वह अनेक रूपसे भासित होता है, इसी प्रकार आत्मा वस्तु दृष्टि से तो नित्य एकरूप ही है, केवल पर्याय दृष्टि से भेद मालूम होता है, वह वस्तु में नहीं है।

इसे समझ लेने पर पूर्ण स्वरूप की रुचि होती है और परकी महिमा दूर होजाती है; इसका नाम है धर्म।

नोट- वस्तु के त्रिकाल कहनेपर उसमें काल की लंबाई नहीं बताई गई है किन्तु यह बताया है कि भावसे एकरूप निरावरण है।
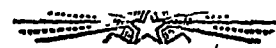
पापको दूर करने का सच्चा उपाय क्या है ?

(श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी) : : :

प्रकरण पहला

कर्मचंद—आपने एक वार कहा था कि पुण्य से धर्म होता है इस लौकिक मान्यता में ही पुण्य से धर्म नहीं होता यह अव्यक्त रीति से आ जाता है सो कैसे ?

धर्मचंद—पुण्य से धर्म होता है इस मान्यता में ऐसी मान्यता आई या नहीं कि पाप छोड़ने लायक है. ('मान्यता') शब्द का प्रयोग इसलिये किये गया है कि 'मान्यता' के होते ही चारित्र एकदम प्रगट नहीं हो जाता, किन्तु उसी समय अंशतः प्रगट होता है और वह क्रम२ से पूरा होता है ।

कर्मचंद—पाप छोड़ना ही चाहिये ऐसी मान्यता तो आ ही गई ।

धर्मचंद—तव तो यह भी कहो कि महापाप को तो तत्काल ही दूर करना चाहिये । अथवा उस महापाप को बना रहने देना है ?

कर्मचंद—महापाप को सर्व प्रथम दूर कर देना चाहिये.

धर्मचंद—तव वताइये कि महापाप क्या है ?

कर्मचंद—मिथ्यादर्शन महापाप है ।

धर्मचंद—जिस मिथ्यादर्शनको आप महापाप कहते हैं, उसके दूसरे नाम बतायेंगे ?

कर्मचंद—हां, उसे स्वरूपकी असमझ, अज्ञान, अविद्या और चिदाभास भी कहा जाता है ।

धर्मचंद—तव तो यह कहना चाहिये कि जिसकी ऐसी मान्यता है कि पापको तो दूर करना ही चाहिये उसे मिथ्यादर्शनरूपी महापापको दूर करना ही होगा । क्या यह बात ठीक है कि यदि जीव सम्यग्दर्शनको प्रगट करे तो ही उसे दूर कर सकता है.

कर्मचंद—हां, यही बात है ।

धर्मचंद—तब तो इसका मतलब यह हुआ कि सम्यग्दर्शन से मिथ्यादर्शनरूपी महापाप दूर होता है। चाहे सम्यग्दर्शन कहो या धर्म का प्रारंभ कहो । चाहे सच्ची समझ कहो या सच्चा (सम्यक्) ज्ञान कहो वह सब एक ही और एक साथ ही रहने वाले हैं; इसलिये यह निश्चित हुआ कि शुद्धभाव प्रारंभ होते ही महापाप दूर हो सकता है । क्यों यह ठीक है न ?

कर्मचंद—हां यह बिल्कुल ठीक है । वास्तवमें पुण्यभाव से धर्म नहीं होता, फिर भी लोग मानते हैं कि पुण्य से धर्म होता है, इसका क्या कारण है ?

धर्मचंद—सामान्यतः लोग इस संबंध में विचार नहीं करते । बालपन से ही यह सुना होता है कि पुण्य से धर्म होता है, अपने बडों के मुंह से भी यही सुनता आया है और धर्मस्थान में भी प्रायः ऐसा ही सुनाया जाता है । यह मान्यता अनादिकाल से चली आ रही है और ज्यों ज्यों वह उम्रमें बढ़ता चला जाता है त्यों त्यों उसे पुष्टि मिलती जाती है । इसका परिणाम यह होता है कि यदि कोई यह कहे कि पुण्य से धर्म नहीं होता-महापाप दूर नहीं होता तो उसे बिजली का सा करंट लग जाता है । उसे यह बात सुनने से घोर अरुचि होती है किन्तु यदि तटस्थ होकर शांति पूर्वक उसके सभी पहलुओंपर विचार करे तो इस बातको तुर्त समझ ले ।

कर्मचंद-तब तो इसके अन्य पहलुओं पर हम फिर चर्चा करेंगे।

धर्मचंद-बहुत अच्छा ।

(दोनों अपने अपने घर जाते हैं ।)

प्रकरण दूसरा

कर्मचंद-आप यह कहते थे कि पुण्य के और भी पहलू होते हैं कृपया उन्हें आज बताइये ।

धर्मचंद-देखो, जिस समय पुण्य का इच्छुक पुण्य करना चाहता है उसी समय वह पाप बंधकी भी इच्छा करता है ?

कर्मचंद- जो पुण्य करना चाहता है उसे यदि उसी समय पाप भी लगता हो तो वह पुण्यका इच्छुक कैसे कहा जा सकता है, कदापि नहीं कहला सकता।

धर्मचंद-जब कि आपने यह स्वीकार किया है तब मैं आपसे यह

जैन कौन है

(१) रागद्वेष पर विजय प्राप्त करके स्वरूपको प्राप्त करनेवाला जैन है ।

(२) जैन अर्थात् वीतरागता की मूर्ति ।

(३) अपने गुण के बल से जो अवगुण को जीते (नाश करे) वह जैन है ।

(४) जैन अर्थात् मोक्षका अभिलाषी ।

(५) जैन अर्थात् वीतरागताका सेवक ।

पूछना चाहता हूं कि यह तो आप जानते हैं कि शुभभाव (पुण्यभाव) करते समय जिसे आत्मस्वरूपका ज्ञान नही होता उसके सच्चा ज्ञान, सच्ची प्रतीति, सच्चा चारित्र एवं वीर्य नष्ट होता हैं और इसलिये उसके आवरण बंधते हैं और वे सब पाप हैं?

कर्मचंद–आप कहते हैं इससे मुझे यह स्मरण हो आता है कि शुभभाव के होने पर चारों घातिया कर्मों की प्रकृतियों का बंध होता है, यह ज्ञानियोंने कहा है, इसलिये आपका यह कथन सत्य है।

धर्मचंद–तब फिर कहिये कि पुण्यभाव के करने पर आत्मस्वरूप के अजानकार के आत्मा के निजगुण अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र, वीर्य इत्यादि को हनन करनेवाले पापकर्म में से कौनसा दूर होजाता है और कौनसा नहीं बंधता?

कर्मचंद—एकभी नहीं।

धर्मचंद—तब फिर बताइये कि कौनसे शुभभावों को करते करते इस भवमें अथवा इसभवमें नहीं तो बाद के भवमें सम्यक्त्वका गुण प्रगट होता है।

कर्मचंद—ऐसा एक भी शुभभाव नहीं है जिसको करते करते अनंत काल व्यतीत हो जाय तो भी सम्यक्त्व गुण प्रगट हो अथवा मिथ्यात्वका महापाप दूर हो जाय।

धर्मचंद—तब तो यह कहना चाहिये कि जो आत्मस्वरूप के अज्ञानी हैं उनके पुण्य (शुभ) भाव करते समय उसी वक्त संसार के बंधनको बढ़ाने वाला अनंत पाप बंध जाता है तब क्या वे पुण्य के सच्चे हिमायती कहलायेंगे?

कर्मचंद—कदापि नहीं कहला सकते। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होता है कि पापका नाश कौन कर सकता है?

धर्मचंद—जब सम्यग्दर्शन होता है तब उसी समय मिथ्यात्व और अनंत संसारको बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ यह पाँच महापाप तो बंधते ही नहीं हैं और दूसरे पाप भी क्रमशः उसके नहीं बंधते हुये अंत में वह पापबंध से मुक्त हो जाता है।

कर्मचंद–आपने बहुत स्पष्ट बात कही है किन्तु क्या इस विषय पर प्रकारांतर से भी विचार किया जा सकता है?

धर्मचंद–हां, अनेक प्रकार से इस पर विचार हो सकता है और उस सबका परिणाम एक ही आता है क्योंकि सत्य तो सत्य ही रहता है। अब हम इस विषय पर किसी और समय विचार करेंगे।

(दोनों मित्र अलग होते हैं)

प्रकरण तीसरा

कर्मचंद–कहिये प्रकारांतर से उस बात पर कैसे विचार किया जा सकता है?

अजैन कौन है?

(१) जिसके गुण अवगुण से विजित हो जांय (ढक जांय) वह अजैन है।

(२) जो रागद्वेषको अपना मानने लायक गिनता है और शरीरादि जड़ का अपनेको कर्ता मानता है वह अजैन है।

(३) अजैन अर्थात् जगत (विकार) का सेवक।

(४) अजैन अर्थात् संसारमें चक्कर लगानेका इच्छुक।

धर्मचंद–क्या आप यह जानते हैं कि जिसके आत्म स्वरूपका लक्ष्य नहीं है उसके कषाय चक्र चलता ही रहता है और इसलिये शुभ के पश्चात् तत्काल अशुभ आता है।

कर्मचंद–कृपया इस बात को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये.

धर्मचंद—देखो, पहले हम इस बात पर विचार करलें कि शुभ (पुण्य) भाव क्या है और पापभाव क्या है?

कर्मचंद—बहुत अच्छा!

धर्मचंद—देखिये, मैं पहले आप को बतला चुका हूँ कि जिसे आत्मस्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है वह पुण्यभाव करने वाला जीव उस भाव को करते समय ही पापबंध करता है। किन्तु यह तो उस से आगेकी बात है इसलिये उसे ध्यान पूर्वक सुनिये।

कर्मचंद—मैं इसे ध्यान पूर्वक सुनकर इसकी तुलना करूंगा।

धर्मचंद—देखो, एक आदमी को आपने दान दिया उसके बाद आप संसार के व्यापार धंधे में लग जाते हैं न?

कर्मचंद—हां.

धर्मचंद—तब फिर बताइये कि आपका धंधा-व्यापारका भाव शुभ है या अशुभ?

कर्मचंद—उसे शुभ कैसे कहा जा सकता है, वह तो अशुभ भाव ही कहलायगा।

धर्मचंद—तब फिर यह स्पष्ट हुआ कि शुभ भाव के दूर होने पर अशुभभाव तत्काल ही आता है, इसलिये पुण्य सतत तो चलता नहीं रहा और पुण्यके सच्चे हिमायती को तो चौबीसों घंटे पुण्य करना चाहिये।

कर्मचंद—किन्तु यह तो कहां से हो सकता है?

धर्मचंद—अज्ञानीसे यह भले न बन सके किन्तु ज्ञानी के कुछ ऐसे पद हैं जिसमें यह संभव है।

कर्मचंद—मुझे भी विचार करने पर ऐसा लगता है कि शुभभाव निरंतर चालू नहीं रहता। शुभभाव पूरा हुआ नहीं कि तुर्त ही कुछ अशुभ आ जाता है। ऐसा भी होता है कि शुभ करनेका तो विचार किया जा रहा हो और उधर एकदम अशुभभाव झांकने लगता है।

धर्मचंद—शुभभाव अशुभभावकी तरह क्षणिक है उत्पन्न ध्वंसी है, विकारी हैं। वे दोनों मोहराजा की फौज के सरदार हैं। शुभभाव मोहराजाकी कढ़ी है जो (ऊपरी दृष्टि से) मीठी-मधुर लगती है, इसलिये पुण्य के हिमायती को पहले उसका यथार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिये।

प्रकरण चौथा

कर्मचंद-पुण्य के स्वरूपको तो छोटा बालक भी समझता है। भला, उसमें समझना भी क्या है?

धर्मचंद-तब फिर छोटा बालक कैसे समझता है यह बताइये।

कर्मचंद-किसी जीव का प्राण घात करना सो पाप है, असत्य बोलना सो पाप है, चोरी करना पाप है, अब्रह्मचर्य पाप है, परिग्रही होना पाप है और किसी जीवको दुःखी देखकर दान देना, सेवा करना, उसे बचाना तथा अन्न-पानी देना सो पुण्य है।

धर्मचंद—ठीक है। आपका यह अभिप्राय ठीक है या नहीं, इस पर विचार करना होगा, किन्तु यह विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि यह मान्यता बालककी ही है या बड़ोंकी भी।

कर्मचंद—बड़ोंकी भी यही मान्यता है किन्तु उसमें अंतर इतना है कि बड़े आदमी जोर शोर से इस मान्यता की घोषणा करते हैं—उसका अनुसरण करने के लिये प्रजा को प्रेरित करते हैं और उनके प्रभावसे अथवा उपदेश से लोग दान देते हैं यह भी देखा जाता है।

धर्मचंद—तब यह बताइये कि एक आदमी को मारने के लिये किसीने बंदूक मारी किन्तु जिस आदमी को मारना था वह बच गया ऐसी स्थिति में बंदुक छोड़ने वाले को पाप लगा या नहीं?

कर्मचंद—हां, पाप तो है ही।

धर्मचंद—क्यों? जबकि आदमी मरा नहीं तो पाप क्यों लगेगा?

कर्मचंद—मार डालने का भाव था इसलिये।

धर्मचंद—आपके इस उत्तर से तो यह निश्चय हुआ कि जीवको मार डालने का भाव किया था इसलिये पाप हुआ। वह जीव जिआ या मरा इससे कुछ मतलब नहीं है? जीव मरे या न मरे इससे पापकी उत्पत्ति का कोई संबंध नहीं है, पाप तो जीव में होता है इसलिये जीवका तीव्र कषाय भाव ही पाप है। हिंसा अपने भाव से मालूम होती है यह निश्चय हुआ।

कर्मचंद—किन्तु आपने तो जीव बचा इसका उदाहरण दिया, जीव मरे ऐसा भी तो कोई उदाहरण दीजिये.

धर्मचंद-अच्छी बात है, इसे ही लीजिये। एक आदमी दुःखी है उसे भूख लगी है. उसकी भूखको मिटाने के लिये आपने बिल्कुल हलका, सुपाच्य और सादा भोजन दिया, किन्तु वह उसे नहीं पचा-उल्टा ही हुआ, वह बेचारा उस भोजन के कारण मर गया, तब बताओ कि आपको पुण्य लगा या पाप?

कर्मचंद—यह तो पुण्य ही है। भला, इसे पाप कैसे कहा जा सकता है। भोजन देने वाले का भाव तो उसकी सहायता करने का था इसलिये यह पुण्य कहलायगा।

धर्मचंद-तो फिर इतना बड़ा आदमी मर गया वह किसके खाते में जायगा?

कर्मचंद-गहरा विचार करने पर तो यही मालूम होता है कि प्राणी के जीने और मरने के साथ पुण्य-पाप का कोई संबंध नहीं है, मात्र अपने भाव के साथ संबंध है और वही नियम सत्य असत्य इत्यादि के साथ भी लागू होता है।

धर्मचंद-यह ठीक है, किन्तु आपने कहा था कि बालक भी पुण्य स्वरूप को समझता है क्या यह ठीक है।

कर्मचंद-यह मान्यता यथार्थ नहीं है। जीव यदि शुभ भाव करता है तो वह (भले ही किसी प्राणी को लाभ या हानि कुछ भी हो) पुण्य और अशुभ भाव करता है तो (भले

सुख क्या है?

आत्माका स्वास्थ्य ही सुख है। स्वास्थ्य अर्थात् आत्माका लक्ष्य परमें न जाना और अपने में स्थिर रहना सो सुख है। सुखका लक्षण निराकुलता है। अपने सुख स्वरूपकी प्रतीति होना ही सुख है। सुख स्वरूपकी प्रतीति के बिना किसी भी समय किसी भी क्षेत्रमें किसीको भी सुख नहीं हो सकता।

ही किसी प्राणी को लाभ या नुकसान चाहे जो हो) पाप कहलाता हैं।

धर्मचंद–आपका कहना ठीक है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि शुभभाव करते हुये पाप का भी बंध हो सकता है, क्या आपको इसमें विचित्रता नही मालूम होती ?

कर्मचंद—हां, कुछ मालूम तो होती है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है इस संबंधमें हम कभी फिर चर्चा करेंगे।

धर्मचंद—बहुत अच्छा।

प्रकरण पांचवां

कर्मचंद— शुभभाव करते हुये पापका बंध भी क्यों कर होता है?

धर्मचंद—इस संबंधमें विचार करते हुये हम दो प्रकार के जीवों को लेंगे। (१) आत्मस्वरूप से अजान (२) आत्मस्वरूप के ज्ञाता–साधक जीव।

इनमें से पहले—आत्मस्वरूप से अजान को प्रथम जानना लाभ दायक है।

कर्मचंद—ठीक है। आत्मस्वरूप से अजान को पहले लेना उचित है।

धर्मचंद—देखिये, वह तो यों मानता है कि (१) मैं पर जीव को मार सकता हूं। (२) पर जीवको जिला (बचा) सकता हूं। (३) पर जीव को दुःख दे सकता हूं। (४) पर जीवको सुख दे सकता हूं।

कर्मचंद–हां, वह यह मानता है कि मैं दूसरे को मार सकता हूं, दूसरे को दुःख दे सकता हूं और ऐसे कृत्यको लोग पाप कहते हैं और मैं दूसरे को जिला सकता हूं दूसरे को सुख दे सकता हूं वह यों भी मानता है और ऐसे कृत्य को लोग पुण्य कहते हैं।

धर्मचंद–ऐसी मान्यता बालककी है या बड़े की ?

कर्मचंद—छोटे बड़े लगभग बहुतों की है।

धर्मचंद–हम एक महासभाको बुलायें और फिर उसमें उपर्युक्त पुण्य–पापकी व्याख्या का प्रस्ताव रखें तो बताइये कि वह प्रस्ताव पास होगा या नहीं ?

कर्मचंद–अवश्य पास होगा।

धर्मचंद–उससे विपरीत यदि कोई महासभा में कहे कि देखो भाई, आप जिस प्रस्ताव को पास करना चाहते हैं वह भूलों से भरा हुआ है। कोई किसीको न तो जिला सकता है और न सुख दुःख दे सकता है तो उसके कथन का क्या मूल्य होगा ?

कर्मचंद–अरे, मुखियालोग कुहराम मचा देंगे और कहेंगे कि ऐसा कहने से तो समाज की बहुत बड़ी हानि होगी। भगवान महावीर स्वामीने जो कहा है उससे इसका लोप होता है, इत्यादि कहकर लंबे छटादार भाषण करने लगेंगे और कहेंगे कि धर्मका नाश होने जा रहा है।

धर्मचंद–देखो भाई, मैं पहले कह चुका हूं कि इस मान्यता में बहुत बड़ी भूल है। हम इस विषय पर और अधिक विचार करें। जिज्ञासु बुद्धि से—खुले दिलसे चर्चा करने से सत्य–असत्य की स्पष्टता हो जाती है, इसलिये मैं आपसे पूछता हूँ कि निम्न लिखित दृष्टांतों के अनुसार ऐसा बनता है या नहीं ?—

(१) एक डाक्टर किसी बिमार को अच्छा करने के लिये यथाशक्य प्रयत्न और सावधानी पूर्वक उसका दुःख दूर करने के हेतु से आपरेशन करता है किन्तु बिमार टेबल पर ही मर जाता है ?

(२) एक आदमी दूसरे आदमी को मार डालने के हेतु से विष देता है और दूसरा आदमी विष खा भी लेता है किन्तु उसके परिणाम स्वरूप वह मरता नहीं है, प्रत्युत उसे जो दीर्घकाल से कोई बिमारी थी वह उससे दूर होजाती है, ऐसा होता है ?

(३) एक आदमी दूसरे आदमी को सुखी होने के हेतु से एक वस्तु देता है किन्तु वह उसे नहीं रुचती और उसे लेकर उसको सुख की जगह दुःख होता है ?

(४) एक पिता अपने पुत्रको उसकी भलाई के लिये शिक्षा देता है कि भाई, असत्य बोलना, चोरी करना, जुआ खेलना इत्यादि ठीक नहीं है, फिर भी वह पुत्र नहीं मानता ऐसा होता है या नहीं ? और ऐसा भी होता है कि उसे सुखी होने के लिये दीगई शिक्षा अरुचिकर होती है ?

(५) गजसुकुमार के शिर पर उसके ससुर ने प्रज्वलित अग्नि उसे दुःख देने के लिये रखदी थी किन्तु उसे कोई दुःख नहीं हुआ प्रत्युत सुख ही हुआ, वह मोक्ष गया और उसने अविनाशी कल्याण को प्राप्त किया यह सच है न ?

दुःख क्या है ?

अपना सुख अपनेमें ही है, उसे भूलकर पर वस्तुमें अपनी सुख बुद्धिको मानलेना सो दुःख है। आत्माको अपने सुख के लिये पर वस्तु की इच्छा करना सो दुःख है।

आत्मा अपने दुःख रहित सुख-स्वरूप को नहीं जानता, और अपने सुख को परसे (पराधीन) मानता है, यही मान्यता दुःख का कारण है।

१–जो अपने से कभी नहीं हो सकता उसका अपने को कर्ता मानता है और जो अपने को करना है और जो अपने से हो सकता है वह अनादिकालसे कर नहीं रहा है।

(६) शिक्षक स्कूलमें विद्यार्थीकी हित कामना से कि वह पढ़े सुधरे और भविष्य में सुखी हो उसे उसका पाठ बराबर तैयार करने के लिये कहता है और वह विद्यार्थी वैसा नहीं करता किन्तु शिक्षक को ही खराब कहता है, ऐसा भी होता है या नहीं ?

(७) इस जगत् में अनंत भगवान (ज्ञानी) हो गये हैं उनने जगत् के कल्याण के लिये उपदेश दिया किन्तु उसे सुनने वाले सभी ज्ञानी नहीं हुए। जगत के बहुभाग ने सुधार से इनकार किया और कितने ही लोगोंने उनकी धर्मसभा से बाहर आकर बहुत बड़ा विरोध किया, ऐसा भी होता है या नहीं ?

(८) यह जीव स्वयं अनंतवार तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा में गया, भगवान का कल्याण कारी उपदेश उसके कानों में पड़ा किन्तु इसने अपनी महा विपरीतता के कारण उस उपदेश को स्वीकार नहीं किया और इसप्रकार केवली के पास जा कर भी कोरा रह गया, इस प्रकार की घटना भी आपने सुनी है या नहीं ?

(९) एक आदमी किसी आदमी को मारने के लिये गया किन्तु जिसे मारना था वह नहीं मरा और कोई दूसरा आदमी ही एकदम बीच में आ गया और मर गया, ऐसा भी होता है या नहीं ?

(१०) अभी कुछ समय पहले बंगाल में भयंकर अकाल पड़ चुका इसलिये उस समय अनेक करुणा-बुद्धि जीव यह चाहते थे कि जितने अधिक से अधिक लोगों की अनाज की पूर्ति की जाय वह करे किन्तु वे अपनी धारणा के अनुसार उसकी पूर्ति नहीं कर पाये ऐसा भी हो चुका या नहीं ?

कर्मचंद-मैंने इन सब दृष्टांतो पर काफी विचार किया है वे सब ठीक हैं। उन पर से निम्नलिखित सिद्धांत निकलते हैं:—

(१) जीव स्वयं शुद्ध, शुभ अथवा अशुभ भाव कर सकता है। उपर्युक्त दृष्टांतो का विभाग इस प्रकार हो सकता है

शुद्ध	शुभ	अशुभ
	१–३–४	२–५–९
७–८	६–१०	

(२) पर वस्तुका परिणमन (अवस्था) इस जीव के आधीन नहीं है।

(३) जो जीवित रहे उनका शरीर और जीव उस समय प्रथक् होने लायक नहीं थे।

(४) जो मर गये उनका शरीर और जीव उस समय प्रथक् होने लायक था।

(५) पर के ऊपर किसी का अधिकार नहीं चलता इसलिये पिता पुत्र को, शिक्षक विद्यार्थी को अथवा तीर्थंकर केवली किसी अन्य के लिये कुछ नहीं कर सकते किन्तु स्वयं अपने भीतर अपने भाव का स्वयं पुरुपार्थ कर सकता है।

२–जो सुख अपने में भरा हुआ है उसे न तो जानता है और न भोगता है और परवस्तु कि जिसमें कभी भी अपना सुख नहीं है उसमें से सुखभोग करनेका अनादिकालसे व्यर्थ ही परिश्रम करता रहता है।

धर्मचंद—तब कहो कि कोई दूसरा किसी परका कुछ भलाबुरा कर सकता है यह मान्यता ठीक है ?

कर्मचंद–किंचित् मात्र भी नहीं; दुनिया में चलनेवाली यह मान्यता गलत है कि मैं परका कुछ कर सकता हूं। अंगरेजी में भी एक कहावत है कि *man proposes, god disposes* मनुष्य भावना करता है, कुदरत के कायदे के मुताबिक जो होना हो सो होता है। (यहांपर *god* अर्थ का 'पदार्थों के नियम") समझना चाहिये।

धर्मचंद—उस विपरीत मान्यता को मिथ्यादर्शन कहा जाता है तब कहिये वह पाप है या नहीं ?

कर्मचंद–अवश्य वह पाप है।

धर्मचंद—तब बताइये कि लोक व्यवहार में जो पुण्यकी मान्यता है उस मान्यताको लेकर होनेवाले शुभ-भाव में विपरीत मान्यता का पाप साथ में आया या नहीं ?

कर्मचंद—अवश्य आया और वह पुण्य के सच्चे हिमायती को टालना ही चाहिये। ❀

जैन शासन

(१) जैन शासन अर्थात् वीतरागता

(२) अनेकांत जैनशासन का आत्मा है।

(३) स्याद्वाद जैनशासनकी कथन शैली है।

(४) जैनशासन अर्थात् युक्ति और अनुभवका भंडार।

(५) जैनशासन अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के स्वरूपको संपूर्ण और त्रिकाल स्वाधीन (स्वतंत्र) बतानेवाला अनादि अनंत धर्म।

❖ क्र म ब द्ध प र्या य ❖

जगत में छह द्रव्य हैं उन सब में अपने अपने अनंत गुण नित्य हैं। प्रति समय उन गुणोंकी अवस्था बदलती रहती है, जो जो अवस्था होती है वह प्रत्येक क्रमबद्ध ही आती है। बाद में होनेवाली अवस्था पहले नहीं हो जाती अथवा पहले होनेवाली अवस्था बाद में हो जाय इस प्रकारका परिवर्तन भी क्रमबद्ध अवस्था में नहीं होता।

दृष्टांतः—मिट्टीका घड़ा बनता है उसमें क्रमबद्ध अवस्थायें ही आती हैं पहले मिट्टीको पिंडरूप बनाने के लिये खूब कूटा पीटा जाता है, उसके बाद उसे चाक पर चढ़ा कर घड़े के आकार में बनाते हैं। कभी ऐसा नहीं होता कि पहले कुम्हार मिट्टीको चाक पर चढावे और उसके बाद उसे कुटे पीटे, इसी प्रकार आत्मा में भी प्रत्येक अवस्था क्रमबद्ध ही होती है उसका क्रम भंग करने के लिये कोई समर्थ नहीं हैं। उसकी केवल और मोक्ष पर्यायें भी क्रमबद्ध ही प्रगट होती हैं, उसमें समय मात्र का अंतर डालने के लिये कोई समर्थ नहीं है।

अब यहां एक सहज प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वस्तुकी समस्त पर्यायें क्रमबद्ध ही आती हैं और आत्मा के लिये केवल तथा मोक्ष भी क्रमबद्ध ही आता है, उसमें कोई अंतर पड़ ही नहीं सकता तो फिर उस में पुरुषार्थ कहां रहा? उसका उत्तर इस प्रकार है:—

वस्तुकी क्रमबद्ध अवस्था में तो कोई अंतर पड़ेगा ही नहीं, किन्तु "वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है" ऐसी श्रद्धा करने में ही अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

क्रमबद्ध पर्यायकी श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय के विकास के लिये किसी पर के ऊपर लक्ष्य नहीं रहेगा इसलिये किसी पर के ऊपर रागद्वेषका कारण भी नहीं रहेगा और इस प्रकारकी आकूलता का भी कोई विकल्प नहीं रहेगा कि "मेरी शुद्ध पर्याय कब खुलेगी" इसलिये क्रमबद्ध पर्यायकी श्रद्धा का निश्चय तो वही कर सकता है जो निकट मुक्तिगामी है। इसलिये क्रमबद्ध पर्यायका निश्चय करने में अनंत पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध पर्याय में वीतरागता है।

क्रमबद्ध पर्यायका निश्चयहोनेपर पर द्रव्यकी चाहे जैसी अनुकूल अथवा प्रतिकूल अवस्था हो, फिर भी उसमें रागद्वेष नहीं होता। (अनुकूल प्रतिकूलपन जगतकी दृष्टि से है वस्तु में अनुकूल प्रतिकूलपन नहीं है)

क्रमबद्ध पर्यायकी श्रद्धा तब हुई कहलाती है कि जब पर द्रव्य में होने वाली अवस्था चाहे जैसी हो किन्तु उसमें "यह ऐसा क्यों हुआ? यदि ऐसा हुआ होता तो ठीक होता" इत्यादि विचार-विकल्प-रागद्वेष नही हो, उसे (क्रमबद्ध पर्यायका निश्चय करनेवाले को) श्रद्धा है कि इस द्रव्यकी इस समय इस प्रकार अवस्था क्रमबद्ध होना थी उसी प्रकार हो रही है तो फिर वह राग या द्वेष क्यों करेगा? वह तो मात्र जिस वस्तुकी जिस समय जिस प्रकार अवस्था होती है उसका ज्ञान ही करता है।

इस प्रकार क्रमबद्ध अवस्थाका निर्णय स्वयं वीतरागता है और उस निर्णय के करने में ही अनंत पुरुषार्थ है। ✶

पराधीनता ही दुःख है

आत्मा ज्ञान शांति आदि अनंत गुणों का पिंड है। आत्मा में जो रागद्वेष आदि भाव होते हैं वह आत्मा का त्रैकालिक स्थाई स्वभाव नहीं है किन्तु क्षणिक विकारी भाव है। आत्मा के स्वभावको भूलकर परको आत्मरूप मानना सो गुणको भूल जाना है और गुणको भूल जाना सो स्वतंत्रताको खो देना है। स्वतंत्रताको खो दिया इसलिये दुःख भोगना ही होगा। जब कि अपने गुण नहीं जाने जायेंगे तब कहीं न कहीं अपने को मानेगा तो अवश्य। इस प्रकार मैं शरीर रागद्वेप विकाररूप हूं यों पर में अपना अस्तित्व स्वीकार करके उसने यह मान लिया कि मैं अन्य पर अवलंबित हूं, मुझमें स्वयं सार नहीं है, यदि मैं शरीरादि-रागादिको छोड़ दूंगा तो मैं नहीं रहूंगा। यदि मुझ में से विकार निकाल गये तो मुझमें कुछ नहीं रहेगा, इस प्रकार अपनेको निःसत्व माननेवाला अपनी आत्माका अनादर करता है और अपने गुणों की हत्या करता है।

अपने गुणोंकी हत्या करने वाला कभी भी परमुखापेक्षी नहीं मिट सकता और कभी भी उसके पराधीनता का दुःख दूर नहीं हो सकता। आत्मा ज्ञान, दर्शन, स्वतंत्र सुख, आनंद और वीर्यकी मूर्ति है। जब तक उसे वह जैसा है वैसा न माने और परको अपना मानता रहे तब तक उसे स्वतंत्र धर्म नहीं मिल सकता और जब स्वतंत्र धर्म नहीं होगा तो परतंत्र विकार होगा और उसे दुःख बना रहेगा।

आत्मा बिल्कुल प्रथक् पर से निराला है उसे पर के आश्रय की आवश्यकता है, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

व्यवहार से निश्चय नहीं आता

व्यवहारनय का अर्थ है पराश्रय से प्रवर्तित कथन। दर्शनका विषय अभेद है। यदि ज्ञान यह जान ले तो यह कहलायगा कि ज्ञानने यथार्थ जान लिया। वह ज्ञान रागद्वेषको तो गौण कर ही देता है साथ ही निर्मल अवस्थाको भी गौण कर देता है। गौण कर देता है इसलिये अवस्था के प्रति कोई भार नहीं रहता। वह ज्ञान केवलज्ञान को भी गौण कर डालता है, मात्र सामान्य दर्शन का विषय है।

श्रद्धा का लक्ष्य विकार पर नहीं है किन्तु निर्मल अवस्था कितनी प्रगट हुई है इस पर भी नहीं है। निरपेक्ष दृष्टि में परकी अपेक्षा नहीं होती, परका आलम्बन नहीं होता, व्यवहार से निश्चय नहीं आता किन्तु व्यवहारका निषेध करने से निश्चय आता है। अधूरी अवस्था अथवा पूरी निर्मल अवस्था सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है, साथ में निमित्त होता है किन्तु दृष्टि में निमित्तका आदर नहीं होता। अधूरी अवस्था है इसलिये ज्ञान निमित्तको जानता तो है किन्तु दर्शन का विषय निरालंब है, दृष्टि उसका ही आदर करती है।

सम्यग्दर्शन भी साधन है साध्य तो अखंड है। साध्य के वल से साधन वीच में हो जाता है। रागद्वेष आत्मा से एकत्रित नहीं हैं इसलिये प्रथक् हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन हुआ इसलिये परमात्मा हो जायगा। सम्यग्दृष्टि तो लघुनंदन हो ही गया, वह कृतकृत्य हो गया। विकार से निर्मल अवस्था प्रगट हो जाती है जहां इसकी तो कोई चर्चा ही नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु निर्मल अवस्था के द्वारा विशेष अवस्था प्रगट होती हो सो भी नहीं होता। व्यवहारका अभाव होने पर निश्चय आता है। व्यवहार करते हुये निश्चय आता है वह त्रिलोकमें कदापि नहीं हो सकता।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—जीवादि तत्त्वो को समझने के लिये इस कालमें कौन योग्य है ?

उत्तर—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरणी कर्मका क्षयोपशम सभी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के होता है इसलिये वे योग्य हैं।

प्रश्न—तव फिर सभी संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान क्यों नहीं होता ?

उत्तर—जो संज्ञी जीव प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करने के लिये अपने ज्ञानमें पुरुषार्थ करते हैं उन्हें सच्ची श्रद्धा होती है और जो सैनी जीव प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के लिये अपने ज्ञानमें पुरुषार्थ नहीं करते, किन्तु पर ज्ञेयों को जानने के लिये ज्ञानको रोकनेमें असत्यार्थ पुरुपार्थ करते हैं उन्हे प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोंका श्रध्धान नहीं होता।

क्षयोपशम ज्ञान जहां लगता है वहां एक ज्ञेयमें लगता है। यदि वह अपने स्वरूपको जानने की ओर उस ज्ञानको लगाता है तो उसका ज्ञान होता है और यदि पर ज्ञेयको जानने की ओर स्वयं अपने ज्ञानको लगाता है तो पर ज्ञेय ज्ञानमें लगता है। परद्रव्य अनंतानंत हैं यदि एक एक ज्ञेयमें रोकेगा तो वह कभी भी उसे ठीक नहीं जान सकेगा। स्वको यथार्थ रीत्या जाने विना परका यथार्थ ज्ञान नहीं होता इसलिये जो सैनी जीव अपने पुरुषार्थ को अपनी ओर नहीं लाते उन्हें यथार्थ श्रद्धा और यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—धर्म के उपदेश में किसीकी मुख्यता होनी चाहिये ?

उत्तर—मिथ्यात्व जो पाप है उसकी प्रवृत्ति छुडानेकी मुख्यता होनी चाहिये। कुछेक वातों में हिंसा वता कर उसे छुडानेकी मुख्यता करना सो क्रमभंग उपदेश है। जो दया के कुछ अंगोंको योग्य रीति से पालन करते हैं, हरितकाय आदि का त्याग करते हैं, अल्प जल का उपयोग करते हैं, उसका निषेध नहीं समझना। यहां तो मिथ्यात्वको छुड़ाने की प्रवृत्तिकी मुख्यता बताई गई है। यदि उसकी मुख्यता नहीं की जायगी तो वे जीव दया के कुछ अंगोंका पालन करने में अपना सारा जीवन भले ही व्यतीत करदें किन्तु वे धर्म के प्रारंभिकरूप—सम्यग्दर्शनको नहीं पायेंगे। इस प्रकार उनका अमूल्य मानव जीवन निष्फल जायगा और उनका संसार चक्र चलता रहेगा।

दृष्टि का विषय

वस्तु त्रैकालिक है उसके आश्रय से पर्याय निर्मल होती है। पर्याय के आश्रय से पर्याय निर्मल नहीं होती। गुरु के कथन पर जवतक लक्ष्य जाता है तवतक निमित्त, शास्त्र, गुरु और ज्ञान सव विनाशी हैं, किन्तु जब ध्रुव के प्रति दृष्टि जाती है तव ज्ञान अविनाशी होता है।

अनुभव और सम्यग्दर्शन एक अवस्था है, उसका और आत्माका त्रैकालिक संबंध नहीं है क्योंकि वह बदल जाता है दर्शन निमित्तको स्वीकार नहीं करता किन्तु उसके बाद उपचार से निमित्त कहलाता है। इसके बाद ज्ञान निमित्तको जानता है, दर्शन के समय निमित्त नहीं होता वह पीछे से निमित्त कहलाता है। जब तक निमित्त को राग से जाना जाता है तब तक ज्ञान विनाशी अनित्य है वह अविनाशीको लाभ नहीं पहुंचाता। वह तो पूर्वका ही क्षयोपशम है। जब स्वयं अपनी ओर उन्मुख होकर निर्णय किया तब निमित्त कहलाता है। जिस समय अविनाशी ज्ञान होता है उस समय निमित्तका प्रश्न ही नहीं रहता। जहां निर्णय सामान्यकी ओर गया कि वहां संसार छूट गया। संसार छूटने का कारण द्रव्य स्वयं है निर्णय होने के बाद निमित्त कहलाता है।

ध्रुव शक्ति साध्य है मोक्ष साध्य नहीं, मोक्ष प्रगट होता है। प्रगट अप्रगट पर्याय दृष्टि में होती है। ध्रुव सदा प्रगट है। प्रगट अप्रगट वस्तु में प्रश्न ही नहीं है। प्रगट अप्रगट अवस्था में ही वस्तु ध्रुव तो सदा प्रगट ही है। साध्य वस्तु-साधन निर्णय [व्यवहार] ध्रुव के लक्ष्य में आते ही सहज निर्मल अवस्था प्रगट होती है उसमें पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, पुरुषार्थ सहज ही हो जाता है। भला, पर्यायका आश्रय कैसा ? आश्रय तो स्वभाव का होता है ध्रुव और मोक्ष दोनों साध्य हो जाय तो दो भंग हो जायंगे। दर्शन का विषय भंग [दो] नहीं है। सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान प्रकाशित हो तो वह निश्चय से आदरणीय नहीं है साध्य साधन का भेद निश्चय में है ही नहीं। भेद के बलवान होने पर अभेद के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

धर्म

कोई भी वस्तु और उसका स्वभाव पृथक् होकर नहीं रह सकता, अर्थात् वस्तुका स्वभाव सदा वस्तु में ही रहता है। आत्माका स्वभाव सदा आत्मा में ही है। स्वभाव ही वस्तुका धर्म है, इसलिये आत्मा स्वयं धर्म स्वरूप है।

जब कि वस्तु स्वयं धर्म स्वरूप है तब उसे धर्म के लिये बाहरकी सहायताकी आवश्यकता कैसे हो सकती है ? आत्माका धर्म सदा आत्मा में ही है, किसी परको लेकर आत्माका धर्म नहीं है। तू चाहे जिस क्षेत्र में जाय या चाहे जिस काल में रहे तो भी तेरा धर्म तुझ से अलग नहीं है। स्वयं धर्म स्वरूप होने पर भी तुझे अपनी निजकी खबर अनादिकाल से नहीं है, इसलिये तुझ में धर्म के होते हुये भी वह तुझे प्रगट रूप से अनुभव में नहीं मालूम होता और इसीलिये तुझे जो अपने धर्म स्वरूप में शंका होती है वही अधर्म है और इसीलिये संसार है। उस अधर्मको दूर करने के लिये अपने धर्म स्वभावको पहिचान, यही एक ही उपाय है।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

(१) सम्यक्त्वहीन जीव यदि पुण्य युक्त भी हो तो भी ज्ञानी जन उसे पापी कहते हैं। क्योंकि पुण्य-पाप रहित स्वरूपकी प्रतीति न होने से पुण्य के फलकी मिठास में पुण्य का व्यय करके-स्वरूपकी प्रतीति रहित होने से पाप में जायगा।

(२) सम्यक्त्व सहित नरकवास भी भला है और सम्यक्त्व हीन होकर देवलोकका निवास भी शोभास्पद नहीं होता। (परमात्म प्रकाश)

(३) संसाररूपी अपार समुद्र से रत्नत्रय रूपी जहाज को पार करने के लिये सम्यग्दर्शन चतुर खेवटिया (नाविक) के समान है।

(४) जिस जीव के सम्यग्दर्शन है वह अनंत सुख पाता है और जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं है वह यदि पुण्य करे तो भी अनंत दुःखोंको भोगता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी अनेकविध महिमा है, इसलिये जो अनंत सुख चाहते हैं उन समस्त जीवोंको उसे प्राप्त करने का सर्व प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

श्रीमद् राजचंद्रने भी आत्मसिद्धि के प्रथम पद में कहा है कि:—

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत
समजाव्युं ते पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवंत ॥१॥

जिस स्वरूपको समझे बिना अर्थात् आत्म प्रतीति के बिना यानी सम्यग्दर्शनको प्राप्त किये बिना अनादिकाल से केवल अनंत दुःख ही भोगा है उस अनंत दुःख से मुक्त होने का एक मात्र उपाय सम्यग्दर्शन है, दूसरा नहीं।

वह सम्यग्दर्शन आत्मा का ही स्वस्वभावी गुण है। सुखी होने के लिये सम्यग्दर्शनको प्रगट करो।

त्याग का अर्थ

आत्मा के परका त्याग नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु रागद्वेप का त्याग भी नाम मात्र (कथनमात्र) के लिये है। राग के त्याग का कर्तृत्व द्रव्यदृष्टि से आत्मा के नहीं है। अपने स्वभाव में स्थिर होने पर रागद्वेप सहज में ही टल जाते हैं वह त्याग कहलाता है वह भी व्यवहार है।

आत्मा अपने को ग्रहण करता है यह कहना भी व्यवहार मात्र है। क्योंकि ऐसा कहने में "स्वयं" और "स्वयंको पकडता" है, इस प्रकारका ग्राह्य ग्राहक भेद हो जाता है। दृष्टि में ज्ञानी के ग्राह्य ग्राहकका भेद दूर हो ही गया है मात्र पर्यायको समझने के लिये व्यवहार है ज्ञानकी पर्याय भी व्यवहार है।

व्यवहार में बंध है, इसलिये मैं पर्याय में निमित्ताधीन हूं (पुरुपार्थ में कमजोरी है) यों जानता है किन्तु वस्तुकी दृष्टि से अबंध हूं, ऐसी प्रतीति होने के बाद पर्याय में पर के ऊपर जितना लक्ष्य जाता है वह अवस्था की अशक्ति है। मान्यता में (दृष्टि में) तो बंध है ही नहीं, पर्याय में जो राग होता है वह परको लेकर नहीं है, यह जान लिया अर्थात् "इस पर वस्तुको लेकर मैं नहीं हूं अथवा पर के कारण से मेरी पर्याय नहीं है।" इस प्रकार वह अशक्त पर्यायको छोड़ता जाता है यही निर्जरा है।

सत्य त्रिकाल एकरूप है, सत्य से इनकार कौन कर सकता है। द्रव्य तो इनकार करता नहीं है किन्तु भीतर जो विपरीत मान्यता रूप महान शल्य है उसे इनकार करवाता है। भगवान आत्मा सुखशय्या में ही सोता है।

निश्चय व्यवहार का स्वरुप

(१) निश्चय-यथार्थ भाव, व्यवहार-अयथार्थ भाव
(२) निश्चय-स्वाभाविक भाव, व्यवहार-निमित्ताधिन भाव
(३) निश्चय-सत्यार्थ, व्यवहार-असत्यार्थ
(४) निश्चय-त्रिकालिक भाव, व्यवहार-क्षणिक भाव
(५) निश्चय-ध्रुव भाव, व्यवहार-उत्पन्न ध्वंशी भाव
(६) निश्चय-त्रिकाल स्थिर रहनेवाला भाव
व्यवहार-क्षणस्थायी भाव
(७) निश्चय-स्वलक्षी भाव, व्यवहार-परलक्षी भाव
(८) निश्चय-वास्तविक स्वरूप, व्यवहार-कथन मात्र स्वरूप
(९) निश्चय-स्वद्रव्याश्रित, व्यवहार-संयोगाश्रित
(१०) निश्चय-अन्य के भावको अन्यका नहीं कहता, किन्तु अपने भावको ही अपना कहता है। द्रव्याश्रित होने से जीव के स्वाभाविक भाव पर अवलम्बित रहता है।

व्यवहार-औपाधिक भाव पर अवलम्बित होने से अन्य के भावको अन्यका कहता है।

अब विचार करो कि ऊपर जो अर्थ किये गये हैं उनमें से निश्चयाश्रय करने योग्य है अथवा व्यवहाराश्रय? जितनी जो आकुलता होती है वह सब व्यवहाराश्रय के कारण होती है; और जो जितनी निराकुलता होती है वह सब निश्चय के आश्रय से होती है; यह सब विचारकको ज्ञात हो जाना मुश्किल नहीं है।

हिंसा का स्वरुप

आगम ग्रंथ में हिंसा के विषय में लिखा है कि:—

रागी द्वेपी अथवा मूढ़ बनकर आत्मा जो कार्य करता है वह हिंसा है। प्राणी के गुणों का तो वियोग हुआ, किन्तु आत्मा उस समय रागादि विकारों से मलिन नहीं हुआ, ऐसी स्थिति में समझना चाहिये कि हिंसा नहीं हुई है—वह अहिंसक ही है।

यह नहीं है कि अन्य जीव के प्राणोंका विघात होने से ही हिंसा होती है, अथवा उसके प्राणोंका वियोग नहीं होने से अहिंसा होती है; किन्तु यह समझना चाहिये कि आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। अर्थात् प्रमाद परिणाम युक्त आत्मा ही स्वयं हिंसा है और अप्रमत्त आत्मा ही अहिंसा है।

आत्मा ही हिंसा है और वही अहिंसा है ऐसा जिनागम में निर्णय किया है। प्रमाद रहित आत्माको अहिंसक कहा है और प्रमाद सहित आत्माको हिंसक कहा है। जीव के परिणामाधीन बंध होता है। जीवका मरण हो या न हो, परिणाम के वशीभूत हुआ आत्मा कर्म से बद्ध होता है ऐसी सत्य दृष्टि से बंधका संक्षिप्त स्वरूप कहा है। ★

॥ जैनं जयतु शासनम् ॥

भगवान महावीर संक्षिप्त जीवन चरित्र

[लेखक श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी]

तीर्थंकर का जन्म कब होता है ?

कर्मभूमि में आत्मस्वरूप को समझने के लिये अनेक जीव पात्र होते हैं तब एक जीव अपने उन्नति क्रम को साधता हुआ उस भव में अपने गुणों को पूर्ण करने वाला तथा पुण्य में भी पूर्ण मनुष्य रूप में जन्म लेता है। वह जीव केवल ज्ञान प्राप्त करता है तब उसके बाद पात्र जीव उनका आत्मस्वरूप का उपदेश सुनकर स्वरूप के भ्रम को दूर करके धर्म को पाता है और वह विकार के महा समुद्र को पार कर लेता है। तीर्थंकर भगवान के निर्वाण के बाद जबतक धर्म को प्राप्त करने योग्य जीव होते हैं तबतक उनके उपदेश और आगम के अभ्यास के द्वारा वे धर्म को पाते हैं और तबतक प्रत्येक तीर्थंकर का शासन चलता है और इसीलिये उन केवल-ज्ञानी महा-पुरुष को तीर्थंकर कहा जाता है। वर्तमान चौबीसी में भरत क्षेत्र में वैसे चौवीस तीर्थंकर होगये हैं। उनमें से श्री वर्द्धमान स्वामी अंतिम तीर्थंकर हैं।

महाविदेह और भरतक्षेत्र का अंतर

कर्मभूमि में महाविदेह क्षेत्र में आत्मस्वरूप को समझने के पात्र जीव हमेशा होते हैं और इसलिये वहां तीर्थंकर भी हमेशा होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में ऐसे योग्य जीव कभी कभी होते हैं और कभी नहीं होते। जब काल क्रम से ऐसे योग्य जीव इस क्षेत्र में होते हैं तब तीर्थंकर का जन्म होता है और जीव धर्म को प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर भगवान के निर्वाण के बाद भी जबतक उनके उपदेश को समझ कर धर्म पालन करने वाले जीव होते हैं तबतक उन तीर्थंकर का शासन चलता है। यहांपर कुछ समय के लिये धर्म विच्छेद भी होजाता है ऐसे अंतरकाल चौथे काल में तीर्थंकर भगवान श्री सुविध नाथ से लेकर सात तीर्थों में आये थे।

वर्तमान काल में धर्म शासन

पंचम काल में धर्म विच्छेद नहीं होता, धर्म पंचम काल के अंत तक अर्थात् २१००० वर्ष तक चलता रहेगा और उसमें से अभी २५०० वर्ष ही पूर्ण हुये हैं। चौथे के धर्म विच्छेद काल की अपेक्षा से यह काल अच्छा है। धर्म इस काल के अंत तक रहेगा। इससे सिद्ध है कि वैसे लायक जीव वर्तमान में इस जगत में हैं और इसके बाद भी होंगे।

जब धर्म के स्वरूप को नहीं समझने वाले धर्मनायक या अगुआ बन बैठते हैं तब जिज्ञासु पात्र जीवों को धर्म प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयां आजाती हैं इस अपेक्षा से इस काल को हलका कहा जाता है। फिर भी इस काल में धर्म को पानेवाले जीव अभी हैं और भविष्य में भी प्राप्त करेंगे। इसलिये जीवों को निरुत्साही होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार वर्तमान में इस क्षेत्र में भगवान महावीर स्वामी का शासन प्रवर्तमान है।

भगवान महावीर के माता, पिता, जन्मस्थान और तिथि

भगवान महावीर स्वामी का जन्म विक्रम संवत् से पांचसौ तेतालीस वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन वैशाली देश के कुंडलपुर नगर में राजा सिद्धार्थ के यहां हुआ था। उनकी माता का नाम त्रिशला देवी था। भगवान महावीर के पूज्य पिता इक्ष्वाकु या नाथवंश के मुकुटमणि समान माने जाते थे। भगवान की माता त्रिशलादेवी लिच्छवि क्षत्रियों के नेता राजा चेटक की पुत्री थी।

भगवान के तीर्थंकर नाम कर्म का बंध

भगवान महावीर अपने अंतिम तीसरे भव में छत्राकार नगर के नंदराजा थे। वे सम्यग्दृष्टि थे और सम्यक्त्व के निःशंकितादि आठ गुणों से युक्त थे उनने श्रावक के १२ व्रत अंगीकार किये थे। उसके बाद महामुनि प्रौष्ठिल के उपदेश से यथार्थ साधुत्व अंगीकार किया था। उन नंद मुनीश्वर ने भाव सहित १६ भावनाओं को भाते हुये तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया था।

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र

आयुपूर्ण होने पर वे अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुये वहां सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्दृष्टि के आठ अंगोंका पालन किया। स्वर्ग के भोगोपभोगों को सड़े हुये। तिनके के समान मानकर आयु को पूर्ण किया।

जन्म से छह मास पूर्व से रत्न वर्षा

अच्युत स्वर्ग के इन्द्र के रूप में जब भगवान की आयु के छह मास शेष रहें तब सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने कुवेर के सूचित किया कि भरत क्षेत्र में सिद्धार्थ राजा के घर कुंडलपुर में अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान का जन्म होने वाला है, इसलिये नगर की शोभा करके रत्नों की वर्षा करें। कुवेरने उस आज्ञा के स्वीकार करके रत्नों की वर्षा की।

गर्भ में आगमन

छह मास पूर्ण होने पर एक रात्रि के पिछले पहर में असाढ़ शुक्ला ६ के दिन भगवान की माता त्रिशला देवीं के सोलह स्वप्न दिखाई दिये। उसके बाद उनने राजा सिद्धार्थ के पास जाकर अपने सोलह स्वप्न सुनाये और उनका फल पूछा। राजा सिद्धार्थ ने प्रत्येक स्वप्न का फल कह सुनाया और बताया कि तुम्हारे गर्भ में अंतिम तीर्थंकर आये हैं। यह सुनकर हर्ष और उल्लास के साथ माताजी वहां से चलीं गईं। भगवान का गर्भ कल्याणक मनाने के लिये कुंडलपुर में देवों का आगमन हुआ और भगवान की माता की सेवामें छप्पन देवियां आकर रहीं। वे भगवान की माता से धर्मसंबंधी अनेक प्रश्न पूछती और कथा वार्ता सुनाया करती थीं।

जन्म कल्याणक

चैत्र शुक्ला १३ के भगवान का जन्म हुआ। भगवान का शरीर दैदीप्यमान और उद्योतमान होता है उनके जन्म समय समस्त विश्व में प्रकाश हो जाता है और नर्क के जीव भी कुछ समय के लिये साता का अनुभव करते हैं। उस समय चारों प्रकार के देवों का आसन कंपित हुये और देवलोकमें अनाहत घंटी की आवाज हुई। सौधर्म के इन्द्र और देव, देवियां भगवान का जन्मोत्सव मनाने के लिये आये। भगवान के मेरु पर्वत पर ले गये और जन्माभिषेक किया, वहां से वापिस आकर भगवान के उनकी माताजी के सोंपकर उनके माता पिता का सन्मान किया और सौधर्म इन्द्र ने तांडव नृत्य किया।

कुछ स्पष्टीकरण

इस विषयसे अपरिचित जिन लोगों ने यह कथन नहीं सुना है उन के समझाने के लिये कुछ विशेष स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है। इस क्षेत्र में वर्तमान में जो जीव हैं, उनमें से कुछ लौकिक पुण्यवाले जीव भी होते हैं, उनने पूर्वभवोंमें आत्मा का दुर्लक्ष्य किया और साथ ही कुछ मंद कषाय भी की इसलिये उनके सामान्य पुण्योदय के फल स्वरूप अनेक अनुकूल बाह्य संयोग आज भी दिखाई देते हैं। धनवानों की स्त्रियें अथवा रानियों की गर्भ रक्षा के लिये अनेक नोकरों, दासियों, वैद्य और औषधियों की व्यवस्था की जाती है। बालक के जन्म समय भी अनेक प्रकार की उच्चतम व्यवस्था की जाती है।

साधारण स्थिति वाले पुरुष के यहां पुत्र जन्म से लेकर चक्रवर्ती के यहां तक पुत्र जन्म का उत्सव उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है किन्तु वह परिपूर्ण नहीं हो पाता किन्तु जिसके यहां तीर्थंकर का जन्म होता हैं उसके यहां वह उत्सव पूर्ण होता है।

तीर्थंकर का जन्म मात्र मनुष्यों के नहीं किन्तु त्रिलोक के समस्त प्राणियों के (मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकियों के) आनंदित करता है। उनके जन्मोत्सव के लिये बड़े बड़े चक्रवर्ती और इन्द्र इत्यादि आते हैं और उसमें सम्मिलित होकर अपने के धन्य मानते हैं। क्योंकि तीर्थंकर का जन्म संसार के प्राणियों के लिये उद्धारक सिद्ध होता है। इस काल के २४ तीर्थंकरों में से अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हैं। उनका जन्म होने पर तीनें लोक में शांतिका साम्राज्य फैल गया था। जाति विरोधी प्राणी भी शांतिरस में ओतप्रोत हो गये थे।

जैसे पूर्व दिशा सूर्यके जन्म देकर अंधकारका नाश करती है उससे भी अनेक प्रकार अत्यधिक कुंडलपुर के महाराजा सिद्धार्थकी महारानी त्रिशलादेवीने भगवान महावीरके जन्म देकर संसार के महान् अज्ञानांधकार का नाश कराया था। उनके समान अंधकार का नाश अनंत सूर्यों के द्वारा त्रिकाल में भी होना सर्वथा अशक्य है।

भगवान महावीर स्वामी के जन्म कल्याणक महोत्सव का वर्णन अन्य संसारी प्राणियों के जन्मोत्सव से सर्वथा लोकोत्तर, अनुपम, असाधारण होता है और वह प्राणी मात्र के लिये कल्याणकारक होता है।

जब सम्यग्दृष्टि अर्थात आत्मोन्मुखी भाव के रखने वाला जीव आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता और

धर्मानुरागमें कर्तृत्वभाव के विना जुड़ना होता है तव किसी के तीर्थंकर नाम पदकी पुण्य प्रकृति का बंध अवांछित वृत्ति से होता है। जगतमें यह सर्वोत्तम पुण्य है। पुण्य का कोई भी पद उससे महान नहीं है वैसे पुण्यवान जीव के माता पिता भी उच्च पुण्यशाली होते हैं वैसे पुण्यवान जीव के गर्भ कल्याणक और जन्मकल्याणक सर्वोत्कृष्ट रीति से मनाये जाते हैं यह न्याय संगत ही है।

सौधर्म के इन्द्र तथा अन्य अनेक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं। जव वे यह जानते हैं कि भरतखंडमें केवल ज्ञान का सूर्य अव थोड़ेही समयमें उगने वाला है तव वे धर्मरूचिवान होने के कारण ऐसे महान धर्मी जीव के कल्याणकोत्सवों को अपने लाभ के लिये मनाते हैं। जवतक सम्यग्दृष्टि पूर्ण वीतराग नहीं हो जाता तबतक उसे सच्चे देव गुरु और धर्म के प्रति ऐसा राग हुये विना नहीं रहता और उस रागसे धर्म लाभ होगा ऐसा कभी नहीं मानता।

पूर्वभव के ज्ञानों का अस्तित्व

भगवान जव अपनी माता के गर्भ में आते हैं तव वे सम्यग्दृष्टि होते हैं और उनके सुमति, सुश्रुत और सुअवधि यों तीन ज्ञान होते हैं और वे तीनों ज्ञानों के साथ जन्म लेते हैं।

भगवान के शरीरकी रचना

भगवान के शरीर पर १००८ उत्तम चिन्ह होते हैं उनके शरीर में वालक, तरूण अथवा वृद्धत्व नहीं होता। वालककी तरह अज्ञानता, युवककी तरह मदांधता और वृद्धकी तरह जीर्ण देह नहीं होता। समस्त जीवन भर उनके शरीरका अत्यंत सुंदर रूप और अतुल वल वना रहता है। उनके शरीर में पसीना इत्यादि नहीं होता। यद्यपि केवलज्ञान होने तक उनके अशन पान होता है किन्तु जन्म से ही नीहार नहीं होता, उनकी माता के ऋतुस्राव नहीं होता।

भगवान के जन्म के दश अतिशय

भगवान के ३४ अतिशय होते हैं, दश जन्म के, दश केवलज्ञान के और १४ देवकृत। उनमें से जन्म के दश अतिशय निम्न प्रकार हैं:—

(१) मलमूत्र का अभाव (२) पसीने का अभाव (३) सफेद खून (४) समचतुरस्र संस्थान (५) वज्रवृषभ-नाराचसंहनन (६) सुंदररूप (७) सुगंधित शरीर (८) सुलक्षणता (९) अतुल्य बल (१०) हितमिष्ट वचन।

सम्यग्दर्शनकी भूमिका में जो तीर्थंकर कर्म प्रकृति के बंध का भाव आता है वह शुभभाव है। सम्यग्दृष्टि उसे अपने गुणकी हानि मानता है। जो यह मानता है कि पुण्य से धर्म होता है, उसके सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, यह मुमुक्षुओंको ध्यान में रखना चाहिये। शास्त्रों में पुण्य का कथन पुण्य के स्वरूप को समझने के लिये होता है। आत्माको उससे लाभ होता है यह मनवाने के लिये शास्त्रों का कथन नहीं है।

भगवानकी वाल्यावस्था

तीर्थंकर अपने काल में सर्वोत्कृष्ट होते हैं। वे गृहस्थावस्थामें उस पद वाले गृहस्थों में सर्वोत्कृष्ट होते हैं, उनका पुरुषार्थ सदा आत्मोन्मुखी होता है। आठवें वर्ष में ही वे अपने पुरुषार्थ से परावलंबनवृत्ति को इस हद तक तोड़ देते हैं कि उनके पंचमगुणस्थान की शुद्धि प्रगट हो जाती और शुभभाव में १२ व्रत का ग्रहण प्रगट होता है, उनके सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य होता है। भगवान शुद्ध के लक्ष्य से धर्मध्यान में तल्लीन रहते थे इसलिये उनका राग अतिमंद होगया था।

भगवान का सम्यग्ज्ञान पूर्वक त्यागभाव

भगवान कुमारावस्था से ही विलासिता से दूर थे, वे सतत अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करते थे। जव उनने अपने माता पिता के द्वारा राजा जितशत्रु की कन्या यशोदा के साथ अपनी सगाई करने का विचार ज्ञात किया तव उनने वैसा करने के लिये स्पष्ट इनकार कर दिया। उस समय उनकी उम्र तीस वर्ष की थी। भगवान ने अवधिज्ञान के द्वारा देखा कि उनकी आयु अव ४२ वर्ष की शेष है इसलिये उनने भाव साधुत्व प्रगट करने का तत्काल निश्चय कर लिया। भगवान के ३० वें वर्ष में क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होगया।

भगवान का दीक्षा कल्याणक

ब्रह्म स्वर्ग में लौकांतिक देव होते हैं और वे एक भवावतारी होते हैं। भगवान के पर्याय की शुद्धता और साधुत्वकी योग्यता के लिये तैयारी होती हैं तव वे भगवान के पास आकर उन्हें दीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञान रूपी सूर्य को प्रकाशित करने के लिये निवेदन करते हैं। इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी के पास लौकांतिक देव

संबोधनार्थ आये और भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। यह जानकर चारों प्रकार के देवों को आनंद हुआ और उत्सव मनाने के लिये इस क्षेत्र में आये। और भगवान ने मगसिर वदी १० को दीक्षा ग्रहण की तथा केशलोंच किये, उसके बाद वे साधु के रूपमें विचरने लगे।

जीस जीव के सातवां गुणस्थान प्रगट होता है वह छठ्ठे और सातवें गुणस्थान में हजारों बार आता हैं वह सच्चे साधु कहलाते हैं। उनके स्पर्श इंद्रिय संबंधी आसक्ति नहीं होती, इसलिये उनके शरीरको ढकने की वृत्ति भी नहीं होती। वहां पर निस्परिग्रह दशा होने से यथाजात रूप में भगवान और प्रत्येक भाव साधु होते हैं, इसलिये भगवान के वस्त्र या पात्र नहीं होता।

चंदना सती

चेटक राजा के सात लड़कियां थीं। उनमें एक भगवानकी माता त्रिशला, दूसरी ज्येष्ठा, तीसरी चेलना, (श्रेणिक राजाकी पत्नी) चौथी मशक और पांचवी चंदना थी। वह बहुत रूपवती थीं। उसे एक वनचर ले भागा और कौशाम्बी नगरी में वृषभसेन के यहां दे दी। वृषभसेन के सुभद्रा नामकी स्त्री थी, उसे डाह उत्पन्न हो गई, इसलिये वह चंदनाको बंधन में डालकर दुःख देने लगी। उस दशा में भी वहां पर चंदना धर्म ध्यान में लीन रहती थी। एकबार भगवान आहार के लिये गांवमें पधारे। चंदनाको भगवान के दर्शन हुये और पुण्य के उदय से उसके शरीर के सब बंधन टूट गये। चंदनाका समस्त शोक संताप दूर हो गया और चित्त में परम उल्लास आगया। उसने हाथ जोड़कर और मस्तक नवाकर भगवान की वंदना की और विधिपूर्वक भक्तिभाव से उनको पडगाहा। चंदना के पास जो छाछ और कोदों का आहार था वह चावल और दूध की खीर के रूप में परिणत होगया और जो उसके पास मिट्टी का पात्र था वह सोने का होगया। उसने भगवान की नवधाभक्ति करके प्रासुक आहार दिया, इससे स्वर्गलोक में देवों को आश्चर्य हुआ और उनने रत्नादि की वर्षा की और कुछ समय के बाद चंदनाने आर्यिका की दीक्षा ग्रहण करली।

रुद्रकृत उपसर्ग

भगवान पर अनेक उपसर्ग हुये किन्तु वे कभी चलायमान नहीं हुये। एकबार भगवान विहार करते हुये नगर में पधारे। वहां स्मशान में रुद्रने भगवान पर बहुत बड़ा उपसर्ग किया। यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस जीव के गुण प्रगट होता है वह दूसरे पर प्रगट हो ही जाना चाहिये ऐसी बात नहीं है। यह हो सकता है कि दूसरों को गुण मालूम भी न हो। उसकी चौभंगी निम्न प्रकार है:-

(१) एक जीव गुणी हो और वह दूसरेको मालूम हो (२) एक जीव गुणी हो और वह दूसरेको नहीं मालूम हो (३) एक जीव गुणी न होकर के भी दूसरे को गुणी मालुम हो (४) एक जीव गुणी न हो और वह दूसरेको गुणी न मालुम हो।

इस चौभंगीको बहुत से लोग एक तरफ रख देते हैं, उदारता के संबंध में भी यह चौभंगी लागु होती है, इससे विरुध्ध मानना सो महादोष है। इस क्षेत्र में इस कालमें जो मनुष्य थे उनमें सर्वोत्कृष्ट गुणी भगवान महावीर थे, फिर भी रुद्रको वैसा भासित नहीं हुआ और जब भगवान उज्जैन नगरी के श्मशान में ध्यान मग्न होकर बैठे हुये थे तब अंतिम रुद्र सात्यकिने प्रभुको देखा और उसी क्षण उन पर उपसर्ग किया। अपनी बल विद्या का प्रारंभ किया, अति विकराल स्वरूप धारण किया, क्षण में स्थूल और क्षण में सूक्ष्म होने लगा। कहीं गाने लगा तो कहीं रोने लगा, नख और दांत बढ़ा लिये तथा मुंह में-से भयंकर ज्वाला निकालने लगा। किन्तु भगवान अडोल बने रहे तब उसने भयकर सिंहका रूप धारण किया और घोर गर्जना करने लगा। अपने हाथों को विकराल शस्त्र बनालिया, फणीन्द्रनाग का रूप धारण करके अपने भयंकर फण को इधर उधर चलाने लगा। आयुध धारी सेना का रूप भी बताया और 'मारो मारो' इत्यादि शब्द जोर जोर से बोलने लगा किन्तु भगवान अपनी आत्मा में लीन रहे और पापी रुद्र पाप करता रहा।

भगवान के उपवास का स्वरूप

भगवान के सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र था और वे चारित्र की रमणता में ऐसे एकाग्र रहते थे कि उन्हें आहार लेने की वृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती थी। 'जितनी हदतक राग छूटता है उतनी हदतक उस योग्य बाह्य संयोग भी नही होता' इस नियम के अनुसार भगवान के आहार लेनेकी वृत्ति जागृत न होने से उनके आहारका बाह्य योग भी न था। भगवानने सम्यक्भाव में स्थिर

होकर इच्छा का निरोध अर्थात् शुभाशुभ भाव का निरोध किया था, इसे तप कहा जाता है।

अनेक बाधायें उपस्थित होने पर भी अपने परिणामोंमें चंचलता न होने देना सो तप है। जितनी चंचलता होती है उतनी ही तपमें कमी कहलाती है।

भगवान ज्ञान ध्यान की रमणतामें १२ वर्ष लीन रहे।

केवलज्ञान की उत्पत्ति

उस तप के परिणाम स्वरूप जृंभिका गांव के बाहर ऋजुकूला नदी के तट पर शालवृक्ष के नीचे ध्यान करते करते वैशाख शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञानी—अरिहंत हो गये।

६६ दिन तक दिव्यध्वनि का न खिरना

भगवान महावीर स्वामी के केवलज्ञान उत्पन्न हो गया किंतु ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी, इसका कारण यह था कि उस समय सभा में भगवान महावीर स्वामी की वाणीको झेलनेकी योग्यता रखनेवाला कोई महान् पात्र उपस्थित नहीं था। धर्मसभा में उपस्थित इन्द्रने विचार किया तो उसे मालूम हुआ कि भगवानकी वाणीको झेलने के लिये सर्वोत्कृष्ट पात्र जीव इस सभामें उपस्थित नहीं है और उसने अपने अवधिज्ञान से निश्चय किया कि वैसा पात्र जीव इन्द्रभूति है और इसलिये वह ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्रभूति (गौतम) के पास गया। गौतममें तीर्थंकर भगवान के गणधर होने की योग्यता थी किन्तु उस समय उन्हें यथार्थ भान नहीं था। वे हजारों शिष्यों के बीच बैठ यज्ञ कर रहे थे। इन्द्रने वहां ब्राह्मण वेष में जाकर प्रश्न किया कि:—

"पांच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचनमाता तथा बंध और मोक्षका स्वरूप क्या है और उसके कितने कारण हैं।"

यह प्रश्न सुनकर गौतम महावीर प्रभु के पास जाने के लिये रवाना हुये। मानस्तंभ के पास पहुंचते ही उसका मान गलित हो गया और उसने जब भगवान की वंदना की तो उसे धर्म प्राप्त हुआ और पांच महाव्रत ग्रहण किये। महाव्रत ग्रहण करने के बाद भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि खिरी और गौतम को गणधर पदवी मिली। उनके चार ज्ञान और अनेक लब्धियां प्रगट हुईं। गणधर पद मिलने के बाद उनने उसी दिन (अषाढ़ वदी १ को) रात्रि के अगले और पिछले दो प्रहरों के एक-एक अंतमुहूर्तमेंही बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचना की।

केवलज्ञान के दश अतिशय

केवलज्ञान के प्रगट होनेपर दश अतिशय केवलज्ञानी भगवान के प्रगट होते हैं। तदनुसार भगवान महावीर स्वामी के भी वे प्रगट हुये। वे दश अतिशय निम्न प्रकार हैं:—

(१) उपसर्ग का अभाव (२) अदया का अभाव (३) शरीरकी परछाईं का न होना (४) चतुर्मुख का दिखना (५) सर्व विद्या का प्रभुत्व (६) नेत्रोंकी पलकें न झपकना (७) सौ योजन में सुकाल का होना (८) आकाशमें गमन (९) कवलाहार का न होना और (१०) नख केशों का न बढ़ना।

तीर्थंकर भगवान के देवकृत १४ अतिशय

तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों होते हैं। उनमें दश जन्म के और दश केवलज्ञान के अतिशय कहे जा चुके हैं बाकी के चौदह देवकृत अतिशयों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

(१) अर्धमागधी भाषाका होना (२) सब जीवों में परस्पर में मित्रता का होना (३) सब ऋतुओं के फल फूलों का होना (४) दर्पण के समान भूमि (५) निष्कंटक भूमिका होना (६) मंद सुगंध हवा का चलना (७) गंधोदकको वृष्टि का होना (८) विहार के समय चरणों के नीचे कमलकी रचना (९) सर्व धान्योंकी उत्पत्ति (१०) दशों दिशाओंकी निर्मलता (११) देवोंका आह्वानन शब्द (१२) धर्म चक्रका चलना (१३) अष्टमंगल द्रव्योंका होना और (१४) सब जीवोंको आनंद का होना।

दिव्यध्वनि का स्वरूप

भगवान वीतराग होते हैं इसलिये वे इच्छा रहित होते हैं किन्तु पूर्वबद्ध वचन वर्गणा आत्मा के सर्व-प्रदेशों से छूटती है। उसकी ओंकार ध्वनि होती है, वह एकाक्षरी अथवा निरक्षरी कहलाती हैं। उसमें प्रति-समय संपूर्ण ज्ञानका कथन होता है। सुननेवाले जिस वस्तुको समझने का भाव करते हैं वह दिव्यध्वनि के द्वारा सुनकर समझ लेते हैं। क्योंकि वह अपनी अपनी भाषा में समझ ली जाती है इसलिये दिव्यध्वनि को साक्षरी भी कहा जाता है।

उपदेशदाता या धर्मप्ररूपक

भगवान के इच्छा नहीं होती इसलिये वे उपदेश नहीं देते। सहज स्वभाव से वचन वर्गणा दिव्यध्वनि के रूप में खिरती है उसे सुनकर जीव अपनी पात्रता से धर्म को पाते हैं और उसी अपेक्षा से दिव्यध्वनि के निमित्त होने के कारण भगवान को उपचार से उपदेश दाता कहा जाता है। जिसे लाभ होता है वह विनय पूर्वक कहता है कि भगवान उपदेश दाता हैं इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर कथनमात्र से यों कहने की पद्धति है।

संघसंस्थापक

भगवान रागरहित हैं उनके संघस्थापन का भाव था यों मानना न्याय विरुद्ध है। पात्र जीवोंने दिव्यध्वनि का उपदेश सुना और उसके परिणाम स्वरूप चार प्रकार के भावसाधु हुये इसलिये विनय से यह कहा जाता है कि भगवान ने चतुर्विध साधु संघ की स्थापना की थी किन्तु मात्र यह उपचार है। वह उपदेश सुनकर धर्म प्राप्त करने वाले जीवों के प्रकारांतर से साधु आर्यिका श्रावक और श्राविका नाम के चार विभाग हैं। इन्हें भी चतुर्विध संघ कहा जाता है।

दिव्यध्वनि में कथित वस्तुका संक्षिप्त स्वरूप

(१) जीव अनंत हैं, प्रत्येक जीव स्वयंसिद्ध पूर्ण चैतन्य स्वरूप वस्तु है।

(२) परवस्तुओंसे मुझे लाभ या हानि होती है यों अपनी अवस्था में अनादिकाल से मान रहा है इसलिये वह दुःखी है।

(३) प्रत्येक जीव स्वयं नित्य परिणामी वस्तु है (अपनी वर्तमान अधूरी पर्याय—हालत—विकल्प या निमित्त पर लक्ष्य न दे कर) यदि अपने नित्य ध्रुव चैतन्य स्वभाव की और लक्ष्य दे तो भ्रम दूर हो जाय और सुख प्रगट हो।

(४) जड़कर्म और शरीर के साथ तेरे आत्मा का मात्र एक क्षेत्रावगाह रूप संबंध है।

(५) जो यह मानता है कि मैं अन्य जीवों को जिला रहा हूं अथवा पर जीव मुझे जीवित रख रहे हैं—वह मूढ है, अज्ञानी है ज्ञानी से विपरीत है।

(६) जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूं और पर जीव मुझे मारते हैं वह मूढ़ है, अज्ञानी है, ज्ञानी से विपरीत है।

(७) जो यह मानता है कि मैं परजीवों को सुखी कर सकता हूं या पर जीव मुझे सुखी कर सकते हैं वह मूढ़ है अज्ञानी है, ज्ञानी से विपरीत है।

(८) हे भाई! यह मानना कि मैं जीवोंको सुखी या दुःखी कर सकता हूं, मैं जीवोंको धर्मतक पहुंचा सकता हूं, उन्हें मोक्ष दिला सकता हूं अथवा उन्हें बंधन में डाल सकता हूं तो यह तेरी मूढ़मति है इसलिये वह मिथ्या है।

(९) प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य गुण पर्याय पर से भिन्न हैं। प्रत्येक के द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर से बिल्कुल भिन्न होने के कारण दूसरों के साथ एकरूप नहीं हो सकते इसलिये कोई किसी के लिये कुछ भी नहीं कर सकता। मात्र अज्ञानी परके ऊपर लक्ष्य रखते हैं इसलिये उनके विकार होता हैं। जीव के विकृत होने पर जड़ कर्म अपने निमित्त से वहां आते हैं, अज्ञानियोंका यह विकल्प है—भ्रम है कि 'जीवोंने कर्मोंको बांधा अथवा परका कुछ किया है' अनादि अज्ञान के कारण इस प्रकार कहने का प्रसिद्ध रूढ़ व्यवहार है इसलिये अज्ञानी जीव अपनी भाषा में यों कहते हैं। किन्तु शब्दानुसार अर्थ नहीं होता लेकिन भाव के अनुसार अर्थ होता है।

(१०) जीव को पहले मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। उसके विना यथार्थ ज्ञान या चारित्र नहीं होता।

(११) जो सम्यग्दर्शन युक्त होता हैं, उसके ही सच्चा व्रत, दान, तप अथवा शील हो सकता है, अज्ञानी के नहीं।

(१२) जड़ द्रव्य के पांच भेद हैं। उनमें चार अरूपी हैं और एक पुद्गल द्रव्य रूपी है। उसके विशेष गुण स्पर्श, रस, गंध और वर्ण हैं। शब्द उसकी पर्याय है।

(१३) जीव अपने स्वरूप को समझने के लिये जब पुरुषार्थ करता है तब स्वयं समझ सकता है। यदि वह स्वयं पात्र होता है तो अपने (निमित्त के) कारण से निमित्त मौजूद होता है। निमित्त परका कुछ कर नहीं सकता, मात्र वह उपस्थित होता है।

(१४) तूने आजतक पर का (जीव अथवा जड़का) किंचित् मात्र भी हानि या लाभ नहीं किया।

(१५) आजतक किसीने (जड़ अथवा जीवने) तुझे किंचित् मात्र भी हानि या लाभ नहीं किया।

(१६) हे जीव ! तू क्यों डरता है । जगत् की कोई भी वस्तु जड़ अथवा चेतन तुझे दुःखी या सुखी नहीं कर सकती । तू स्वयं पूर्ण सुखसे नित्य भरा हुआ है । तू क्यों अपने सुख के लिये जगत् की वस्तु (जड़ अथवा चेतन) से आशा रख रहा है ।

(१७) जब कि तुझे पर से सुख या दु.ख नहीं होता तब तुझे परमें हर्ष या शोक, इष्ट या अनिष्ट, अथवा राग या द्वेष करने का क्या कारण है ।

बस ! यदि तू इतना यथार्थ समझ ले और अपने अखंड ध्रुव स्वरूप चैतन्य स्वभाव की ओर लक्ष्य करे तो तुझे सम्यग्दर्शन प्रगट होगा और तू क्रम क्रम से राग द्वेष को दूर कर के संपूर्ण वीतराग हो जायगा ।

(१८) धर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है । अपने स्वरूप को यथार्थ रीत्या समझे विना सम्यग्दर्शन नहीं होता । इसलिये स्वरूप को यथार्थ रीति से समझ कर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये । अभव्य जीव उसे प्रगट नहीं कर सकता । भव्य वृद्ध, बाल, रोगी, निरोगी, सधन, निर्धन सभी उसे प्रगट कर सकते हैं ।

(१९) सम्यग्दर्शनको प्रगट किये विना कोई भी जीव सच्चा अहिंसक, सच्चा सत्यावलंबी, सच्चा अचौर्य-भावी, सच्चा ब्रह्मचारी अथवा सच्चा अपरिग्रही अंशतः अथवा पूर्ण रूप से नहीं हो सकता ।

(२०) सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है और मिथ्यात्व संसारका मूल है। इसलिये जीव के विकारीभाव (पुण्य पाप आस्रव बंध) और अविकारी भाव (संवर, निर्जरा और मोक्ष) को समझ कर शुद्धता प्रगट करना चाहिये ।

अनेकांत का स्वरूप

कुछ लोग कहते हैं कि जब भगवानको केवलज्ञान हुआ था तब जगत्में धर्मकी जो मान्यताएँ चल रही थीं, उनका समन्वय करने के लिये भगवानने अनेकांतकी रचना की थी । किन्तु भगवान तो वीतराग हैं उनके द्वारा रचना की जाने की बात कैसी ?

भगवानको केवलज्ञान में प्रत्येक वस्तुका स्वरूप अनेकांतमय (अनेक धर्ममय) दिखाई दिया और इसलिये दिव्यध्वनिमें अनेकांत स्वरूप आया ।

जिसे जो जैसा अच्छा लगता है वह अनेकांत का वैसा अर्थ किया करता है । इसलिये अनेकांतका जो वास्तविक स्वरूप है वह यहां कहा जाता है ।

भगवान अमृतचंद्राचार्य ने अनेकांत का स्वरूप बडी ही सुंदरता के साथ निम्न लिखित शब्दों में कहा है:—

" एक वस्तु में वस्तुत्व को उत्पन्न करने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करना सो अनेकांत है । "

अनेकांत के दो प्रकार हैं । एक सम्यक् अनेकांत दूसरा मिथ्या अनेकांत । इनमें से जो एक वस्तु में अपने अपने प्रतिपक्षियों के साथ अनेक धर्मों का युक्ति आगम से विरोध रहित निरूपण करे तो वह सम्यक् अनेकांत है। और जो तत् अतत् स्वभाव की शून्य कल्पना करे सो मिथ्या अनेकांत है। अपना प्रयोजन भूत तत्त्वस्वरूप जिस प्रकार है उसप्रकार और अतत् स्वरूप जिसप्रकार है उसप्रकार वह न जाने और अनेक विपरीत कल्पनाएँ किया करे सो मिथ्या अनेकांत है।

एकांत भी दो प्रकारका है

(१) सम्यक् एकांत (२) मिथ्या एकांत । उसमें हेतु विशेष की सामर्थ्य की अपेक्षा से प्रमाण के द्वारा प्ररूपित पदार्थ के एक देश (भाग) को कहना सो सम्यक् एकांत है । और एक ही गुण है यह निश्चय करके दूसरे अन्य समस्त गुणों को न मानना सो मिथ्या एकांत है ।

सम्यक् एकांत के संबंध में श्री समयसारजी में इस प्रकार कहा है:—

" आत्मा का कर्म निमित्तक मोह के साथ संयुक्तरूप अवस्था से अनुभव करते हुये जो संयुक्तपन है सो भूतार्थ है—सत्यार्थ है । फिर भी स्वयं एकांत बोधबीजरूप स्वभाव है उस के (चैतन्य भाव के) समीप जाकर अनुभव करते हुये जो संयुक्तपन है सो अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । "

सिद्ध भगवान के एकांत सुख है यों कहा जाता है सो सम्यक् एकांत है क्यों कि उसमें सम्यक् अनेकांत निम्न प्रकार से आता है—सिद्ध भगवान के एकांतसुख है अर्थात् भगवान के सुख अस्तिरूप से है संसारी सुख दुःख नहीं हैं इसलिये नास्तिरूप से है । इस प्रकार अस्ति नास्ति रूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करना सिद्ध भगवान के सच्चे सुखरूप को उत्पन्न करता है ।

श्री प्रवचनसार में एकांत दृष्टि और अनेकांत दृष्टि के अर्थ निम्न प्रकार किये हैं:—

एकांतदृष्टि का स्वरूप और उसका व्यवहार

जो जीव सर्व अविद्या के मूल कारण जीव पुद्‌गल स्वरूप असमान जातिवाले द्रव्य की पर्याय को अपनी मानता है और आत्मस्वभाव की भावना में नपुंसक की भांति अशक्ति (निर्वलपन) धारण करता है सो वास्तवमें निरर्गल एकांतदृष्टि ही है।

मैं मनुष्य हूं, यह मेरा शरीर है, इस तरह के भिन्न भिन्न प्रकार के अहंकार और ममकार से विपरीत ज्ञानी होकर अविचलित आत्म व्यवहार को धारण करने की जगह समस्त निंद्य क्रिया समूह को अंगीकार करने से पुत्र, स्त्री, मित्रादि मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके रागद्वेषी होता है और परद्रव्य—कर्मों की संगति से पर समय–विकार भाव में रत होता है।

अनेकांत दृष्टि और उसका व्यवहार

जो जीव अपने द्रव्य गुण पर्यायों की अभिन्नता से स्थिर हैं, जो समस्त विद्याओं के मूलभूत भगवान आत्मा के स्वरूप को प्राप्त हुये हैं जो आत्मस्वभाव की भावना से पर्याय (शरीर-वर्तमान अवस्था) में रत नहीं है और आत्म स्वभाव में स्थिरताको बढ़ाते हैं, जो जीव स्वाभाविक अनेकांत दृष्टि से एकांतदृष्टि रूप परिग्रहको दूर करनेवाले हैं, जो मनुष्यादि गतियों में शरीर संबंधी अहंकार ममकार भावों से रहित हैं। जैसे अनेक ग्रहों में संचार करनेवाला रत्नका दीपक एक ही है उसी प्रकार से जो एकरूप आत्माको प्राप्त हुये हैं जो अचलित चैतन्य विलासरूप आत्म व्यवहारको करते हैं सो उनकी वह अनेकांतदृष्टि है। अयोग्य क्रियाका मूल कारण–मनुष्य व्यवहार है उसे वह अंगीकार नहीं करता।

अनेकांतदृष्टि और एकांतदृष्टि तथा उनके निश्चय और व्यवहार के उपर्युक्त कथन में से निकलने वाले सिद्धांत निम्न प्रकार हैं:—

मिथ्या अनेकांतदृष्टि संबंधी

(१)

१–संसारका मूल अविद्या (मिथ्यादर्शन) है और उसका फल शरीरकी प्राप्ति है।

२—मनुष्य शरीरको अपना मानता है, मैं मनुष्य हूं यों मानता है, जो शरीर है सो मैं हूं, और शरीर मेरा है यों मानता है अर्थात् वह शरीर का कुछ कार्य कर सकता है यह मानता है। वह आत्मा अनंत रजकणों को एक रूप मानता है (अनंत के मिलाप को एक मानता है) इसलिये एकांतदृष्टि है और वह निश्चय कुनय है।

३—एकांत दृष्टि का व्यवहार अर्थात् मैं मनुष्य हूं ऐसा भाव करना सो मिथ्यादृष्टि का व्यवहार है वह व्यवहार कुनय है।

४—उपर्युक्त एकांत दृष्टि को भगवान ने परिग्रह कहा है।

सम्यक् अनेकांत द्रष्टि संबंधी

(२)

१—समस्त सत्य विद्या के–मूलरूप भगवान आत्मा के स्वरूप को प्राप्त होना, आत्म स्वभाव की भावना (अभ्यास) में युक्त होना और आत्म स्वभाव में स्थिरता को बढाना सो अनेकांत दृष्टि है।

२—जीव का स्वभाव अनेकांत दृष्टि है, मैं और शरीर प्रथक् हैं, मैं शरीर का कुछ नहीं कर सकता, मैं शरीर को कुछ कर सकता हूं यों मानना सो एकांत दृष्टि रूप परिग्रह है। उसमान्यता को मैं दूर करने वाला हूं यों मानता है इसलिये वह अनेकांतदृष्टि है। वह जीव को रागद्वेष तथा परवस्तु को अनेक (प्रथक्) मानता है इसलिये वह अनेकांत दृष्टि है।

३—वह अपने एकरूप (ध्रुवस्वभाव रूप) आत्मा का आश्रय करता है वह उसका निश्चयनय है।

४—अचलित चैतन्य विलास रूप आत्म व्यवहार को वह अंगीकार करता है सो वह उसका व्यवहार नय है।

ज्ञेयके भिन्न २ पहलुओं का ज्ञान (नय)

प्रत्येक वस्तु में त्रिकाल स्थिर रह सके और समय समय पर अवस्थांतर होती रहे ऐसा स्वभाव है और फिर एक वस्तु अपनी अपेक्षा से अस्तिरूप है और परापेक्षा से नास्तिरूप है तथा प्रत्येक वस्तु में अनंतगुण और समय समय पर उनगुणों की एक एक अवस्था होने का कारण समय समय पर सभी गुणों की (अवस्था) साथ में लेनेपर अनंत अवस्था होती है, इस प्रकार ज्ञेय पदार्थों में अनेक विभाग (पहलू) होजाते हैं। जब अपूर्ण जीव

एक विभाग का विचार करता है तब वह दूसरे विभागों के होने पर भी उनका विचार एक साथ नहीं कर सकता इसलिये जो विभाग ज्ञान में लिया है उसे उस विभाग का ज्ञान हुआ कहलायेगा। वह ज्ञान आंशिक है। यदि उसके उस समय ज्ञानमें गौण रूप से यह हो कि दूसरे भी विभाग हैं तो जिस विभागको ज्ञान में प्रधान किया है वह समस्त ज्ञान का अंश है, इसलिये वह 'नय' कहलाता है।

सप्तभंगी का स्वरूप

प्रत्येक वस्तु को समझने के लिये उसका ज्ञान सात प्रकार से हो सकता है इसलिये उसे सप्तभंगी कहते हैं उसके दो उपभेद बताये गये हैं। (१) प्रमाण सप्तभंगी (२) नय सप्तभंगी। ऐसा भगवान की दिव्यध्वनि में आया है। उसमें से प्रमाण के दो भंग 'अस्ति-नास्ति' हैं, उन्हें मुमुक्षुओं को विशेषतः समझना चाहिये। यदि जीव यथार्थ रीति से यह जानले कि वह स्वयं अस्ति रूप कैसे है? और स्वयं किस प्रकार नहीं है तो उसकी समझ में आजाय कि मैं स्व-रूप से हूं और पर रूप से नहीं हूं। मैं स्व-रूप से अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से हूं इसलिये मैं परका हानि लाभ नहीं कर सकता और पर मेरा हानिलाभ नहीं कर सकता। मैं स्वयं ही अपने अच्छे बुरे का कर्ता हूं, मैं अपने आप दोषोंका करता हूं, फिर भी दूसरे का दोष निकालना यह विपरीतता है इसलिये प्रत्येक जीवको उस स्वरूपको समझ कर विपरीतताको दूर करना चाहिये। ऐसा उपदेश इन भंगों के द्वारा भगवानने दिया है।

भगवान के द्वारा प्ररूपित अहिंसा

अहिंसा चारित्र का अंग है और सम्यक्चारित्र सम्यक्दर्शन के बिना नहीं हो सकता इसलिये मिथ्यादृष्टि के वास्तविक अहिंसा नहीं होती।

लौकिक मान्यता ऐसी है कि पर जीवोंकी हिंसा नहीं करना चाहिये, इस प्रकार के धर्म का उपदेश भगवानने दिया है। पर यह मान्यता भूल से भरी हुई है 'किसी जीवको नहीं मारना चाहिये, दुःख नहीं देना चाहिये' ऐसा उपदेश प्रत्येक धरमें लोग दिया करते हैं। पाठशालाओंमें भी वह उपदेश किसी न किसी अंश में दिया जाता है। यदि भगवानने उसे धर्म कहा हो तो भगवानको लौकिक पुरुष मानना चाहिये, किन्तु भगवान के अनंत वीर्य प्रगट होने के बाद जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है उसमें ऐसा उपदेश होता है कि यह लौकिक मान्यता गलत है। कोई किसीकी हिंसा नहीं कर सकता, किन्तु जीव हिंसा के विकारीभाव कर सकता है और इस प्रकार जीव अनादिकाल से अपनी हिंसा कर रहा है। भगवानने अहिंसा का स्वरूप इस प्रकार कहा है:-

जीवमें मोह (मिथ्यादर्शन) और रागद्वेष का उत्पन्न होना सो हिंसा है और उसका पैदा न होना एवं आत्मस्वरूप में स्थित रहना सो अहिंसा है यह अहिंसा ही सच्चा धर्म है। भाव हिंसा के बिना द्रव्य प्राणों का घात भी नहीं कहलाता। जो जीव उक्त अहिंसा का सर्वथा पालन नहीं कर सकता वह जितने अंश में सच्ची अहिंसा को पालेगा उतने ही अंशमें अहिंसक कहलायेगा और शेष अंशोंमें हिंसा का भागी है। ध्यान रहे कि "(जितने अंशमें) वीतराग भाव है सो वहीं अहिंसा है, और शुभराग भी हिंसा है।" इस अहिंसा का भगवान महावीर स्वामी ने प्ररूपण किया है। भगवान अलौकिक आत्मा थे, इसलिये उन के द्वारा बताई हुई अहिंसा भी अलौकिक होनी चाहिये, यही न्याय की बात है।

अपने स्वरूप को यथार्थ रीति से समझकर मिथ्यादर्शन को दूर किये बिना कोई भी जीव अहिंसक, सत्यरूप, अचौर्यरूप, ब्रह्मचर्यरूप अथवा अपरिग्रहरूप अंशतः या पूर्णरूप से नहीं हो सकता। स्पष्टतया दिव्यध्वनि से जब यह धर्मोपदेश प्रगट होता था तब शासन के भक्त देव दुंदुभिनादसे उसका स्वागत करते थे।

श्रोताओं द्वारा प्रगटित फल

भगवान के इस उपदेश को सुनकर बहुत से जीवों ने धर्म प्राप्त किया अर्थात् वे सम्यग्दृष्टि हुये। सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यक्चारित्री हुये। जब वे शुद्ध भावमें नहीं रह सकते तब अशुभ भाव को दूर करके शुभभावमें रहते थे। किसी भी जीवकी हिंसा करने का भाव पाप भाव है, इसलिये ऐसे भावों को भी उनने दूर कर दिया था। जिनने स्वरूप को तो नहीं समझा किन्तु स्वरूप को समझने की जिनमें रूचि हुई उनने भी हिंसा के तीव्र अशुभ भाव को दूर कर दिया था। जिनकी रूचि स्वरूप को समझने की तरफ नहीं हुई, वे मंद कषाय की ओर प्रेरित हुये और इसलिये उनने भी कुछ अंशों

में अशुभ भाव को छोड़ दिया। व्यवहारी (अज्ञानी) लोगों की भाषा में—पर जीवों की हिंसा उस कारण से रुकी, इसलिये अहिंसा बढ़ी, जीव बचे, यों कहने का रूढ़ प्रसिद्ध व्यवहार है। इसलिये लौकिक रीति से तो यह कह सकते हैं कि 'भगवान के उपदेश से पर जीवों की हिंसा रुक गई।' किन्तु शब्दानुसार उसका अर्थ किया जाय तो भगवान पर के कर्ता कहलायेंगे, जो कि असत्य है।

गणधर पद की स्थापना का विरोध

भगवान पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षा प्राप्त काश्यप नाम के एक मुनि थे। वे भगवान महावीर के समोशरण में धर्मोपदेश सुनने के लिये गये। उनकी मान्यता ऐसी थी कि 'मैं गणधर के पद योग्य हूं इसलिये गणधर के रूप में मेरी स्थापना होगी।' किन्तु इससे विरुद्ध ही हुआ। श्री इन्द्रभूति (गौतम) को गणधर पद मिला, इसलिये नाराज होकर वे मुनि समवशरण से बाहर जाकर यह कह कर विरोध करने लगे कि 'महावीर तीर्थंकर ही नहीं हैं वह तो एक माया जाल वाले हैं। यदि वे सच्चे तीर्थंकर होते तो मुझे गणधर पद मिलता।' सत्य का स्वरूप ही ऐसा है कि उससे विरुद्ध असत्य, जगत में होता ही है। और असत्यभाव की प्रगटता सत् के विरोध में ही हो सकती है।

जैनशासन

जैनशासन क्या है, इसके विषय में अनेक विविध प्रकारकी और विचित्र मान्यताएँ प्रचलित हैं। जिज्ञासु सत्य स्वरूपको समझ सके, इसलिये इस संबंध में भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं:-

जो पस्सदि अप्पाणं अवद्धपुट्ठं अणण्ण मविसेसं।
अपदेस सन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष आत्माको अवद्धस्पृष्ट (बंधरहित और पर के स्पर्श से रहित) अन्यपन से रहित विशेष रहित (तथा अध्याहार से चला चलता रहित, अन्य के संयोग से रहित) देखता है वह सर्व जिनशासनको देखता है कि जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुत वाला है।

स्पष्टीकरण—उपरोक्त पांचभाव स्वरूप आत्माकी जो अनुभूति है वही समस्त जिनशासनकी अनुभूति है।

जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है, इस प्रकार गुण गुणीकी अभेद दृष्टिमें आनेवाला जो सर्व परद्रव्यों से भिन्न अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल अपने गुणों में एकरूप पर निमित्त से उत्पन्न हुये भावों से भिन्न अपने स्वरूपका जो अनुभवन है सो ज्ञान का अनुभवन है और जो यह अनुभवन है सो भावश्रुत ज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है अर्थात् भावश्रुत ज्ञानरूप जिनशासन है। जो आत्मा की अनुभूति है सो वही भाव जिनशासन है।

इस संबंध में भावपाहुड में भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यने कहा है कि:—

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनशासने भणितं।
मोह क्षोभ विहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥

अर्थ—जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने यह कहा है कि पूजादिक तथा व्रतादिक से युक्त होना सो पुण्य है किन्तु मोह (मिथ्यादर्शन) और क्षोभ (चारित्रमोह) रहित जो आत्मा का परिणमन है सो धर्म है।

भावार्थ—लौकिक जन तथा कोई अन्यमती कहते हैं कि—'जो पूजादिक शुभक्रिया तथा व्रत क्रिया सहित है सो जैनधर्म है, किन्तु यह ठीक नहीं है। जैनमतमें जिनेन्द्र भगवान ने यह कहा है कि—जो पूजादिक में और व्रत सहित होता है उसमें जो मंद कषाय हो तो पुण्य है। वहां पर पूजा के बाद जो "आदिक-और" शब्द का प्रयोग किया है उससे भक्ति, वंदना, वैयावृत्य आदि लेना चाहिये, जो कि देव शास्त्र गुरु के प्रति होता है और फिर उपवास आदिक व्रत हैं, जो शुभ क्रिया है उसमें आत्मा के राग सहित शुभ परिणाम हैं उसके द्वारा पुण्य कर्म उत्पन्न होता है इसलिये उसे पुण्य कहते हैं, उसका फल स्वर्गादिक भोग की प्राप्ति है।

'मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम' कहा है, उसमें मोह का अर्थ अतत्त्व श्रद्धान है तथा क्रोध, मान, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा यह छह द्वेष हैं और माया, लोभ, हास्य, रति, पुरुष, स्त्री या नपुंसक ये सात राग हैं। इन तेरह प्रकृतियों के निमित्त से आत्मा का ज्ञान दर्शन स्वभाव विकार सहित (मोह क्षोभ रूप) चलाचल व्याकुल होता है; किन्तु उस विकार से रहित शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप जो सच्चा भाव है वह आत्मा का धर्म है। इस धर्म से आगामी कर्म का आस्रव रुकता

है और संवर होता है और पूर्व वद्ध कर्म की निर्जरा होती है। संपूर्ण निर्जरा के होने पर मोक्ष होता है। जिसके सम्यग्दर्शन प्रगट होगया है और आंशिक चारित्रमोह मौजूद है उसके शुभ परिणामको उपचार से धर्म कहा जाता है। (उपचार से अर्थात् वास्तव में नहीं; किन्तु आंशिक शुद्ध भाव हो तब जो शुभभाव होता है उसे अज्ञानी के शुभ भाव से अलग बताने के लिये निमित्त अथवा उपचार कहा जाता है) किन्तु जो मात्र शुभ परिणामको ही धर्म मानकर संतुष्ट हैं उसे धर्म प्राप्ति नहीं है। शुभ करते करते शुद्ध परिणाम प्रगट होगा यह मानने वाला मानों यह मानते हैं कि विकार के करते करते अविकारपन प्रगट होगा और इसलिये वह भूल है, इस प्रकार जैन-शासन का उपदेश है। (देखो अष्टपाहुड पृष्ठ २१९-२२०)

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पर्शति।
पुण्यं भोग निमित्तं नहि तत् कर्म क्षय निमित्तम् ॥८४॥

अर्थ—जो जीव पुण्यको धर्म समझ कर श्रद्धानकरता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है, वह पुण्य भोग का कारण होने से स्वर्गादिक के भोगोंको प्राप्त करता है किंतु इतना स्पष्ट है कि पुण्य क्षय का कारण नहीं है।

भावार्थ—शुभ क्रियारूप पुण्य को धर्म जानकर उसका श्रद्धान ज्ञान आचरण करने से पुण्य कर्म का बंध होता है और उसके द्वारा स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति होती है किन्तु उससे कर्म-क्षय रूप संवर निर्जरा या मोक्ष नहीं होता।

भगवान का विहार

भगवान वीतराग होते हैं इसलिये उनके कोई भी इच्छा नहीं होती। भगवान के सेवक इन्द्र इत्यादि भव्य जीवों के हित के लिये तथा धर्म की प्रभावना के लिये भगवान से विहार की प्रार्थना करते हैं, ऐसा उनका नियोग है। जहां जहां पात्र जीव होते हैं वहां वहां विना ही इच्छा के भगवान का विहार हुआ था।

राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर भगवान के पधारने पर इन्द्र ने वहां समोशरण की रचना की थी। वहां पर राजा श्रेणिक वंदना तथा धर्मोपदेश श्रवण करने के लिये गये थे।

श्रेणिक राजा ने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद सोलह भावनाओं को भाते हुये भगवान के समीप तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया था। उनके व्रत, संयम, नियम इत्यादि कुछ भी नहीं था, किन्तु वे सम्यग्दृष्टि थे। आगामी चौबीसी में वे प्रथम तीर्थंकर होंगे।

भगवान का 'महावीर' उपनाम

श्री वर्धमान स्वामी गत अनेक भवों से सम्यग्दृष्टि थे। उस दृष्टि के साथ आत्मा की स्थिरतामें लीन रहने के लिये भगवान महान् पुरुषार्थ करते थे। "अपने पुरुषार्थ के विना धर्म नहीं हो सकता" इस सिद्धांत पर भगवानने अमल किया था। इसलिये इन्द्र इत्यादि भगवान के सेवक भगवान को महावीर के उपनाम से पुकारने लगे थे और इसलिये वे आज भी भगवान महावीर के नाम से प्रख्यात हैं।

भगवान का मोक्ष गमन

आयु की समाप्ति पर भगवान की आत्मा संपूर्ण शुद्ध हो गई और शरीर से आत्मा के प्रथक् होने पर वह अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव के कारण लोक के अग्र-भागमें विराजमान हो गया। भगवान कार्तिक वदी अमावस्या के दिन वदी चतुर्दशी के पिछले भाग में प्रातःकाल मुक्त हुये थे। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण की यह बात बिजली की तरह सर्वत्र फैल गई। थोड़ी ही देर में देवेन्द्रों, राजाओं, सामान्यदेवों और मनुष्यों के समूह भक्ति से गद्‌गद् होकर निर्वाण भूमि (पावापुरी) में पहुंचे। उस समय प्रातःकाल में कुछ अंधेरा होने से रत्नदीपक और घृतदीपक इत्यादि संजोये गये थे।

भगवान महावीर विश्वके उपकारक और महान् तीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर महापुरुष थे, उसलिये उनके निर्वाण कल्याणक के उपलक्ष्य में अगणित प्रदीप पंक्तियां प्रज्वलित हों यह योग्य ही है। जन समूह भगवान के निर्वाण दिन की समाप्ति की स्मृति में 'दीवाली' उत्सव मनाये यह स्वाभाविक ही है।

भगवान के शासन की वर्तमान स्थिति

भगवान का शासन २१०४२ वर्ष तक चलने वाला है, उसमें से अभी मात्र २५०० वर्ष हुये हैं अर्थात् अभी वीर शासन बहुत समय तक चलेगा, यह बतलाता है कि अभी भी जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का समय है।

फिर भी इस काल में भगवान के तत्त्व ज्ञान के अभ्यास की ओर जैन समाज में घोर अरुचि फैल रही है और उसे प्राप्त करनेका उपदेश भी विरले जीव ही

करते हैं। इतनाही भाग बाह्य क्रिया पर भार देने वाला है, जब कि दूसरा भाग व्यवहारिक शिक्षा की ओर अधिक है। श्रीमद् राजचंद्र ने जैन समाज की वर्तमान स्थिति को निम्न लिखित प्रकार से बताया है। वह किस हद तक ठीक है इसका निर्णय पाठकों को स्वयं करना चाहिये। श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि:—

(१) आश्चर्य कारक भेद होगये हैं।

(२) खंडित है।

(३) संपूर्ण करने योग्य कार्य दुर्गम्य दिखाई देता है।

(४) उस प्रभाव के संबंध में महान् अंतराय है।

(५) देश काल इत्यादि बहुत प्रतिकूल है।

(६) वीतराग का मत लोक प्रतिकूल हो गया है।

(७) रुढ़ि से जो लोग उसे मानते हैं उनके लक्ष्य में भी वह प्रतीत नहीं ज्ञात होता अथवा अन्य मत को वीतराग का मत समझ कर प्रवृत्ति करते जा रहे हैं।

(८) यथार्थ वीतरागों के मत को समझने की उनमें योग्यता की बहुत कमी है।

(९) दृष्टि राग का प्रबल राज्य वर्तमान है।

(१०) वेष इत्यादि व्यवहार में बहुत बड़ी विडम्बना करके मोक्षमार्ग में अंतराय कर बैठे हैं।

(११) तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्ति के अत्यंत अग्रभाग में प्रवर्तित हैं।

(१२) ऐसा लगता है कि किंचित् सत्य के बाहर आने पर भी उन्हें प्राणघात के समान दुःख होता है।

नोट:- इससे जिज्ञासु को निरुत्साह नहीं होना चाहिये किन्तु यह समझना चाहिये कि बड़ी ही सावधानी के साथ सत्य पुरुषार्थ करने का यह कारण है।

जैनधर्म का संक्षिप्त स्वरूप

परानुग्रह परम कारुण्यवृत्ति करते पहले चैतन्य जिन प्रतिमा हो—चैतन्य जिन प्रतिमा हो.

(श्रीमद् राजचंद्र)

भगवान के समय में धर्म प्राप्त महान् आत्माओं की संख्या:—

केवली ७००, पूर्वधारी ३००, मनःपर्ययज्ञानी ५००, विक्रियाऋद्धिधारी ९००, अवधिज्ञानी १३००, आचार्य ४००, उपाध्याय ९९००, श्रावक १०००००, श्राविकायें ३०००००, आर्यिकाएं ३६००० और साधु १४०००।

उपरोक्त संख्या भगवान महावीर स्वामी के समयमें थी। इनके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन को प्राप्त जीव बहुत बड़ी संख्या में थे।

वीतराग भगवान के कथन की तीव्रता को समझने के लिये वर्तमान में प्राप्त साधन

अनंत तीर्थंकरों के द्वारा कही गई आत्मा के स्वरूपकी तीव्रता को समझने के लिये वर्तमान में निम्न लिखित शास्त्र साधन हैं:—

श्री समयसार परमागम, श्री प्रवचनसार, श्री पंचास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री तत्त्वार्थसूत्र, श्री तत्त्वार्थसार, श्री बृहद् द्रव्यसंग्रह, श्री पद्मनंदिपच्चीसी, श्री गोमट्टसार, श्री सर्वार्थसिद्धि, श्री राजवार्तिक, श्री लब्धिसार, श्री क्षपणासार, श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्री अष्टपाहुड़, श्री त्रिलोक प्रज्ञप्ति तथा श्री आत्मानुशासन आदि शास्त्र हैं।

इस विषय का सबसे प्राचीन साहित्य 'षट्खंडागम' श्री भूतबलि और श्री पुष्पदंतकृत है उसपर धवला टीका हुई है, जो हिन्दी अनुवाद सहित छपकर प्रगट हो रही है। इसके अतिरिक्त श्री जयधवल और श्री महाधवल शास्त्र हैं। उनमें से श्री जयधवला टीका हिन्दी अर्थ सहित छपकर प्रगट हो रही है और महाधवला टीका का हिन्दी अनुवाद हो रहा है।

इन शास्त्रों के संबंध में श्रीमद् राजचन्द्रजी ने लिखा है कि:—

"दिगम्बरों के तीव्र वचनों के कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है।"

उपरोक्त शास्त्रों में से श्री समयसार, और आत्मानुशासन गुजराती टीका सहित छपकर प्रगट हो चुके हैं तथा प्रवचनसार का गुजराती अनुवाद प्रगट होने वाला है।

तत्त्व ज्ञान के रसिक जीवों को इन शास्त्रों का तटस्थ भाव से अभ्यास करने की जरूरत है।

जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन, पुस्तक, चमत्कार अथवा व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है। वह तो सत्य का अखंड भंडार है, विश्व का धर्म है, अनुभव उसका आधार है, युक्तिवाद उसका आत्मा है। इस धर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता, वह पदार्थों के स्वरूप का प्रदर्शक है। त्रिकाल अबाधित सत्यरूप है, क्यों कि वस्तुएँ अनादि अनंत है इसलिये उनका स्वरूप प्रकाशक तत्त्वज्ञान भी अनादि अनंत है।

अध्यात्मवेत्ता श्री कानजीस्वामी

-जीवन परिचय-

लेखकः—हिमतलाल
जेठालाल शाह
b. s. c.

परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी का शुभ जन्म विक्रम संवत् १९४६ की वैशाख शुक्ला द्वितीया-रविवार के दिन काठियावाड़ के उमराला गांव में स्थानकवासी जैन संप्रदाय में हुआ था। उनकी माताजी का नाम उजमबाई और पिताजी का नाम श्री मोतीचंदजी भाई था। वे दशाश्रीमाली वणिक थे। बाल्यावस्था में उनके संबंध में किसी ज्योतिषीने कहा कि यह कोई महापुरुष होंगे। बालपन से ही उनके मुख पर वैराग्यकी सौम्यता और नेत्रों में बुद्धि एवं वीर्य का तेज दिखाई देता था।

उनने उमराला के स्कूल में ही विद्याभ्यास किया था। यद्यपि वे स्कूल में तथा पाठशाला में प्रायः प्रथम नंबर पर ही रहते थे, फिर भी स्कूल की व्यावहारिक शिक्षा से उनके चित्त को संतोष नहीं था और उनके भीतर ही भीतर मनमें यह विचार उठा करता कि 'मैं जिनकी शोध में हूं वह यह नहीं है।' कभी कभी यह दुःख अत्यंत तीव्र बन जाता था। वे माता से अलग हुये बालक की तरह एकबार सत् के वियोग में खूब रोये थे।

उनके माता पिता का बाल्यावस्थामें ही वियोग हो गया था, इसलिये वे आजीविका के लिये अपने बड़े भाईश्री खुशालभाई के साथ पालेज गांव में दुकान करने लगे थे। धीरे २ दुकान बहुत अच्छी चलने लगी, व्यापार में उनका व्यवहार बिल्कुल प्रामाणिक था। एकबार उन्हें (सोलह वर्षकी उम्रमें) कारणवशात् बड़ौदाकी अदालतमें जाना पड़ा था, वहांपर उन्होंने अधिकारी के सामने यथार्थ घटना स्पष्टता से बतला दी थी, उनके मुख पर प्रगट सचाई, निर्दोषता और निडरता की छाप अधिकारी पर पड़ी और उसे विश्वास हो गया कि उनके द्वारा कही गई सभी बातें सत्य हैं। बस, इसी विश्वास पर बिना किसी आधार के अधिकारीने उनकी सारी बातोंको मान्य रखा।

पालेज में वे कभी २ नाटक देखने को जाते थे किन्तु आश्चर्य है कि नाटककी श्रृंगारिक बातों का असर न होकर उन महात्मा के मन पर वैराग्य प्रेरक दृश्यों का ही गहरा असर होता था और वह बहुत दिनों तक बना रहता था। कभी २ तो नाटक देख कर आने के बाद सारी रात वैराग्य की धुन लगी रहती। एकबार नाटक देखने के बाद उनने एक कविता बनाई, जिसकी प्रथम पंक्ति है—
शिवरमणी रमनार तू तू ही देवनो देव। सांसारिक रसके प्रबल निमित्तों को भी महात्मा जन वैराग्य का निमित्त बना लेते हैं।

इस प्रकार पालेज की दुकान में व्यापार का कामकाज करते हुये भी उन महात्मा का मन व्यापारमय अथवा संसारमय नहीं हुआ था। उनका अंतर व्यापार तो भिन्न ही था। उनके भीतर का स्वाभाविक रुख हमेशा धर्म और सत्य की शोध की ओर ही रहता था। जब कोई साधु उपाश्रय में आता था तो वे साधु की सेवा तथा उनके साथ धार्मिक वार्तालाप करने के लिये तत्काल दौड़े चले जाते थे और अधिकांश समय उपाश्रय में ही लगाते थे उनका धार्मिक अभ्यास भी चल रहा था। उनके धार्मिक जीवन और सरल अंतःकरणको देखकर उनके संबंधी उन्हें 'भगत' के नाम से पुकारते थे।

उनने अपने बडे भाई श्री खुशालभाईको स्पष्ट सूचित कर दिया था कि 'मेरी सगाई मत करना, मेरे भाव दीक्षा लेने के हैं।' खुशालभाईने बहुत समझाया कि:—'भाई! तू यदि विवाह नहीं करना चाहता तो तेरी इच्छा; किन्तु तू दीक्षा न ले। यदि तुझे दुकान पर नहीं बैठना हो तो भले सही, तू सारा दिन धार्मिक ग्रंथोंकी पढ़ाई और साधुओं के संसर्ग में लगाया कर किन्तु दीक्षाकी बात न कर।' यों बहुत समझाया किन्तु

उन महात्मा के वैरागी चित्तको संसार में रहना पसंद नहीं हुआ। दीक्षा लेने से पूर्व वे कई महीनों तक आत्मार्थी गुरुकी शोध में काठियावाड़, गुजरात और मारवाड़ के अनेक गांवोंमें फिरते रहे, अनेक साधुओं से मिले, किन्तु कहीं भी उनका मन स्थिर नहीं हुआ। सच बात तो यह थी कि पूर्वभवकी अपूर्ण रही हुई साधनाको लेकर अवतरित वे महात्मा स्वयं ही गुरु होने के योग्य थे। अंत में बोटाद सम्प्रदाय के श्री हीराचंदजी महाराज के हाथ से दीक्षा लेना निश्चित हुआ और संवत् १९७० की मार्गशीर्ष शुक्ला ९ रविवार के दिन उमराला गांव में बहुत बड़ी धूमधाम के साथ उनका दीक्षा महोत्सव हुआ।

दीक्षा लेकर तत्काल ही महाराज श्रीने श्वेताम्बर शास्त्रों का खूब अभ्यास किया, यहां तक कि आहारादि शारीरिक आवश्यकताओं में जो समय व्यतीत होता था वह भी उन्हें खटकता था। वे प्रायः सारे दिन उपाश्रय में किसी एकांत स्थान में स्वाध्याय करते हुये दिखाई देते थे। ४ वर्ष में लगभग सभी श्वेताम्बर शास्त्रों को विचार पूर्वक पढ़ डाला। वे संप्रदाय की विधि के अनुसार चारित्र भी कठोरता से पालन करते थे, अल्प समय में ही उनकी आत्मार्थिता, ज्ञान पिपासा और उग्र चारित्र की सुवास काठियावाड़ में सर्वत्र फैलगई। महाराज श्री पर उनके गुरु की बहुत कृपा थी। महाराज प्रारंभ से ही तीव्र पुरुषार्थी थे। कभी कभी उन्हें किसी भवितव्यता वादी व्यक्ति के द्वारा यह सुनने में आता कि 'चाहे जितना कठोर चारित्र पालन किया जाय किन्तु केवली भगवान ने जो अनंतभव देखे होंगे तो उसमें से एक भी भव कम नहीं होगा' महाराज ऐसे पुरुपार्थ हीनता के मिथ्या वचनों को सहन नहीं कर सकते थे और कह उठते थे कि 'जो पुरुपार्थी है उसके अनंत भवों को केवली भगवान ने देखा ही नहीं है जिसे पुरुपार्थ भासित हुआ है उसके अनंतभव हो ही नहीं सकते। पुरुषार्थी के भवस्थिति आदि कोई बाधक नहीं हैं, उसे पांचों समवाय आ मिलते हैं।' 'पुरुपार्थ पुरुपार्थ और पुरुपार्थ' यह महाराज श्री का जीवन मंत्र है।

महाराज श्री ने दीक्षा के बाद श्वेतांबर शास्त्रों का खूब मनन पूर्वक अभ्यास किया था। उनने भगवती सूत्र की सत्रहबार स्वाध्याय की थी। प्रत्येक कार्य करते हुये उनका लक्ष्य सत्यशोधन की ओर ही रहता था।

संवत् १९७८ में वीर शासन के उद्धार का एक पवित्र प्रसंग बन चुका है जो अनेक मुमुक्षुओं के महान् पुण्योदय का सूचक है। विधि के किसी धन्य पलमें भगवान कुंदकुंदाचार्य विरचित श्री समयसार नामक महान ग्रंथ महाराज श्री के हाथों में आया। समयसार के पढ़ते ही उनके हर्षका पार न रहा। वे जिसकी शोधमें थे वह उन्हें मिल गया। महाराज श्री के अंतर नयनों ने समयसारजीमें अमृत के सरोवरों को छलकता हुआ देखा। प्रत्येक गाथा को पढ़ते हुये महाराज श्री को ऐसा लगा जैसा वे अमृत घूंट पीते जा रहे हैं। ग्रंथाधिराज श्री समयसारजी ने महाराज पर अपूर्व, अनुपम, अलौकिक उपकार किया और उनके आत्मानंद का पार न रहा। महाराजश्री के अंतर जीवन में परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली हुई परिणतिने अपने घरको देखा। उपयोग रूपी झरने का प्रवाह अमृतमय होगया जिनेश्वरदेव के सुनंदन गुरुदेवकी ज्ञानकला अब अपूर्व रीति से खिलने लगी।

संवत् १९९१ तक महाराजश्रीने स्थानकवासी संप्रदाय में रहकर, बोटाद, वढवाण, अमरेली, पोरबंदर, जामनगर, राजकोट इत्यादि ग्रामोंमें चातुर्मास किया और शेपकाल में सेंकड़ों छोटे बड़े ग्रामोंको पवित्र किया। काठियावाड़ के हजारों आदमियोंको महाराजश्री के उपदेश के प्रति बहुमान प्रगट हुआ। अंतरात्मधर्मका उद्योत हुआ। महाराज का जहां चातुर्मास होता था वहां दूर दूर के गांवों से हजारों स्त्री पुरुप दर्शन के लिये आते थे और उनकी अमृतवाणी का लाभ लिया करते थे। क्योंकि महाराजश्री श्वेतांबर संप्रदाय के थे इसलिये वे व्याख्यान में श्वेतांबर शास्त्रोंको ही पढ़ा करते थे (अंतिम कुछ वर्षों से वे सभा में समयसारादि ग्रंथों को भी सुनाया करते थे) परंतु वे उन शास्त्रों में से अन्य व्याख्याताओं की अपेक्षा कुछ अन्य ही प्रकार के सिद्धांतो को निकाल कर और विवादस्थ विषयों को छोड़कर प्रवचन किया करते थे। वे किसीभी ग्रंथ के किसीभी अधिकार को पढ़ते थे किन्तु उनमें कही गई बातों को अंतर के भावों के साथ एकमेक करके उसमें से ऐसे अलौकिक आध्यात्मिक न्याय को निकाल कर प्रवचन करते थे कि अन्यत्र कहीं भी सुनने को नहीं मिलता था।

'जिसभाव से तीर्थंकर कर्म

का बंध होता है वह भाव भी हेय है......शरीर के रोम रोममें तीव्र रोग का होना दुःख नहीं है, दुःख का स्वरूप ही भिन्न है......व्याख्यान सुनकर बहुत से जीव बूझें तो मुझे बहुत लाभ हो यों मानने वाला व्याख्याता मिथ्यादृष्टि है......इस दुःख में यदि समता नहीं रखूंगा तो कर्म बंध होगा, इसभाव से समता रखना सो मोक्षमार्ग नहीं है......पंच महाव्रत भी मात्र पुण्यबंध के कारण हैं। ' इस प्रकार की हजारों अपूर्व न्यायब वातें महाराज श्री अपने व्याख्यान में अत्यंत स्पष्ट रीति से लोगों को समझाते थे। प्रत्येक व्याख्यान में महाराज सम्यग्दर्शन पर अधिक भार देते थे। वे अनेकबार कहते थे कि–' शरीर की चमड़ी को उतार कर नमक छिड़कने वालों पर भी क्रोध नहीं किया ऐसे व्यवहार चारित्र को इस जीवने अनंत वार पालन किया है किन्तु एकवार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया। लाखों जीवों की हिंसा के पापसे भी मिथ्यादर्शन का पाप अनंतगुणा है। सम्यक्त्व सरल नहीं है। लाखों करोड़ों में से किसी विरले जीव के ही वह होता है। सम्यक्त्वी जीव अपना निर्णय आप ही कर सकता है। सम्यक्त्वी जीव समस्त विश्व के भावों को पी चुका होता है। आजकल तो सब अपने अपने घर का सम्यक्त्व मान बैठे हैं। सम्यक्त्वी को मोक्ष के अनंत सुख की बानगी प्राप्त हो चुकी होती है। सम्यक्त्वी का वह सुख मोक्ष सुख का अनंतवां भाग होने पर भी अनंत है।'

महाराज श्री अनेक प्रकार से, अनेक तर्कों से, अनेक प्रमाणों से तथा अनेक दृष्टांतों से लोगों के मन पर सम्यक्त्व की अद्भुत महिमा को जमा देते थे। महाराजश्री की जैनधर्मकी अनन्य श्रद्धा, समस्त विश्व भले न माने फिर भी अपनी मान्यता में स्वयं अकेले जमे रहने की उनकी अद्भुत दृढता और अनुभव के बल पूर्वक निकलती हुई उनकी न्यायपूर्ण वाणी घोर नास्तिकोंको भी विचार में डाल देती थी और कितनों को ही आस्तिक बना देती थी। इस केशरी सिंह का सिंहनाद पात्र जीवों के हृदयतलको स्पर्श करके उनके आत्मिक वीर्यको प्रगट कर देता था। सत्य के बल से समस्त विश्व के अभिप्रायों के विरुद्ध लड़नेवाले इस अध्यात्म योगीकी गर्जनाको जिनने सुना होगा उनके कान में आज भी वह गर्जना गूंज रही होगी।

ऐसी अद्भुत प्रभावशाली और कल्याणकारिणी वाणी अनेक जीवोंको आकर्षित करे वह स्वाभाविक है। साधारणतः उपाश्रय में कामकाज से निवृत्त वृद्ध आदमी ही मुख्यतः आते हैं किन्तु जहां कानजी महाराज पधारते थे वहां युवक, सुशिक्षित, वकील, डाक्टर और शास्त्र के अभ्यासियों से उपाश्रय भर जाता था। बड़े नगरों में महाराजश्रीका व्याख्यान प्रायः उपाश्रय में नहीं किन्तु किसी विशाल स्थान पर रखना पड़ता था। दिनोंदिन उनकी ख्याति बढती गई। व्याख्यान में हजारों आदमी आते थे, आसपास के गांवों से भी आदमी आते थे। आगे जगह पाने की इच्छा से सेंकडों आदमी घंटो पहले से आ बैठते थे कई जिज्ञासु व्याख्यानों की संक्षिप्त नोंद कर लेते थे। जिस गाव में महाराज श्री पधारते थे उस गांव में श्रावकों के प्रत्येक घर में धर्म की चर्चा होने लगती थी और सर्वत्र धर्म का ही वातावरण जम जाता था। गली और मुहल्लों में श्रावक समुदाय धर्म की बातें करते दिखाई देते थे। प्रातःकाल, दो पहर में और शाम को उपाश्रय के मार्ग पर बहुत बड़े जन समुदाय का आवा गमन दिखाई देता था। उपाश्रय में लगभग सारे दिन तत्वज्ञान चर्चा की शीतल लहरें उठा करती थीं। कितने ही मुमुक्षुओं का तो व्यापार रोजगार में चित्त ही नहीं लगता था और वे महाराज श्री की शीतल छाया में अधिकांश समय व्यतीत करते थे। इस प्रकार गांव गांवमें अनेक सुपात्र जीवों के हृदयमें महाराज श्रीने सत्की रुचि के बीज बो दिये। महाराज श्री के चले जाने पर भी वे मुमुक्षु महाराज श्री के उपदेश पर विचार करते तथा भवभ्रमण कैसे दूर हो और सम्यक्त्व क्योंकर प्राप्त हो इसके लिये झूरते रहते थे। कभी कभी वे एकत्रित होकर तत्त्व चर्चा करते थे और महाराज श्री के द्वारा कही गई पुस्तकों का पठन, पाठन और मनन करते थे।

स्थानकवासी साधुओं में महाराज श्री का स्थान अपूर्व था। यह जानने के लिये साधु और साध्वियां उत्सुक रहते थे कि 'कानजी महाराज क्या कहते हैं।' कितने ही साधु साध्वी महाराज श्री के व्याख्यानों की नोंद (नोट) मुमुक्षु भाई बहिनों से प्राप्त करके पढ़ा करते थे।

महाराज श्री ने बहुत वर्षों तक स्थानकवासी संप्रदाय में रहकर आत्म-धर्म का खूब प्रचार किया था और साधु तथा श्रावकों के विचार और

चर्चामें लगादिया था।

महाराज श्री संवत् १९९१ तक स्थानकवासी संप्रदाय में रहे किंतु अंतरंग आत्मा में वास्तविक वस्तु स्वभाव और वास्तविक निर्ग्रंथ मार्ग बहुत समय से सत्य लग रहा था इसलिये योग्य समय में काठियावाड के सोनगढ नामक छोटे से गांवमें वहां के एक गृहस्थ के खाली मकान में सवत १९९१ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी मंगलवार के दिन परिवर्तन किया–स्थानकवासी संप्रदाय का चिन्ह जो मुंह पट्टी है उसका त्याग किया।

संप्रदाय का त्याग करनेवालोंको कैसी२ महा विपत्तियों का सामना करना होता है तथा बाल जीवों के द्वारा अज्ञान के कारण उन पर कैसी अघटित निंदाओंकी झड़ी लगती है, इसका ख्याल उन्हें अच्छी तरह से था; किन्तु उन निडर और निस्पृह महात्मा ने इसकी कोई चिंता नहीं की। संप्रदाय के हजारों श्रावकों के हृदय में महाराज श्री अग्रस्थान में विराजमान थे, इसलिये बहुत से श्रावकों ने महाराज श्री से परिवर्तन न करने के लिये अनेक प्रकार प्रेम-भाव से प्रार्थना की; किन्तु जिसके रोम रोम में वीतराग प्रणीत यथार्थ सन्मार्ग के प्रति भक्ति उछल रही थी वह महात्मा प्रेम भरी प्रार्थना का असर हृदय में लेकर राग में खिंच कर सत् को गौण कैसे होने देता। सत् के प्रति जो परम भक्ति थी उसमें सब प्रकार की प्रतिकूलता का भय और अनुकूलता का राग अत्यंत गौण होगया जगत् से बिलकुल निरपेक्ष भाव से हजारों की मानव मेदिनी में गर्जना करता हुआ सिंह सत् की प्राप्ति के लिये सोनगढ़ के एकांत स्थान में जा बैठा।

महाराज श्री ने जहां परिवर्तन किया था वह मकान गांव से अलग होने के कारण बहुत शांत था। दूर से आनेवाले आदमी के पैर की आहट साफ सुनाई देती थी। कुछ महीनों तक ऐसे निर्जन स्थान में मात्र (महाराज श्री के परम भक्त) जीवनलाल जी महाराज के साथ रहे थे और जो दर्शन के लिये दो चार मुमुक्षु आते थे उनके साथ स्वाध्याय, ज्ञान–ध्यान आदि में लीन हुये महाराज श्री को देखकर हजारों की मानव मेदिनी स्मृतिगोचर होती थीं और अपने महान् वैभव को सर्प की कंचुली के समान छोड़नेवाले महात्मा की सिंहवृत्ति, निरीहता, और निरभिमानता के आगे हृदय नम जाता था।

★

जो स्थानकवासी संप्रदाय कानजी स्वामी के नामसे गौरव का अनुभव करता था उस संप्रदाय में महाराज श्री के परिवर्तन से भारी खलबली का मचजाना स्वाभाविक ही था; महाराज श्री १९९१ तक काठियावाड़ में लगभग प्रत्येक स्थानकवासी के हृदय में विराजमान हो चुके थे। समस्त काठियावाड महाराज श्री के पीछे पागल बना हुआ था इसलिये यह सोचकर कि 'महाराज श्री ने जो कुछ किया होगा सो समझकर ही किया होगा' धीरे धीरे बहुत से लोग तटस्थ हो गये। कितने ही लोग सोनगढ़ में क्या होरहा है यह देखने के लिये आते थे किन्तु महाराज श्री के परम पवित्र जीवन और उनके अपूर्व उपदेशों को सुनकर वे सब मंत्रमुग्ध से रह जाते थे। टूटा हुआ भक्ति का प्रवाह फिर से बहने लगता। कोई कोई पश्चात्ताप करते हुये कहते कि 'महाराज आपके संबंध में बिल्कुल कल्पित बातें सुनकर हमने आपकी घोर अविनय की है और बहुत से कर्मों का बंध किया है, हमें क्षमा किजिये।' इस प्रकार महाराज श्री के पवित्र उज्वल जीवन तथा आध्यात्मिक उपदेश के संबंध में लोगों में बात फैलती गई त्यों त्यों अधिक से अधिक लोगों में महाराज श्री के प्रति मध्यस्थ भाव होता गया और बहुत से लोगोंकी सांप्रदायिक मोह के कारण दबी हुई भक्ति पुनः प्रगट होने लगी। मुमुक्षु और बुद्धिशाली वर्गकी महाराज श्री के प्रति पूर्ववत् ही परम भक्ति बनी रही। अनेक मुमुक्षुओं के जीवनाधार कानजी स्वामी सोनगढ़ में जा कर रहे तो उधर मुमुक्षुओं का मन भी सोनगढ़ की ओर आकर्षित हुआ। धीरे धीरे मुमुक्षुओं का प्रवाह सोनगढ़ की ओर बहने लगा। सांप्रदायिक मोह अत्यंत दुर्निवार होता है फिर भी सत् के अर्थी जीवों की संख्या तीनों काल में अत्यंत अल्प होने पर भी सांप्रदायिक मोह तथा लौकिक भय को छोड़कर सोनगढ़ की ओर प्रतिदिन सत्संगार्थी लोगों की बाढ़ वेग पूर्वक बढ़ती ही गई।

परिवर्तन करने के बाद पूज्य महाराज श्री का मुख्य निवास सोनगढ़ में ही है। महाराज श्री की उपस्थिति के कारण सोनगढ़ एक तीर्थधाम जैसा बन गया है। बाहर गांव से अनेक मुमुक्षु भाई बहिन महाराज श्री के उपदेश का लाभ लेने के लिये सोनगढ़ आते हैं। दूर दूर से अनेक दिगंबर जैन गृहस्थ और त्यागी ब्रह्मचारी भी आते हैं। बाहर गांव के लोगों के ठहरने और भोजन आदि के लिये वहां जैन अतिथिगृह है।

कितने ही भाई बहिन वहांपर अपना घर बनाकर रह रहे हैं। कितने ही सत्संगार्थी वहां कुछ महिनों के लिये आकर रहते हैं। वर्तमानमें वहां बाहर गांव के मुमुक्षुओं के लगभग ८५ घर हैं।

महाराज श्री ने जिस मकान में परिवर्तन किया था वह मकान छोटा था इसलिये जब बहुत से लोग आजाते थे तब व्याख्यान के लिये बड़ी असुविधा हो जाती थी। पर्यूषण पर्व में तो अन्यत्र ही व्याख्यान के लिये जाना पड़ता था। इस प्रकार उस मकान में सबका समावेश न हो सकने के कारण भक्तों ने संवत् १९९४ में एक मकान बनवाया और उसका नाम श्री जैन स्वाध्याय मंदिर रखा। महाराज श्री वर्तमान में वहां रहते हैं, उनके साथ जीवनलालजी महाराज के अतिरिक्त अन्य दो भक्तिवान् महाराज भी सत्संग के लिये रहते हैं। वहां पर लगभग सारे ही दिन स्वाध्याय ही हुआ करती है। सबेरे और दो पहर को धर्मोपदेश होता है, रात को धर्म चर्चा होती है। धर्मोपदेशमें तथा उसके अतिरिक्त पठन पाठन और स्वाध्यायमें वहांपर भगवान कुंदकुंदाचार्य के शास्त्र, तत्त्वार्थसार, गोम्मटसार, पट्खंडागम, पंचाध्यायी, पद्मनंदीपंचविंशतिका, द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्गप्रकाश, श्रीमद् राजचंद्र इत्यादि इत्यादि ग्रंथ पढ़े जाते हैं वहां आनेवाले मुमुक्षुओंका सारा दिन धार्मिक आनंद में पूर्ण हो जाता है।

पूज्य श्री कानजी स्वामीको समयसारजी के प्रति अतिशय भक्ति है, इसलिये जिस दिन स्वाध्याय मंदिर का उद्घाटन हुआ उसी दिन अर्थात् संवत् १९९४ की ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी रविवार के दिन स्वाध्याय मंदिर में श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा की गई थी। श्री समयसारजी प्रतिष्ठा महोत्सव पर बाहर से करीब ७०० स्त्री पुरुष आये थे। महाराजश्री समयसारजीको उत्तमोत्तम शास्त्र मानते हैं। समयसारजीकी बात करते हुये भी उन्हें अत्यंत उल्लास हो आता है। समयसारजीकी प्रत्येक गाथा मोक्षदायिनी है, इस प्रकार वे कहा करते हैं। भगवान कुंदकुंदाचार्य के प्रायः सभी ग्रंथों पर उन्हें अत्यंत प्रेम है। भगवान कुंदकुंदाचार्य देवका हम पर बहुत बड़ा उपकार है और हम उनके दासानुदास हैं, इस प्रकार वे बारंबार भक्ति सिंचित हृदय से कहा करते हैं। श्री भगवन् कुंदकुंदाचार्य महाविदेह क्षेत्रमें सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समोशरण में गये थे और वहां वे आठ दिन रहे थे। इस संबंध में महाराजश्रीको किंचितमात्र भी शंका नहीं है, वे अनेकबार पुकार पुकार कर कहते हैं कि कल्पना मत करना, इनकार मत करना, यह बात ऐसी ही है। मानों तो भी ऐसी ही है और न मानों तो भी ऐसी ही है। यह यथातथ्य बात है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाण सिद्ध है। श्री सीमंधर प्रभु के प्रति महाराज श्री को अपारभक्ति है। किसी किसी समय सीमंधर स्वामी के विरह में परम भक्तिवंत महाराज श्री की आंखों में से आंसुओं की धारा बह निकलती है।

वीतराग के परम भक्त महाराज श्री कहते हैं कि 'जैनधर्म' कोई सीमित मर्यादा नहीं है, यह तो विश्वधर्म है। जैनधर्म का मेल अन्य किसी धर्म के साथ है ही नहीं। जैनधर्म का और अन्यधर्मों का समन्वय करना रेशम और टाट का समन्वय करने के प्रयत्न के समान वृथा है। दिगम्बर जैनधर्म ही वास्तविक धर्म है और अंतरंग तथा बहिरंग दिगम्बरत्व के बिना कोई भी जीव मोक्ष नहीं पासकता, यह उनकी दृढ़ मान्यता है। महाराज श्री के द्वारा श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाश इत्यादि अनेक दिगम्बर ग्रंथोंका काठियावाड़ में खूब प्रचार हो रहा है। सोनगढ़ के प्रकाशन विभाग से समयसार गुजराती टीका की दो हजार प्रतियां छपाई गई और वे तत्काल ही समाप्त हो गई। इसके अतिरिक्त समयसार गुटका, समयसार हरिगीत, तथा अनुभव प्रकाश इत्यादि अनेक पुस्तकें वहां छपाई गई हैं तथा काठियावाड़ में प्रसारित की गई हैं। इसके अतिरिक्त आत्मसिद्धि शास्त्र की हजारों प्रतियां वहां से प्रकाशित करवाकर प्रचारित की गई हैं।

❀ आत्मा ❀

भगवान आत्मा स्वयं अपने आप सिद्ध और परमार्थरूप ज्ञान स्वभावी है। मैं स्वयंसिद्ध हूं, मैं अपने आपसे ही सिद्ध हूं। मुझे सिद्ध बनानेमें मेरी साबिती बतानेमें कोई शरीर, मन, वाणी आदिक पर की आवश्यकता नहीं है। परमार्थरूप भगवान आत्मा स्वतःसिद्ध है, उसे सिद्ध करनेके लिये—निश्चित करने के लिये पुण्य की—राग के अथवा परसंयोग के अवलंबनकी आवश्यकता नहीं होती।

गुजरात-काठियावाड़ के अध्यात्म-प्रेमी मुमुक्षुओं को गुजराती भाषा में आध्यात्मिक साहित्य सुलभ होगया है। काठियावाड के हजारों मुमुक्षु उनका अभ्यास कर रहे हैं। कई ग्रामों में पांच दश पंद्रह मुमुक्षु एकत्रित होकर गुरुदेव से ग्रहण किये गये रहस्य के अनुसार समयसारादि उत्तमोत्तम शास्त्रों का नियमित पठन पाठन और मनन करते हैं। इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेवकी कृपा से परम पवित्र श्रुतामृत के झरने काठियावाड़ के गांव गांव में बहने लगे हैं। अनेक सुपात्र जीव इस जीवनोदक का पान करके कृतार्थ होते हैं। परम पूज्य महाराज श्री समझण पर मुख्य भार देते हैं। वे वारम्वार कहते हैं कि 'तुम समझो समझे विना सब व्यर्थ है।' कोई आत्मज्ञानी अथवा अज्ञानी एक परमाणु मात्र को हिलाने की शक्ति नहीं रखता तो फिर देहादि की क्रिया आत्मा के हाथ में कहां से हो सकती है।

ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश पाताल जितना अंतर है और वह यह है कि 'अज्ञानी परद्रव्यका तथा रागद्वेषका कर्ता होता है और ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उसका कर्ता नहीं होता। उस कर्तृत्व को छोड़ने का महा पुरुषार्थ प्रत्येक जीवको करना है। वह कर्तृत्व बुद्धि ज्ञानके विना नहीं छूट सकती, इसलिये तुम ज्ञान संपादन करो।' यह महाराजश्री के उपदेश का प्रधान सुर है। जब कोई श्रोता कहता है कि 'महाराज आप तो मेट्रिककी और एम. ए. की वात करते हैं और हम तो अभी पहली ही कक्षा में हैं, हमें अभी वर्णमालाकी ही वात सुनाइये।' तब गुरुदेव कहते हैं कि यह जैनधर्मकी वर्णमाला अथवा इकाई ही है, उसको समझना से ही उसका प्रारंभ है। मेट्रिककी अथवा एम. ए. की अर्थात निर्ग्रंथ दशाकी अथवा वीतरागताकी वातें तो बहुत दूर हैं। एक भव, दो भव, पांच भव अथवा अनंत भव में इसे समझने के वाद ही मोक्षमार्ग का प्रारंभ होगा।'

कुदेव, कुगुरु और कुधर्मका त्याग करो.

अहो ! देव गुरु धर्म तो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं। इन्हीं के अधार पर तो धर्म है। यदि इनमें शिथिलता रही तो अन्य धर्म कैसे संभव है? अधिक क्या कहें! सभी प्रकार से कुदेव, कुगुरु और कुधर्मका त्याग कर देना ही उचित है। कुदेवादिका त्याग नहीं करने से मिथ्यात्व भाव अधिकाधिक पुष्ट होता है। और फिर इस कालमें यहां पर उसकी प्रवृत्ति विशेष दिखाई देती हैं; इस लिये उसका निषेध रूप निरुपण किया है। इस लिये स्वरूपको जानकर मिथ्याभावको छोड़कर अपना कल्याण करो।

पूज्य महाराज श्री के ज्ञान पर सम्यक्पने की मुहर तो बहुत समय से लग चुकी थी किन्तु वह सम्यक्ज्ञान सोनगढ़ के विशेष निवृत्ति वाले स्थल में अद्भुत सूक्ष्मता को प्राप्त हुआ। सोनगढ़में नई नई ज्ञान शैली खूब विकसित हुई। जैसे अमृत कलश में अमृत घुलता रहता है उसी प्रकार गुरुदेव के परम पवित्र अमृतकलश स्वरूप आत्मा में तीर्थंकर देव के वचनामृत खूब घुलते रहे, घुटते रहे। वह घुटा हुआ अमृत कृपालु गुरुदेव अनेक मुमुक्षुओं को देते हैं और उन्हें कृतकृत्य कर देते हैं।

समयसार, प्रवचनसार इत्यादि ग्रंथोंपर प्रवचन करते हुये गुरुदेव के प्रत्येक शब्दसे इतनी गहनता, सूक्ष्मता और नवीनता निकलती है कि वह श्रोताजनों के उपयोग को भी सूक्ष्म वना देती है और विद्वानोंको आश्चर्य-मुग्ध वना देती है। जिस अनंत आनंदमय चैतन्य घन दशा को प्राप्त करके सर्वज्ञ तीर्थंकर देवने शास्त्रों की प्ररूपणा की है उस परम पवित्र दशा का सुधास्यंदी स्वानुभूति स्वरूप पवित्र अंश अपनी आत्मा में प्रगट करके सद्गुरुदेव विकसित ज्ञान पर्याय के द्वारा शास्त्रमें निहित गहन रहस्यों को खोलकर मुमुक्षुओं को समझाकर अपार उपकार कर रहे हैं। सैकड़ों शास्त्रों के अभ्यासी विद्वान् भी गुरुदेवकी वाणी को सुनकर उल्लसित होकर कहते हैं कि 'गुरुदेव! आप के वचनामृत अपूर्व हैं उन्हें सुनते हुये हम तृप्त ही नहीं होते, आप जो वात समझाते हैं उसमें हमें नई नई वातें जाननेको मिलती हैं। नव तत्त्व का स्वरूप अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य का स्वरूप, स्याद्वाद का स्वरूप या सम्यक्त्व का स्वरूप, निश्चय व्यवहार का स्वरूप या व्रत नियम तप का स्वरूप, उपादान निमित्त का स्वरूप या साध्य साधन का स्वरूप, द्रव्यानुयोग का स्वरूप या चरणानुयोग का स्वरूप, गुणस्थान का स्वरूप या बाधक साधक भाव का स्वरूप, मुनिदशा का स्वरूप या केवलज्ञान का स्वरूप इत्यादि जिस किसी भी विषय के स्वरूपको आप के मुख से हम सुनते हैं उसमें हमें अपूर्व भाव दृष्टिगोचर होते हैं।

हमने शास्त्रों में से जो अर्थ निकाले थे वह बिल्कुल ढीले, जड़ चेतन से मिश्रित, शुभको शुद्धमें डाल देनेवाले, संसार भाव के पोषक, विपरीत और न्याय विरुद्ध थे। आप के अनुभव मुद्रित अपूर्व अर्थ शुद्ध सुहागा जैसे–शुद्ध स्वर्ण जैसे जड़ चेतनको प्रथक् कर देने वाले शुभ और शुद्धका स्पष्ट विभाग कर देने वाले मोक्ष भाव के ही पोषक सम्यक् तथा न्याय युक्त हैं। आप के शब्द शब्द में वीतराग-देवका हृदय प्रगट होता है। हम वाक्य २ में वीतरागदेवकी विराधना करते थे, हमारा एक वाक्य भी सत्य नहीं था, इस बात का हमें अब साक्षात्कार हुआ है कि शास्त्र में ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञान पर्याय में ज्ञान है। सद्गुरुदेव का जो माहात्म्य शास्त्रों में गाया है वह हमें अब समझ में आया है। शास्त्रों का ताला खोलने की चावी वीतरागदेवने सद्गुरुदेव को सोंपी है। सद्गुरु का उपदेश प्राप्त किये बिना शास्त्रों की गुत्थी का सुलझना अत्यंत कठिन है।'

परम कृपालु गुरुदेव का ज्ञान जैसा अगाध और गंभीर है वैसी ही उनकी व्याख्यान शैली चमत्कृति से भरी हुई है। महाराज श्री अपनी बातको ऐसी स्पष्टता से, विविधता से अनेक सादा उदाहरण देकर शास्त्रीय शब्दों का कम से कम प्रयोग करके समझाते हैं कि सामान्य मनुष्यको भी वह सरलता से समझ में आ जाती है। अत्यंत गहन विषयको भी अत्यंत सुलभ रीति से प्रतिपादन करने की गुरुदेव में विशिष्ट शक्ति है। महाराजश्रीकी व्याख्यान शैली कितनी रसमय है कि जैसे हिरण बांसुरी पर मुग्ध हो जाता है वैसे ही श्रोतागण मंत्र मुग्ध हो जाते हैं। श्रोताओं को यह भी ध्यान नहीं रहता कि उनका समय कहां और कब पूरा हो जाता है। महाराज श्री प्रवचन करते हुये अध्यात्ममें ऐसे तन्मय होजाते हैं, परमात्मदशा के प्रति उनके मुखपर ऐसी भक्ति दिखाई देती है कि श्रोताओं को उनका असर हुये विना नहीं रहता। अध्यात्म की जीवित मूर्ति गुरुदेव के शरीर के अणु-अणु से मानों अध्यात्म रस झरता है। इन अध्यात्म मूर्ति की मुख मुद्रा, नेत्र, वाणी और हृदय सब एकतार होकर अध्यात्म की बाढ़ ला देते हैं और मुमुक्षुओं के हृदय रस अध्यात्म रस में तरबोर हो जाते हैं।

गुरुदेव का व्याख्यान सुनना जीवन का धन्यभाग्य है। उनका व्याख्यान सुनने के बाद अन्य व्याख्याताओं के व्याख्यान में आनंद नहीं रहता, उनका व्याख्यान सुनने वाले को इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि ' यह पुरुष कोई जुदी ही तरह का है, जगत से यह कुछ अलग ही कहता है, अपूर्व ही कहता है। इसके कथन के पीछे एक अद्भुत दृढ़ता का बल है। ऐसा व्याख्यान तो कभी कहीं नहीं सुना था।' महाराज श्री के व्याख्यान में से अनेक जीव अपनी अपनी पात्रता के अनुसार लाभ प्राप्त कर जाते हैं। किसी को सत् के प्रति रूचि उत्पन्न होती है, किसी किसी के सत् समझ के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं और किन्हीं विरले जीवोंकी तो दशा ही बदल जाती है।

अहो, ऐसा अलौकिक पवित्र अंतर परिणमन–केवलज्ञान का अंश और ऐसा प्रबल प्रभावना उदय–तीर्थंकरत्व का अंश इन दोनों का सुयोग इस कलिकाल में देखकर रोमांच हो जाता है। मुमुक्षुओं का महा पुण्य अभी तप रहा है।

अहो, इन परम प्रभावक अध्यात्ममूर्तिकी वाणीकी बात तो दूर रही उनके दर्शन भी महा पुण्योदय से प्राप्त होते हैं। इन अध्यात्मयोगी के समीप संसारकी आधि व्याधि उपाधि फटक नहीं सकती। संसार तप्त प्राणी वहां परम विश्रांतिको पाते हैं और उन्हें यह प्रतिभासित होने लगता है कि संसार के दुःख मात्र कल्पना ही से बना लिये गये हैं। जो वृत्तियां महा प्रयत्न से भी नहीं दबती वे गुरुदेव के सान्निध्य में बिना किसी प्रयत्न के शांत हो जाती है यह अनेक मुमुक्षुओंका अनुभव है। आत्मा का निवृत्तिमय स्वरूप, मोक्ष का सुख

सर्वत्र ज्ञानही चमक रहा है

कोई जीव परको नहीं भोग सकता और कोई परका वर्णन भी नहीं कर सकता। मात्र स्वयं परका जो ज्ञान प्राप्त किया है उसका अपने ज्ञान का वर्णन कर सकता है। ज्ञान गुण के सिवाय किसी भी गुण का वर्णन नहीं हो सकता। सुख गुणका वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु जिस ज्ञानने सुख गुणको निश्चित किया है उस 'सुख गुण के ज्ञानका' वर्णन कर सकता है इस प्रकार ज्ञान वास्तव में पर प्रकाशक नहीं है किन्तु स्व–पर्याय (ज्ञानकी अवस्था) को प्रकाशित करता है। इस प्रकार सर्वत्र ज्ञानका ही चमत्कार और ज्ञान ही आत्माकी विशिष्ठता है।

इत्यादि भावों की जो श्रद्धा अनेक तर्कों से नहीं होती वह गुरुदेव के दर्शन मात्र से हो जाती है। गुरुदेवका ज्ञान और चारित्र मुमुक्षुओं पर महा कल्याणकारी असर करता है। वास्तव में काठियावाड़ के आंगन में शीतल छायावाला और वांछित फल देनेवाला कल्पवृक्ष फलित हुआ है, काठियावाड का यह महा भाग्योदय है।

अब सोनगढ़ में परिवर्तन करने के बाद महाराजश्री के जीवन वृत्तांत के साथ संबंध रखने वाले कुछ प्रसंग यहां दिये जाते हैं। सोनगढ़ से बारह मीलकी दूरी पर स्थित श्री शत्रुंजय क्षेत्रकी यात्रा करनेकी महाराजश्रीकी भावना बहुत समय से थी, और वह संवत् १९९५ की माह कृष्णा १३ के पूर्ण हुई। लगभग २०० भक्तों के साथ महाराजश्री ने उस तीर्थराजकी यात्रा अत्यंत भक्ति और उत्साह के साथ की।

राजकोट के श्रावकों के बहुत आग्रह से महाराजश्री सं. १९९५ में राजकोट पधारे। वहां पर दस माह रहकर महाराजश्रीने समयसार, आत्मसिद्धि और पद्मनंदि पंचविंशतिका पर अपूर्व प्रवचन किये। गुरुदेव के बढ़े हुये ज्ञान से प्रसूत जड़ चेतन का भेद, निश्चय व्यवहार की संधि तथा दूसरे अनेक अपूर्व न्यायों सुनकर राजकोट के हजारों नरनारी पवित्र हुये और अनेक सुपात्र जीवोंने पात्रता के अनुसार आत्मलाभ प्राप्त किया। दस महीने तक आनंद कुंज में रातदिन आध्यात्मिक आनंद का वातावरण बना रहा।

राजकोट से सोनगढ़ वापिस आते हुये महाराज श्री गिरिराज श्री गिरनार तीर्थ की यात्रा करने पधारे और उस पवित्र नेमगिरि पर लगभग ३०० भक्तों के साथ तीन दिन तक रहे। वहांपर समोशरण के मंदिर जी में तथा दिगम्बर जैनमंदिर जी में प्रवाहित भक्ति सहस्राम्र वनमें की गई स्तवन भक्ति की धुन और पांचमी टोंक पर पूज्य गुरुदेव के द्वारा गवाया गया अध्यात्म रस से परिपूर्ण पद (मैं एक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञानदर्शन मय अरे) तथा उससे उत्पन्न शांत आध्यात्मिक वातावरण इत्यादि के धन्यस्मरण जीवनभर भक्तों के स्मृति पट पर अंकित रहेंगे।

राजकोट जाते हुये और वहांसे वापिस होते हुये मार्ग में आनेवाले अनेक गांवों में महाराज श्री वीतराग प्रणीत सद्धर्म का डंका बजाते गये और अनेक सत्पात्रों के कर्णपटों को खोलते गये थे। प्रत्येक गांव में गुरुदेव के प्रति लोगों की भक्ति का पूर दिखाई देता था। लाठी, अमरेली इत्यादि वडे नगरों में अत्यंत भव्य स्वागत हुआ था। गुरुदेव के इस प्रभावना उदय को देखकर मन के समक्ष यह कल्पना चित्र उपस्थित हो जाता था कि जब तीर्थंकर भगवान विहार करते होंगे तब उस धर्मकाल में धर्म का, भक्ति का और अध्यात्म का कैसा वातावरण फैल जाता होगा!

संवत् १९९६ के वैशाख में गुरुदेव पुनः सोनगढ़ पधारे।

उसके बाद तत्काल ही सेठ कालीदास राघवजी जसाणी के भक्त सुपुत्रोंने श्री स्वाध्याय मंदिर के पास श्री सीमंधर भगवान का जिनमंदिर बनवाना प्रारंभ किया उसमें श्री सीमंधर भगवान की अत्यंत भावपूर्ण मनोज्ञ प्रतिमा भी तथा उनके अतिरिक्त श्री शांतिनाथ आदि भगवतों की भाव वाही प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा पंचकल्याणक विधि पूर्वक संवत् १९९७ की फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के मंगलदिन हुई थी। इस प्रतिष्ठा विधि में बाहर के करीब १५०० आदमियोंने भाग लिया था। प्रतिष्ठा के आठों दिन पूज्य गुरुदेव के मुख से भक्ति रस से परिपूर्ण अलौकिक वाणी निकलती रही थी।

लोगोंको भी बहुत उत्साह था। प्रतिष्ठा से कुछ दिन पूर्व श्री सीमंधर भगवान के प्रथम दर्शन करके पूज्य गुरुदेवकी आंखों में से आंसु बह निकले थे। जब मंदिरजी में सीमंधर भगवान सर्व प्रथम पधारे तब गुरुदेव के भक्ति रसका मानों नशा चढ़ गया था और उनका समस्त शरीर भक्ति रसका मूर्त स्वरूप जैसा शांत और निःश्चेष्ट भासित होने लगा था। गुरुदेवने साष्टांग प्रणाम किया और भक्ति रस में अत्यंत एकाग्र होने के कारण दो–तीन मिनिट शरीर यों ही निःश्चेष्ट पड़ा रहा। भक्ति का वह अद्भुत दृश्य पासमें खडे हुए मुमुक्षुओंको असह्य सा होगया। उनकी आंखों में आंसू और चित्त में भक्ति प्रवाहित हो उठी। गुरुदेवने अपने पवित्र हाथों से प्रतिष्ठा भी भक्तिभाव में मानों अपने शरीरका ध्यान भूल कर अपूर्व भाव से की थी।

इस जिन मंदिर में दोपहर के व्याख्यान के बाद प्रतिदिन करीब पौने घंटे तक भक्ति होती है। भक्ति में पूज्य गुरुदेव भी उपस्थित रहते हैं। दो पहर को प्रवचन सुनकर आत्मा के सूक्ष्म स्वरूप के प्रणेता वीतराग भगवान का माहात्म्य हृदय में स्फुरित हो जाता है इसलिये प्रवचन में से उठकर तत्काल ही

जिनमंदिर में भक्ति करने से पात्र जीवों के वीतराग देव के प्रति अद्भुत भाव उल्लसित होते हैं। इस प्रकार जिनमंदिर ज्ञान और भक्ति के सुंदर सम्मिश्रण का निमित्त वन गया है।

श्री जिनमंदिर के निर्माण के वाद एकवर्ष में ही कुछ मुमुक्षुओं के द्वारा जिनमंदिर के पास ही श्री समवसरण मंदिर वनवा दिया गया। उसमें श्री सीमंधर भगवान की अत्यंत भावपूर्ण चतुर्मुख प्रतिमाजी विराजमान हैं। वहां सुंदर आठभूमि, कोट, (मुनि, आर्यिका, देव, मनुष्य और तिर्यंचो की सभाओं से युक्त) श्री मंडप, तीन पीठिका, कमल, चामर छत्र, अशोक वृक्ष, विमान इत्यादि की शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अति आकर्षक रचना है। वहीं पर मुनियों की सभामें श्री सीमंधर भगवान के समक्ष अत्यंत भावपूर्वक हाथ जोड़कर खड़े हुये श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्य की अत्यंत सौम्य मनोज्ञ प्रतिमाजी हैं।

प्रतिष्ठा महोत्सव सं. १९९८ की ज्येष्ठ कृष्णा ६ के मांगलिक दिन हुआ था उस प्रसंग पर वाहर से लगभग २००० आदमी आये थे। श्री समवशरण के दर्शन करते समय यह प्रसंग मुमुक्षुओंकी आंखों के समक्ष स्थित हो जाता है जव श्रीमद् भगवत् कुंदकुंदाचार्य सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समवशरणमें गये थे और उससे संवद्ध अनेक चित्रभाव हृदय में स्फुरित होने लगते हैं जिससे मुमुक्षु का हृदय भक्ति और उल्लास से उछलने लगता है। श्री समोशरण मंदिर के स्थापित होने से मुमुक्षुओंको अपने अंतरका एक प्रियतम प्रसंग दृष्टिगोचर करने का निमित्त प्राप्त हुआ है।

संवत् १९९८ की श्रावण कृष्णा एकादशी के दिन सोनगढ में महाराजश्रीने सभा के समक्ष प्रवचनसार का प्रवचन प्रारंभ किया था उसमें ज्ञेय अधिकार के आने पर महाराज श्री के अंतरंग आत्मा में से अपूर्व अचिंत्य और आश्चर्य कारक निर्मल श्रुतका झरना वह निकला था। जिसने उस निर्मल झरनेको समझा होगा, सुना होगा और उसका रसास्वादन किया होगा उसे उसका आज तक ध्यान होगा।

प्रवचन को सुनते हुये यह भाव उत्पन्न होता था कि यह आश्चर्य कारक आत्म विभूतिको देखने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है अथवा किसी अचिंत्य श्रुतकी निर्मल श्रेणीको देखने का भाग्योदय हुआ है। सचमुच ही आत्मस्वरूप, वृद्धिरूप, वह धन्य प्रसंग सदा के लिये हृदय के ज्ञान पर अंकित रहेगा।

संवत् १९९८ की भाद्रपद शुक्ला पंचमीको सोनगढ़ में श्री सनातन जैन ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की गई थी। उसमें तीन वर्षका अभ्यास क्रम रखा गया था। कितनेक ब्रह्मचारी उसमें भर्ती हुये हैं उसमें भर्ती होने वाले ब्रह्मचारी तीन वर्ष तक प्रतिदिन धार्मिक पुस्तकोंकी शिक्षा पाते हैं। उस शिक्षण को प्राप्त करके एकांत में स्वाध्याय के द्वारा दृढ़ किया जाता है और वे महाराजश्री के प्रवचनों में तथा भक्ति इत्यादि में भाग लेते हैं। इस प्रकार सारा दिन धार्मिक प्रवृत्ति में जाता है।

पूज्य गुरुदेव ने राजकोट के श्रावकों के आग्रह से और प्रभावनोदय के कारण सं. १९९९ की फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन सोनगढ़ से वढवान होकर राजकोट के लिये विहार किया और राजकोट में चातुर्मास करके और कितने काल तक वहां रह कर २००० की वैशाख कृष्णा ११ को महाराज श्री ने सोनगढ़ में पुनः प्रवेश किया था। मार्ग में आनेवाले प्रत्येक ग्राम में तथा राजकोट में गुरुदेवने परमार्थ अमृत की वर्षा की थी और अनेक तृषित जीवों की प्यास वुझाई थी। हजारों भाग्यवान जीव जैन और जैनेतर इस अमृत वर्षा से परम संतुष्ट हुये थे अनेक जैनेतरों भी महाराज के आध्यात्मिक उपदेश से प्रभावित होकर दिंग होगये थे। जव उन्हें यह मालूम हुआ कि जैनदर्शन में मात्र वाह्य क्रिया का प्रतिपादन नहीं है किन्तु वह सूक्ष्म तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण है तव उन्हें और अधिक वहुमान उत्पन्न होगया। प्रत्येक ग्राम के वालकों युवकों और वृद्धों में—जैन और जैनेतरों में महाराज श्री ने आत्म विचार का प्रवल आंदोलन कर दिया है और डंके की चोट यह घोषित किया है कि 'इस महा अमूल्य मनुष्य भव में जिस जीवने देह वाणी और मनसे पर ऐसे परम तत्त्व की प्रतीति नहीं की, उसकी रूचि भी नहीं की तो यह मनुष्य भव निष्फल है।

यह अमृत सिंचक योगीराज काठियावाड़ से वाहर नहीं गये। उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति दिखाई देती है कि यदि वे हिन्दुस्तान में विहार करें तो समस्त भारतवर्ष में धर्मकी प्रभावना करके हजारों तृषित जीवोंकी तृषाको वुझादेंगे।

ऐसी अद्भुत शक्ति के धारक पवित्रात्मा श्री कानजी स्वामी काठियावाड़की महा प्रतिभाशाली विभूति हैं। उनके परिचय में आनेवाले व्यक्ति पर उनके प्रतिभा युक्त व्यक्तित्व का प्रभाव पड़े विना नहीं रहता। वे अनेक सद्गुणों से अलंकृत हैं। उनकी कुशाग्र बुद्धि प्रत्येक वस्तु के अंतस्तल तक उतर जाती है। उनकी स्मरण शक्ति अनेक वर्षोंकी वातों को तिथि और वार सहित याद रख सकती है। उनका हृदय वज्र से भी कठिन और कुसुम से भी कोमल है। वे अवगुणों के प्रति अनम (नहीं नमनेवाले) होकर भी सामान्य गुण दिखाई देने पर नम जाते हैं। वाल ब्रह्मचारी कानजी स्वामी अध्यात्मरत आत्मानुभवी पुरुष हैं। उनकी नश नश में अध्यात्म रस व्याप्त हैं। उनके प्रत्येक शब्द में आत्मानुभव स्पष्ट दिखाई देता है उनके प्रत्येक श्वास में वीतराग-वीतरागकी ध्वनि निकला करती है। कानजी स्वामी काठियावा. के अद्वितीय रत्न हैं। काठियावाड कानजी स्वामी से गौरवान्वित है।

श्री गुरुदेवकी रात्रिचर्चा का एक अंश

卐 卐 卐 卐

प्रश्न—रागद्वेष आत्मा के नहीं तो किसके हैं?

उत्तर—आत्मा के स्वरूप के नहीं है, वे आत्मा में होते हैं, कहीं जड़ में नहीं होते; किन्तु वे जड़ के संयोग से होते हैं इसलिये वे जड़ के कहे जाते हैं।

ज्ञानमें (ज्ञान करने में) स्वयं विकारभाव करते हैं-किन्तु जड़में विकार (रागद्वेष) नहीं होते।

प्रश्न—ज्ञानका स्वरूप क्या है?

उत्तर—जानना। (जानने में रागद्वेष ज्ञानका स्वरूप नहीं है) 'मैं इसे जानता हूं' यों कहा जाता है किन्तु वास्तव में परको नहीं लेकिन अपने ज्ञानकी पर्यायको जानता है।

जब चेतन (स्व लक्ष्यको भूल कर) जड़ पक्षमें लक्ष्य करता है तब रागद्वेष होता है अर्थात् वह रागद्वेष जड़ पक्षमें जाता है। चेतन जड़की ओर लक्ष्य करता है कि 'मुझे इससे लाभ या हानी होगी' तब रागद्वेष होता है।

प्रश्न—चेतन तो असंग स्वभावी है, वह पर संग (परलक्ष्य) क्यों करता है?

उत्तर—शक्ति से असंग है किन्तु वर्तमान (पर्याय) में संगकी योग्यता है।

आत्मा जगतकी एक स्वतंत्र वस्तु है, उसका ज्ञान गुण अनादि अनंत है। उसकी अनादिकाल से विकारी अवस्था है। जब यथार्थ प्रतीति होती है तब विकार अवस्था दूर होती है।

★

पूज्य गुरुदेव के प्रवचन में से प्राप्त

१—प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है, यदि द्रव्यको मात्र ध्रुव माना जावे तो अशुद्ध अवस्था का नाश और शुद्ध अवस्थाकी उत्पत्ति कैसे बनेगी? और यदि उत्पाद व्यय माने किन्तु ध्रुवको न मानें तो पर्याय के बदलने पर वस्तु त्रिकाल नहीं रह सकेगी, इस प्रकार वस्तु में उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों ही है।

२—निमित्त से राग नहीं होता, जहां राग करता है वहां निमित्त मौजूद होता है!

३—जितना कार्य करता है उतना उसका फल होता ही है अर्थात् जितना पुरुषार्थ करता है उतना फल होता ही है। कोई भी कर्म उसे रोक सकनेको समर्थ नहीं है।

४—"जाननेवाला मैं नहीं हूं किन्तु जो ज्ञान होता है वह मैं हूं" इस प्रकारकी विपरीत मान्यता अनादिकाल से है, इसलिये शरीरकी अवस्थाको अपनी अवस्था मानता है। वह मान्यता अज्ञान ही है।

५—पर के संयोग के विना मात्र आत्मामें जो होता है वह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव टल नहीं सकता, पुण्य पाप टल सकता है इसलिये वह आत्माका स्वभाव नहीं है।

यदि निमित्त पर लक्ष न हो तो मात्र आत्मा में विकार नहीं हो सकता, इसलिये यह नहीं मानना चाहिये कि निमित्त शुभाशुभ विकार कराता है। शुभ अशुभ भावका कर्ता तो (विकारी) आत्मा स्वयं ही है जो परवस्तु के लक्ष्य से विकार करता है वह परवस्तु विकारका निमित्त कहलाती है।

★

सद्गुरु का संसर्ग दुर्लभ है

सद्गुरुके संसर्गकी आवश्यकता

सद्गुरु यथार्थ ज्ञानरूपी नेत्र के धारक हैं वे संपूर्ण प्राणियों पर दया करते हैं, वे लाभ या सत्कार पुरस्कार की आकांक्षा नहीं रखते। जीव चतुर्गतियों में हजारों यातनाएं भोगता है, यह देखकर उनके हृदय में दया का प्रवाह बह निकलता है। वे विचार करते हैं कि:—"अहो, यह अज्ञानी जीव मिथ्यादर्शनादि अशुभ परिणामों से गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मोंका बंध कर रहे हैं, वे कर्मों से मुक्त होने का उपाय नहीं जानते इसलिये यह दीन प्राणी दुःखरूपी समुद्र में प्रवेश करके दुःख भोग रहे हैं।" ऐसे सद्गुरु का संसर्ग होना दुर्लभ है।

ज्ञानकी प्राप्ति के बिना सच्ची देव पूजा इत्यादि नहीं हो सकती। यदि जीव सद्गुरु की सेवा नहीं करता तो उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान के बिना आत्मा का हित करने वाली देव पूजा, स्वाध्याय इत्यादि कार्यों का स्वरूप नहीं जाना जा सकता और इसीलिये मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती।

सत्पुरुष का उपदेश सुनना चाहिये

दैवयोगसे सत्पुरुष का सहवास भी प्राप्त हुआ किन्तु उनसे हित का उपदेश नहीं सुना, तो उनके सहवास का लाभ जीव को नहीं मिलता। यदि हम खेत में बीज नहीं बोते और अच्छी जलवृष्टि होती है तो उस वृष्टि से क्या लाभ, इसी प्रकार यदि सत्पुरुष का उपदेश नहीं सुना तो उनका सहवास व्यर्थ ही समझना चाहिये।

श्रोताओंको अरुचि छोड़ना चाहिये

सत्पुरुषों के उपदेशको सुनने के लिये जाकर कोई तो वहां पर सोते हैं अथवा अपने पास बैठे हुये लोगों से बातें करते हैं या उनकी बातें सुनते हैं। सत्पुरुष के उपदेशकी ओर उनका लक्ष्य नहीं जाता, अथवा उसके प्रति अरुचि हो जाती है।

वस्तु स्वरूपकी सूक्ष्मता

सत्पुरुष के वचनोंको सुनकर भी उनके अभिप्रायको ध्यानमें रखना दुर्लभ है; क्योंकि जीवादि वस्तुओंका स्वरूप सूक्ष्म है और पूर्व कालमें कभी सुना नहीं है, इसलिये उनके अभिप्रायको ठीक ठीक समझना मुश्किल है।

श्रद्धाको प्रगट करना दुर्लभ है

यदि कभी बुद्धि का विकास होने से जीवादि का स्वरूप जानले—धर्म के स्वरूप को समझले तो भी जीवादि के स्वरूप में तथा धर्म के स्वरूप में श्रद्धा को उत्पन्न करना दुर्लभ है।

धर्म के स्वरूप को समझने के लिये महापुरुषार्थ की आवश्यकता

मनुष्य सत् धर्म का स्वरूप महापुरुषार्थ से समझ सकता है। ज्ञान होने के बाद धर्म में प्रवृत्ति करने के लिये उससे भी अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जिनने जीवादि तत्त्व के स्वरूप को समझ लिया है उन मनुष्यों को धर्म स्वरूप का जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये। धर्म का आचरण करते हुये प्रमाद को छोड़ देना चाहिये। एक क्षणभर के लिये भी प्रमाद का आश्रय नहीं लेना चाहिये।

तत्वज्ञ और मूढ़ के कार्य क्षेत्र

तत्त्वज्ञ मनुष्य मोक्ष की जड़—सद्धर्म में अपने हृदय को स्थिर करते है।

मूढ़ मनुष्य अहितकारी में ही प्रयत्न करते हैं और परम हितकर धर्म में सदा आलसी बने रहते हैं, उनके लिये यह योग्य ही है क्योंकि यदि ऐसे मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करें तो उनका संसारमें परिभ्रमण क्यों कर हो।

सच्ची सल्लेखना

जिनहें अपने रत्नत्रय में लगे हुये दोषों के दूर करने की भावना हैं वे सद्गुरुओंका आश्रय लेते हैं यदि रत्नत्रयको निर्मल करनेकी भावना ही नहीं है तो यह साधु लिंग व्यर्थ में किस लिये धारण किया है?

चार प्रकार के आहारका त्याग कर देने मात्र से सल्लेखना नहीं होती किन्तु कषायों का त्याग करने से सल्लेखना होती है और जब वह सल्लेखना होती है तभी संवर—निर्जरा होती है। कषायों से नये कर्मोंका ग्रहण होता है, बंध होता है, स्थिति होती है। ★

आत्मधर्म के अंक १ से १२ की विषय सूचि

(शेष पृष्ट १४२ से आगे)

भाषा इत्यादि ठीक नहीं बनपाई। मैं स्वयं देहली जाकर पं. जी की परिस्थिति को देख आया था और तब मैंने जाना कि वे आत्मधर्म के लिये अपनी शक्ति से भी अधिक परिश्रम कर रहे हैं। यही कारण है कि आत्मधर्म का प्रकाशन अत्यंत अनियमित हो जाने पर भी मैं उन्हें कुछ नहीं लिख सकता था। पं. जी के मनमें भी इस अनियमिततता के कारण निरंतर आकुलता बनी रहती थी और इसलिये उनने मुझे अनेकबार आग्रह पूर्वक लिखा कि आप आत्मधर्म के लिये किसी अन्य अनुवादक की व्यवस्था करलें तो बड़ी कृपा होगी किन्तु मैं पं. जी को इस उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर सकता था। क्योंकि उनकी तरह सुंदर, सुयोग्य और सिद्धांतानुकूल अनुवाद करने वाला न तो मेरी दृष्टि में तब था और न आज भी कोई है।

आत्मधर्म की अनियमितता के कारण जहां ग्राहकों की वारम्वार शिकायतें आती रहीं वहां आत्मधर्म के लेखों के प्रति वे अपना आदर और शुभेच्छा भी व्यक्त करते रहे। जैसे तैंसे ६ अंक प्रगट हुये और मेरा विश्वास टूट गया। अंत में मैं शेष ६ अंकों का अनुवाद तैयार करवाकर अपने ही साथ लाने के विचारसे पं. परमेष्टीदासजी के पास दिल्ही जा पहुंचा और उनके पास एक मास रहकर तीन अंको का मेटर तयार करवा लिया। तथा 'मुक्तिका मार्ग' भी आधा तयार करवा लिया। तत्पश्चात् नियमित कार्य होते रहने की व्यवस्था करके और वैसा विश्वास लेकर मैं सोनगढ़ चला आया। किंतु दैवयोग की बात है कि, पंडित जी को 'टाइडफोइड' बुखार ने धर दबाया और यह कार्य काफी समय के लिये बंद होगया। यही कारण है कि जो चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को संयुक्तांक (१०-११-१२ वां अंक) प्रगट करने की तथा 'मुक्ति का मार्ग' पुस्तक भेंट में देने की घोषणा की गई थी, उसका समयपर पालन न होसका।

स्वस्थ होने के बाद पं. जी ने नियमित कार्य करना प्रारंभ कर दिया है और इसलिये ग्राहकों के पास 'मुक्ति का मार्ग' और १३ वां अंक भेजा जा चुका है तथा यह संयुक्तांक भी उनकी सेवा में जा रहा है। मैं अब अपने पाठकों को विश्वास दिलाता हूं कि भविष्य में आत्मधर्म नियमित समय पर निकलता रहेगा। आशा है आप सब द्वितीय वर्ष में भी आत्मधर्म के ग्राहक बने रहेंगे। इतना ही नहीं किन्तु अन्य साधर्मी भाई बहिनों को भी आत्मधर्म का ग्राहक होने के लिये प्रेरित करेंगे तथा जिनमंदिरों, स्वाध्याय मंदिरों, पंचायतों, पाठशालाओं और अन्य संस्थाओं में आत्मधर्म पहुंचाने की व्यवस्था करेंगे।

अंतमें मैं उन सब भाइयोंका अंतःकरण पूर्वक आभार मानता हूं जिनने गतवर्ष में आत्मधर्म के प्रकाशन और प्रचार में सहयोग दिया। आशा है दूसरे वर्षमें इससे भी अधिक सहयोग प्राप्त होगा। — निवेदक

१-७-४६ जमु रवाणी

आत्मधर्म कार्यालय
मोटा आंकडिया-काठियावाड

ग्राहकों से निवेदन

आपका वार्षिक मूल्य १२ वें अंक के साथ पूरा हो रहा है, इसलिये दूसरे वर्षका (अंक १३ से २४ तक का) मूल्य तीन रुपया मनियार्डर द्वारा शीघ्र ही भेजने की कृपा करें।

आपके पास दूसरे वर्ष का प्रथम (१३ वां) अंक (वैशाख का) भेजा जा चुका है और दूसरा (१४ वां) अंक तैयार हो रहा है जो शीघ्र ही आपके पास पहुंचेगा।

यदि आषाढ़ शुक्ला १५ तक आपका मूल्य तीन रुपया मनियार्डर से नहीं आजायगा तो तीसरा (पंद्रहवां) आषाढ़ का अंक आपके पास सवा तीन रुपया की वी. पी. से भेजा जायगा।

उसके बाद चौथा (सोलहवां-श्रावण का) अंक श्रावण शुक्ला द्वितीया को प्रगट होगा।

सभी ग्राहक बंधु यदि मात्र एक नया ग्राहक बनादें तो आत्मधर्म का अच्छा प्रचार होगा और आत्मधर्म की आर्थिक कठिनाई भी कम होजायगी। आशा है कृपालु ग्राहक मेरे इस निवेदन पर ध्यान देंगे। — प्रकाशक

सूचना

वैशाख शुक्ला त्रीज से आत्मधर्म कार्यालय सोनगढ़ से मोटा आंकडिया आ गया है, इसलिये अब आत्मधर्म संबंधी समस्त पत्र व्यवहार आत्मधर्म कार्यालय मोटा आंकडिया (काठियावाड) के पते से करें। स्मरण रहे कि पोष्टल गाइड में यहां का नाम AKADIA MOTA छपा हुआ है।

— व्यवस्थापक